भागवत धर्म

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के उन्नीसवें अध्याय से अंतिम
इकत्तीसवें अध्याय तक का विवेचन

दूसरा खंड

विवेचक
हरिभाऊ उपाध्याय

१९७०
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक का पहला खड कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गया था। उसमे श्रीमद्भागवत के एकादशस्कध के अठारह अध्यायो का विवेचन आ गया था। पुस्तक का आकार बढ जाने के भय से शेष अध्यायो का विवेचन दूसरे खड के लिए छोड देना पडा था।

पाठको को पुस्तक इतनी पसद आई कि कुछ ही समय मे उसके दो सस्करण हो गए। उन्होने माग की कि उन्तीस से लेकर अतिम अर्थात इकतीसवे अध्याय तक का भाग भी उन्हे मिल जाना चाहिए। हमे खेद है कि इच्छा होते हुए भी हम जल्दी ही पाठको की माग की पूर्त्ति नही कर सके।

हमे हर्ष है कि अब यह दूसरा खड पाठको को सुलभ हो रहा है। इसमे एकादशस्कध की शेष सामग्री की व्याख्या तो दी ही गई है, साथ ही श्रीमद्भागवत तथा श्रीकृष्ण के सबध मे कुछ बहुत ही मूल्यवान सामग्री जोड दी गई है और इस प्रकार इस खड का महत्व और भी बढ गया है।

हमे आशा है कि पाठक पहले खड की भाति इसे भी मनोयोगपूर्वक पढेगे और इसके स्वाध्याय से अपने जीवन-निर्माण मे लाभ लेगे।

—मत्री

निवेदन

'भागवत-धर्म' अर्थात 'जीवन की कृतार्थता' का यह दूसरा खड पाठको के हाथो मे जा रहा है। पहले खड मे श्रीमद्भागवत के ११वे स्कध के १८ अध्यायो का विवेचन किया गया था। इसमे शेप १३ अध्यायो का है। जैसे श्रीमद्भगवद्-गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन के सवाद के रूप मे प्रकट हुई है, वैसे ही यह ग्यारहवा स्कध श्रीकृष्ण-उद्धव के सवाद के रूप मे गाया गया है। अर्जुन युद्ध से उपराम होता हुआ दिखाई देता था, जिसे उसका मोह कहा गया है, तो उद्धव ने भी यहा मोह का ही प्रदर्शन किया है।

जब मालूम हुआ कि भगवान श्रीकृष्ण के निजधाम जाने का अवसर आ गया है तो उद्धव, जो उनके जीवन-सखा थे, भावी वियोग से चिंतित और दुखी हो गए। उनके समाधान के लिए भगवान ने उन्हे तरह-तरह का ज्ञानोपदेश दिया है जिससे मानव-जीवन कृतार्थ होता है। इसलिए इसे लोग उद्धव-गीता भी कहते है।

मूल 'भागवत धर्म' का निरूपण करके इसमे तरह-तरह से, तत्काल तक विकसित ज्ञान-विज्ञान का परिचय दिया गया है, मानो प्राचीन भारतीय ज्ञान-सामग्री एक जगह एकत्र करके रख दी गई हो। इसलिए मुझे इसका विवेचन करना अच्छा लगा। इसके सहारे मुझे प्राचीन ज्ञान-सामग्री को नये रूप मे भी रखने का अवसर मिल गया।

मनुष्य के मन मे यह प्रश्न उठता ही है कि वह जीवन मे क्या करे? क्या करना उचित है कि जिससे वह अपने जीवन को कृतार्थ माने। इसीका उत्तर गीता और भागवत मे दिया गया है। मनुष्य भगवान को व्यष्टि, समष्टि मे पा जाय, उनमे मिल जाय, व्याप जाय यही उसका उत्तर है। एक केंद्र मे आये हुए भगवान को हमने

व्यक्ति या मनुष्य माना है और केन्द्र से विश्व भर मे, वल्कि उससे भी आगे फैले हुए ब्रह्माड मे ओतप्रोत तत्व को भगवान कहा है। केंद्रस्थ चेतना मनुष्य या जीव है—व्यापक चेतना ब्रह्म या भगवान है। एक ही चेतना सिकुडकर जीव, और फैल कर भगवान बन जाती है या कहलाती है। तव मनुष्य का जीवन-धर्म या लक्ष्य अपने-आप मालूम हो जाता है—सकुचित से व्यापक होना। इमकी प्रक्रिया का नाम धर्म है। सकुचित जैसे-जैमे अपने को व्यापक मे मिलाता जायगा—समर्पित होता जायगा, वैसे ही वैसे वह भगवान को पाता जायगा—भगवत रूप होता जायगा। इसी लक्ष्य का निरूपण भागवत मे किया गया है और इसका मार्ग भी वताया गया है। इसीका नाम भागवत-धर्म है—यही जीवन की कृतार्थता है। भक्त अपने को भगवान के अर्पण करके, भगवत्-भाव को प्राप्त हो जाय—यही भागवत-धर्म है।

इस धर्म को साधने के नाना उपाय हैं। उनका वर्णन इसमे तरह-तरह से किया गया है। कलियुग मे कष्ट-साध्य मार्ग की अपेक्षा सुलभ मार्ग ज्यादा रुचिकर होगा—हर दृष्टि से आत्म-समर्पण का सरलतम साधन भक्ति और नाम-सकीर्तन अर्थात अपने ध्येय का सतत स्मरण करना, इस पर ज्यादा जोर दिया है। इन्ही सबको मैंने सरल भाषा मे लिखने का प्रयत्न किया है।

दार्शनिको ने यह प्रश्न उठाया है कि मूल तत्व दो हैं या एक। पहले कई तत्वो की कल्पना की गई थी। वाद मे, एक मे दूसरे का समाहार करते-करते दो तक आकर वात ठहर गई, अर्थात नर और नारी, पुरुष और प्रकृति। पुरुष सत्तामात्र चैतन्य, प्रकृति कार्यकारिणी शक्ति, यह साख्य-शास्त्र का निर्णय है। वाद मे वेदान्त ने यह फैसला किया कि मूल मे एक ही तत्व है, ब्रह्म, जो कि चेतन है—वही किसी निमित्त से सिकुड कर या जम कर जड विश्व रूप वन गया है। मुझे स्वय यह वेदान्त का निर्णय ठीक लगता है। भागवत मे भी एक ही भगवान को मूल तत्व मानकर जीव को उसके अर्पित होने का उपदेश दिया है। 'दो' मानने से वहुत-सी गुत्थियाँ हल नही होती, जव कि 'एक' मानने से वहुत समाधान हो जाता है। एकता, समता, समर्पण, आदि सिद्धातो का मेल 'एक' तत्व को मानने से ही वैठ सकता है। इसका विवेचन इसमे स्थान-स्थान पर किया गया है।

निजधाम को जाने मे पहले, उसी अवसर पर, भगवान ने उनसे समग्र, प्राप्त और सचित सारा ज्ञान-विज्ञान साररूप मे उद्धव को सुना दिया या उसको इस प्रसग को, निमित्त बनाकर भागवत के लेखक व्यास मुनि ने या उनके बाद के सपादको ने, ससार के सामने उपस्थित कर दिया है। अब भगवान कृष्ण शान्ति के साथ निजधाम को चले जाते है। अपने जीवन की कृतार्थता को अनुभव करते हुए यह शरीर छोडकर निज रूप मे विलीन हो जाते हैं। इस तरह जहाँ हमे महान अवतारी विभूति के वियोग का सामना करना पडता है, तहा उन्हीके देन के रूप मे उनका अपूर्व ज्ञान-विज्ञान हमे विरासत के तौर पर मिलता है, जो न केवल हमे उस वियोग को सहन करने का ही साधन देता है, बल्कि मानव-जीवन की कृतार्थता--सार्थकता का भी अचूक मार्ग बताता है।

जिसे हम 'समाजवाद' या 'सर्वोदय' कहते है, वह एक समाज-व्यवस्था का ही नाम है। पहले समाज-व्यवस्था का रूप 'वर्णाश्रम'-धर्म के द्वारा स्थिर किया गया था। ये सब कल्पनाए मनुष्य-समाज तक ही सीमित है। 'सर्वोदय' मे अलबत्ता 'सर्व' शब्द के द्वारा व्यापक जीव-मात्र या अचेतन सारी सृष्टि का समावेश हो जाता है।

भगवद्-भाव इन सब कल्पनाओ मे आगे जाता है। जब गीता, भागवत, उपनिषद, वेद मे ब्रह्म-भाव, ब्रह्म-तत्व की प्राप्ति को मानव-जीवन का ध्येय बताया है, तो यह मानना ही होगा कि हमारे समाजवाद, साम्यवाद, आदि शब्द उनके सामने छोटे और फीके ही पडते है। वे ब्रह्म-भाव के मुकाबले मे सकु-चित ठहरते है—अलबत्ते मनुष्य-जाति या मानव-समाज के अधिक नजदीक है। वर्तमान मनुष्य-समाज से शुरू करे तो समाजवाद सबसे नजदीक, सर्वोदय उससे दूर, भगवद्-भाव बहुत ही दूर, अन्तिम छोर, हो जाता है। अत उचित है कि पहले समाजवादी अवस्था को प्राप्त करे, फिर सर्वोदयी और फिर ब्रह्मभावी। याद रखिये कि हमे केवल व्यक्ति या एक मनुष्य के जीवन की समस्या हल नही करनी है (वह ऐकान्तिक रूप से, या मानव-समाज को, अलहदा छोडकर हल हो भी नही सकती)। मानव-समाज का सामूहिक प्रश्न भी हमारे सामने है। इसमे भी कोई सदेह नही कि जो अतिम लक्ष्य एक व्यक्ति या मनुष्य का समझा जायगा, लगभग वही मनुष्य-समाज का माना जायगा। उसकी

प्रकृति मे ज्यादा अन्तर न होगा, उसकी विधि, व्यवस्था और कार्यक्रम मे फर्क रह सकता है।

यदि ऊपर कहा गया सव कुछ ठीक है तो फिर भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियो, आचार्यो और नेताओ की कल्पनाओ और व्यवस्थाओ को एकागी, सकुचित नही कह सकते। उस समय मनुष्य-समाज छोटा था, जन-सख्या अधिक नही थी, आज की जटिल समस्याए—वेकारी, वीमारी, सामूहिक जीवन—उस समय इतनी प्रभावशाली नही थी, इसलिए उनकी व्यवस्था और कार्यक्रम उसीके अनुरूप थी। आज समाज और दुनिया वदल गई है और वडे वेग से वदलती जा रही है। विज्ञान और यत्र-विद्या ने नई-नई शक्तियो और साधनो का आविष्कार कर लिया है। देश-विदेशो का परस्पर आवागमन, आदान-प्रदान, वहुत सुलभ हो गया है। मानव-वर्ग एक दूसरे देश और समाज के अधिक नजदीक आ गया है। भौगोलिक दूरी नही के वरावर रह गई है। इस परिवर्तित और वेग से परिवर्तनशील अवस्था को ध्यान मे रक्खे विना न आज का समाज चल सकता है, न उसकी व्यवस्था, योजना या कार्यक्रम ही सही सही वन सकता है। इस सत्य को स्वीकार करते हुए भी, यह मानना ही पडता है कि ब्रह्म-भाव, भगवद्-भाव, या ब्रह्म-तत्व आत्म-तत्व की सिद्धि तथा प्राप्ति मनुष्य का, व्यक्ति तथा समष्टि दोनो दृष्टियो से, परम और अन्तिम कर्तव्य सिद्ध होता है। व्यष्टि का समष्टि मे लीन होना, व्यक्ति का समाज मे अपने को समर्पित करना, ब्रह्म-भाव का एक अग ही है, उससे भिन्न या पृथक तो हर्गिज नही है।

मुझे आशा है कि पहले खड की तरह यह दूसरा खड भी पाठको को पसद आवेगा। पहला खड जेल-जीवन (१९४२ से १९४४) मे लिखा गया था, और सन् १९५१ मे प्रकाशित किया गया था, यह दूसरा खड अधिकाश मे वाहर, अनेक कार्यो मे व्यस्त रहते हुए, तैयार हुआ है। १९४२ से अव तक लेखक के ज्ञान और अनुभव मे भी कुछ वृद्धि हुई है। उसका भी असर इस खड के तैयार करने मे हुआ है। मुझे इस वात का सतोष है कि मानव जीवन के सवध मे मुझे जो कुछ अच्छा और उचित लगता है, वह इसके द्वारा पाठको के सामने रख पाया हू—अलवत्ते विखरे हुए रूप मे। पर मै समझता हू, इसीलिए, यह पाठको को समझने मे सरल लगेगा और पचाने मे भारी नही पडेगा। इसमे कई जगह एक ही विषय की वार-वार और तरह-तरह से चर्चा हुई है। इसमे यह पुनरुक्ति दोष मिलेगा।

परन्तु पाठक को उससे लाभ ही होगा। बार-बार उस विषय का वर्णन होने से उसके मन मे वह अच्छी तरह पैठ जायगा।

इस दूसरे भाग मे श्रीमद्भागवत तथा श्रीकृष्ण के सबध मे अन्य बहुत ही आवश्यक जानकारी दी गई है, जो ऐतिहासिक, और सास्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह सामग्री प्रथम खड मे दी जानी चाहिए थी, परन्तु उस समय, उस खड को प्रकाशित करने की जल्दी थी, अत अब उसकी पूर्ति इस खड मे की जा रही है। आशा है, पाठको को यह रुचिकर लगेगी।

—हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

दूसरा खंड

भागवत-दर्शन

श्रीकृष्ण . जीवन-दर्शन

परिशिष्ट

सहायक सामग्री

१ एकनाथी भागवत (मराठी) (सत एकनाथ)
२ दासबोध (मराठी) (समर्थ रामदास)
३ मार्कण्डेय पुराण (वासुदेवशरण अग्रवाल)
४ भारत सावित्री—तीन भाग (वासुदेव शरण अग्रवाल)
५ 'भागवत-कथा' की भूमिका (वियोगी हरि)
६ भागवत-कथा (सूरजमल मोहता)
७ भारतीय सस्कृति और वैदिक विज्ञान (प० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी)
८ वैदिक भक्ति का स्वरूप (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)
९ वैदिक धर्म (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)
१० वैदिक भगवन्नाम और उसका जप (श्री सपूर्णानद)
११ वैदिक वाड्मयातील भागवत धर्माचा विकास (मराठी) (श्री श० दा० पडशे)
१२ भारत की सस्कृति और कला (श्री राधाकमल मुकर्जी)
१३ वैदिक देवताचे अभिनव दर्शन (मराठी) (डा० दाडेकर)
१४ कृष्णायन (श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र)
१५ भारतीय दर्शन (डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्)
१६ महाभारत कथा (च० राजगोपालाचार्य)
१७ दी कन्सैप्ट आफ गाड (अग्रेजी) (गो० ना० चापेकर)
१८ भारतीय दर्शन-सार (डा० बलदेव उपाध्याय)
१९ श्रीकृष्ण-चरित्र (मराठी) (चितामणि विनायक वैद्य)
२० महाभारत मीमासा (चितामणि विनायक वैद्य)
२१ डायनेस्टीज आफ कलि एज (अग्रेजी) (मि० पर्गीटर)

२२ कर्मयोग (अश्विनीकुमार दत्त)
२३ रामकृष्ण चरितामृत
२४ चैतन्य चरितावलि (श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)
२५ भागवती कथा (श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)
२६ राम अने कृष्ण (गुजराती) (श्री किशोरलाल घ० मश्रुवाला)
२७ जीवन शोधन (गुजराती) (श्री किशोरलाल घ० मश्रुवाला)
२८ जीवन साहित्य (काका सा० कालेलकर)
२९ भागवतादर्श (श्री कोल्हटकर)
३० विचार दर्शन (श्री केदारनाथ)
३१ सस्कृति के चार अध्याय (श्री रामधारी सिंह 'दिनकर')
३२ राजयोग (स्वामी विवेकानद)
३३ स्वामी विवेकानद ए फरगाटन चैप्टर आफ हिज़ लाइफ (वेणी शकर शर्मा)
३४ गीता क्रिया-योग (श्यामाचरण लाहिडी)
३५ दशावतार (गुजराती) (पाडुरग वैजनाथ आठवले शास्त्री)
३६ लेक्चर्स ऑन रिगवेद (डा० हरि रामचद्र दिवेकर)
३७ पुराणो मे ऐतिहासिक वशावलि
३८ श्री मधुसूदन ओझा तथा प० मोतीलाल शर्मा के विविध ग्रथ
३९ कल्याण के विशेषाक
४० डा० गोपीनाथ कविराज के कुछ लेख
४१ जैन-सप्रदाय, राधास्वामी सत्सग तथा अन्य सप्रदायो के कुछ ग्रथ
४२ परमहस रामकृष्ण देव का चरित्र

भागवत-धर्म
दूसरा खण्ड

भागवत धर्म

दूसरा खण्ड

: १९ :

भक्ति के साधन

[इस अध्याय मे ज्ञान-विज्ञान की महत्ता बताते हुए सर्वसाधारण के लिए सुलभ भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। सब प्रकार से भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण को भक्ति बताया है। इसके साधन यम-नियम आदि का विस्तृत वर्णन करके जीवन-सिद्धि का एक पूरा कार्यक्रम बताया है।]

श्रीभगवान बोले—"उद्धवजी, जिसने उपनिषदादि शास्त्रो के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एव ब्रह्म-निष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियो और अनुमानो पर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दो में जो केवल अपरोक्ष ज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच और इसकी निवृत्ति का साधन वृत्तिज्ञान है, उन्हे मुझमे लीन कर दे, वे दोनो ही मुझ आत्मा में अध्यस्त हैं, ऐसा जान ले।" ॥१॥

वर्णाश्रम-धर्म के सिलसिले मे मैंने सन्यास-धर्म का वर्णन किया है। सन्यास-आश्रम, ज्ञानियो का आश्रम है। वानप्रस्थाश्रम मे जो साधना की जाती है, वह सन्यास मे फलीभूत होकर साधक, ज्ञानी या सिद्ध पदवी को पा जाता है। ज्ञानी दो तरह के होते है—एक आनुमानिक यानी केवल प्रत्यक्ष पर विश्वास रखनेवाले या प्रत्यक्ष को ही देख सकनेवाले। ये साधारण कोटि के ज्ञानी है। दूसरे वे जो विद्या व शास्त्र से सम्पन्न होने के साथ ही अप्रत्यक्ष, अदृश्य या अव्यक्त को भी देख लेते हैं। ऐसे ज्ञानी आत्मज्ञानी या आत्मानुभवी कहलाते हैं। उनका यह दृढ विश्वास हो जाता है कि यह सारा द्वैत प्रपच और इसकी निवृत्ति के साधन-रूप जो वृत्तिज्ञान है वह सब माया-मात्र है। ऊधो, मन की वृत्तियो से ही

इस प्रपच मे सत्य का भ्रम होता है। वृत्तिया आरम्भ मे लहर की तरह एक प्रेरणा है व अन्त मे निश्चय के रूप मे परिणत हो जाती है। आरम्भ मे जो मन का सकल्प है वही बुद्धि के घोल मे पड कर निर्णय या निश्चय के रूप मे प्रकट होता है। जो सकल्प या कल्पना किसी निश्चय का रूप धारण कर लेती है, वह वृत्ति कहलाती है। योग-शास्त्र मे इसी अर्थ मे 'वृत्ति' शब्द को ग्रहण करना चाहिए।[१]

---

१. वृत्ति—इस प्रसग मे नीचे लिखा विवरण भी पढ़ने योग्य है। योग का अर्थ है—चित्तवृत्ति का निरोध। चित्त की वृत्ति को उसका व्यापार करने से रोकना योग कहलाता है।

पतजलि ने 'योग' और 'समाधि' शब्दों का खास अर्थ मे ही प्रयोग किया है। समाधि को योग के आठ अगो मे से एक बताया है।

चित्त—सामान्य बोल-चाल मे हम 'चित्त' से भावना, चिन्तन, प्रेरणा आदि का समावेश करते हैं। वेदान्त के पचीकरण मे अन्त करण की चिन्तनकारिणी शक्ति को 'चित्त' कहा गया है, और अन्त.करण मे मन, बुद्धि, चित्त और अहकार (तथा कुछ लोगो के मत मे स्मृति भी) ऐसे चार (या पाच) भेद किये गए हैं। पातजल-योग मे चित्त और बुद्धि मे कोई भेद नहीं समझा जाता और उसका अर्थ होता है अन्त करण की निश्चयकारिणी शक्ति। और यह अर्थ सांख्य दर्शन के अनुसार है।

वृत्ति—यह शब्द कुछ अनिश्चितता के साथ इच्छा, भावना, आशय, आवेग, स्वभाव, बुद्धि की स्थिति आदि अर्थों में बरता जाता है। यो वृत्तिया असख्य हैं, परन्तु पतजलि ने सिर्फ पाच ही वृत्तिया गिनाई हैं।

वृत्ति के भेद—चित्त अथवा बुद्धि, यदि उसका व्यापार अधूरा न रहा हो तो, पाच प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उपजाती है—

१ प्रमाणभूत अथवा वास्तविक निश्चय।

२ विपर्ययी अथवा भ्रमयुक्त, फिर भी उस समय मे पक्का लगनेवाला निश्चय।

३ विकल्पात्मक—परन्तु वहा भी उस समय तो पक्का—निश्चय।

४ निद्रा भी ऐसा निश्चय, अथवा

५ केवल स्मरण का निश्चय।

यह दृश्य-प्रपञ्च अर्थात् ससार का रूप मायामय है।[1] यह तो जल्दी समझ मे आ जाता है, परन्तु वृत्ति व वृत्तिज्ञान भी माया-मय है, यह जरा गहरी वात है। लेकिन थोडा ही गहरा उतरने से यह भी समझ मे आ सकता है। वृत्तियो का सवध मन व बुद्धि से है, यह ऊपर बताया ही है। ये दोनो-प्रकृति के ही विकार हैं, अत माया-जन्य है। ज्ञान बुद्धि का धर्म है, बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य को ज्ञान होता है। अत दोनो ही प्राकृत मायामय हैं। जव सकल्प-विकल्पात्मक या निश्चयात्मक किसी भी प्रकार की वृत्ति का उठना बन्द हो जाय, उठे ही तो जैसे हवा का हलका झोका बदन को छूकर चला जाय, उसी तरह उठ कर उसी समय विलीन हो जाय तो इस प्रपच का भी भास सहसा नही हो सकता। अर्थात इसमे जो द्वैत-भावना है वह आत्मज्ञान की अद्वैत-सिद्धि से नष्ट हो जाती है। सब कुछ एक ही आत्मरूप दीखने लगता है।[2] ज्ञानी पुरुष

इस प्रकार वृत्तियां पांच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनके दो बड़े भेद है—क्लिष्ट और अक्लिष्ट अर्थात अशुद्ध और शुद्ध।

१. 'माया' के लिए 'भागवत धर्म' (प्रथम भाग का) परिशिष्ट १७ भी देख लीजिए। 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित। मू० ७.००।

२. यह अवस्था समाधि से मिलती-जुलती है। 'समाधि' के संवध में नीचे लिखा नोट अवश्य पढ़ने योग्य है:—

"समाधि का विचार करने से 'समापत्ति' का विचार करना होगा, क्योकि दोनो का निकट संबंध तो निर्वितर्क तथा निर्विचार समापत्ति मिलकर समाधि (सबीज) होती है। 'सबीज' के आगे की स्थिति है 'निर्बीज' समाधि। 'सविकल्प और निर्विकल्प समाधि' ये शब्द पतंजलि के नहीं है। उन्होंने 'सबीज' और 'निर्बीज' शब्दो का प्रयोग किया है।

"शुद्ध काच के नीचे कोई रंग रख दिया जाय तो ऐसा भास होता है मानो खुद काच ही रंगीन है। कांच की शुद्ध पारदर्शकता के कारण एक तरह से काच का स्वतत्र दर्शन ही चला जाता है, और दूसरी ओर नीचे रखे रग का भी स्वतंत्र दर्शन चला जाता है। दोनो भिन्न-भिन्न वस्तुएं होने पर भी एक ही रूप में ग्रहण होती हैं। इसी तरह चित्त एक संस्कार ग्राहक शुद्ध साधन है। जब इसको

इस प्रपच व वृत्ति-ज्ञान सब को मुझी मे लीन कर देता है, मुझी मे समाया हुआ मानता व देखता है।

निश्चयकारिणी वृत्ति क्षीण होती है तब चित्त (प्रत्यय[1] ग्राहक) प्रत्यय ग्रहण की क्रिया (ज्ञानेन्द्रियो या सचार के द्वारा) और प्रत्यय तीनो एक रूप मालूम पड़ते हैं। इस तरह तीनो के तादात्म्य को समापत्ति (साथ मे पड़ना) कहते हैं।

"ऐसी समापत्ति जव विषय के नाम तथा विषय (पदार्थ) के ज्ञान और विकल्प से युक्त होती है तब उसे 'सवितर्क समापत्ति कहते हैं।

"जब विषय का नाम तथा पदार्थ-ज्ञान और विकल्प का भान न हो, परन्तु स्मृति के अत्यन्त शुद्ध होने से मानो स्वरूप भी शून्य हो गया हो, इस तरह चित्त केवल पदार्थमय ही बन गया हो, तब उसे 'निर्वितर्क समापत्ति' कहते है।

"निर्वितर्क समापत्ति एक समाधि ही है। उसमे प्रत्यय के साथ केवल चित्त की तदाकारता ही है। पदार्थ के नाम या विकल्प का भान नहीं है। चित्त केवल पदार्थ को व्याप्त करके स्थिर हो रहा है। इसमे यह भान नहीं कि मै द्रष्टा हूं। दर्शन की क्रिया का भी भान नहीं है। दृश्य क्या है, इस विषय मे कुछ निर्णय करने का भी यत्न नहीं है। इस तरह यह क्षीण वृत्ति है। चित्त केवल पदार्थमय बन रहा है। इस स्थिति से जबतक 'व्युत्थान'[2] न हो, तबतक ऐसा लग सकता है कि मैं स्वत. ही दृश्यरूप हू। यह स्थिति यदि अभ्यासपूर्वक और स्मृतिपूर्वक होती है तो उसे समाधि कहते हैं। अस्मिता के निरोध से जब सब वृत्तियो का निरोध हो जाता है तब वह 'निर्बीज समाधि' कहलाती है।"

---

१ प्रत्यय—प्रत्येक समय विषय के साथ चित्त का जो सम्पर्क होता है उसीका नाम प्रत्यय है। व्याकरण में जैसे विभक्ति के प्रत्यय सज्ञा के साथ जाते हैं, उसी तरह वृत्ति के साथ ही जानेवाले ये विषय के प्रत्यय होते हैं।

२. वैसे समाधि-भग को व्युत्थान कहते हैं। समाधि-भग यदि ध्येय प्र के साथ का सबध टूटे बिना सिर्फ स्वरूप-शून्य जैसी स्थिति मे हो, दूस शब्दो मे सम्प्रज्ञान का तो प्रादुर्भाव हो, किन्तु एकाग्रता या समापत्ति का नाश न हो तब यह परिणाम 'व्युत्थान' शब्द के द्वारा दर्शित किया जाता है।

"ज्ञानी पुरुष का अभीष्ट पदार्थ मैं ही हूं, उसके साधन-साध्य, स्वर्ग-अपवर्ग भी मै ही हूं, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ से वह प्रेम नहीं करता ॥२॥

मैं अव्यय आनद रूप हू। इसलिए ज्ञानी का अभीष्ट तो एकमात्र मैं ही हू। अज्ञानी भी आनद चाहता है; परन्तु वह भोग-पदार्थों मे आनद खोजता है—जबकि ज्ञानी को मेरे अतिरिक्त कोई वस्तु प्रिय नही है। भोग-विलास मे जो आनद है, वह क्षणस्थायी और अन्त मे दु खदायी होता है, परन्तु मुझसे प्राप्त आनद अव्यय होता है। अत ज्ञानी का जो कुछ भी अभीष्ट पदार्थ ससार मे हो, जो कुछ भी स्वार्थ हो, इनके जितने भी साधन हो, स्वर्ग या अपवर्ग, सबकुछ मैं ही हू, ऐसी उसकी निश्चित धारणा होती है। इसीलिए दूसरी सब वस्तुए उसे माया-मय, मायाजात, सुख-स्वरूप जान पडती है। इसलिए उनमे उसका चित्त नही लगता। सारे प्रपच का मायामय दीखने लगना व मेरा ज्ञान होना एक ही बात है। इसी तरह आदि, अव्यय, अनन्त आनद-रूप मुझको अपना अभीष्ट समझना व ससार का माया-मय दीखना भी एक ही बात है। ये एक ही लकडी के दो सिरो के समान है।

"जो ज्ञान और विज्ञान से परिपूर्णसिद्ध पुरुष है वे ही मेरे वास्तविक स्वरूप को जानते हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय हैं। उद्धवज, ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के द्वारा निरंतर अपने अन्तःकरण मे मुझे धारण करता है।" ॥३॥

इस तरह जो ज्ञान व विज्ञान से परिपूर्ण होकर सिद्ध हो जाते हैं, वे परम श्रेष्ठ पद को जानते है। गुरुमुख से शास्त्र शुद्ध जो श्रवण किया जाता है, वह ज्ञान और उसका जो प्रत्यक्ष अनुभव है, उसे विज्ञान कहते है। जैसे हमने खुद रसोई बनाई, परन्तु जबतक हमने उसे चख नही लिया तबतक उसे ज्ञान कहते है, चख लेने पर वह 'विज्ञान' हो जाता है। इस तरह ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने पर मेरी प्राप्ति सुलभ है। इसलिए जब मै यह कहता हू कि भक्तो मे ज्ञानी भक्त मुझको सबसे प्यारा है तो मेरा अभिप्राय ऐसा होता है। अपने ज्ञान-बल से वह सदा-सर्वदा मुझे अपने हृदय मे धारण किये रहता है, अर्थात मैं उसका हो रहता हू। वह जिसकी चाह करता है मैं तुरत दे देता हू। उसकी कठिनाइया मैं स्वय दूर करता हू। सासारिक सुख-दु खो की आधी से बचाने के लिए उसके आस-पास मैं बाड की तरह फैल जाता हू।

"तत्वज्ञान के लेशमात्र का उदय होने से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्त'करण-शुद्धि के और किसी भी साधन से पूर्णतया नहीं हो सकती" ॥४॥

"इसलिए मेरे प्यारे ऊधो, तुम ज्ञान के सहित अपने आत्म-स्वरूप को जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर भक्तिभाव से मेरा भजन करो" ॥५॥

ऊधो, तत्वज्ञान के एक अश-मात्र से जो सिद्धि होती है वह तप, तीर्थ, जप, दान अथवा और भी किसी पवित्र साधन से कभी नही हो सकती। तुम शायद कहोगे कि भक्ति की प्रशसा करते समय भी मैंने ऐसा ही कहा था। अत' ज्ञान श्रेष्ठ है या भक्ति ? और आपकी किस बात को सही माना जाय ? परन्तु, प्यारे भक्त, अधिकारी-भेद से मैंने भिन्न-भिन्न अवसर पर भिन्न-भिन्न साधनो की प्रशसा की है। जब भक्ति का अधिकारी मेरे सामने होता है तो मैं उसे भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ बताता हू व जब ज्ञान या योग का अधिकारी सामने होता है तो उसे उसी की महिमा बखान करता हू । क्योकि किसी साधन मे मनुष्य तभी पूरी तरह लग सकता है जब उसे यह विश्वास हो कि इस साधन से मैं अवश्य परम पद को पा लूगा और यह साधन सबसे श्रेष्ठ है। सच पूछो तो जो जिस साधन का अधिकारी है वही उसके लिए सर्वश्रेष्ठ है।

अत तुम ज्ञान के द्वारा आत्म-स्वरूप को जान लो, क्योकि तुम ज्ञान के अधिकारी हो गये हो। जीवात्मा और परमात्मा को एक समझ लेना 'ज्ञान' है और इस ऐक्य-भावना से परमात्म-सुख को भोगना ही विज्ञान है। सो तुम ज्ञान-विज्ञान से, जो मैं बता रहा हू, भली प्रकार सम्पन्न हो जाओ और भक्ति-पूर्वक मेरा भजन करो, अर्थात मेरे निमित्त, मुझे अर्पण करके ससार के सब कर्म करते रहो। मेरे ही भाव मे मेरी ही चेतना से अपना सारा जीवन व्याप्त कर लो। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—सब अवस्थाओ मे मेरा ही भजन करो—मद्रूप हो जाओ।

"बडे-बडे ऋषि-मुनियो ने ज्ञान-विज्ञान-रूप यज्ञ के द्वारा अपने अन्त करण मे मुझ सब यज्ञो के अधिपति आत्मा का यजन करके परम सिद्धि प्राप्त की है" ॥६॥

ऊधो, ज्ञान-विज्ञान का बडा महत्व है। इस ज्ञान-विज्ञान को एक प्रकार का यज्ञ ही समझो। इसे पशु-बलिवाला यज्ञ मत समझ लेना। उससे इसकी महिमा बहुत बढी-चढी है। इसमे किसी प्रकार की हिंसा नही करनी पडती व फल भी उस यज्ञ से अधिक मिलता है। पशु-बलि या दूसरे प्रकार की सात्विक बलिवाले यज्ञ

से भी सिर्फ कामना-पूर्ति ही होती है, इस ज्ञान-विज्ञान रूप यज्ञ से तो स्वय मेरी भी प्राप्ति होती है। पशु-बलि यज्ञ का कनिष्ठ विधान है। यज्ञ की मूल भावना आत्म-समर्पण की है। पशु या अन्न आदि की बलि उसका प्रतीक है। अत मेरा सच्चा भजन मुझे आत्म-समर्पण करके ही हो सकता है। मुझे आत्म-समर्पण करने के मानी है, मुझमे अपनेको लीन कर देना, मिला देना, सारी चराचर सृष्टि और उसके परे के चेतन-तत्व से एकत्व का अनुभव करना। अपने अग-प्रत्यग, मन, बुद्धि, चित्त आदि सबमे मेरी स्थिति, मेरे स्वरूप को देखना। ये सब कुछ मैं ही हूँ, ये मेरे ही तेज से व्याप्त है, ऐसा मानना।

इसका अर्थ यह हुआ कि मुझे कही दूर खोजने की जरूरत नही है। तुम्हारे अन्त करण मे ही सदा-सर्वदा स्थित रहता हू। अपने उसी अन्तरात्मा का भजन करके, उसे मुझमे जोडकर अनेक मुनियो ने सिद्धि पाई है। बल्कि यो कहो कि उस सिद्धि रूप से उन्होने खुद मुझ यज्ञ-पति को ही प्राप्त कर लिया है। जिससे यज्ञ की कल्पना, भावना, उत्पन्न हुई हो, जिसमे यज्ञ की क्रिया हो रही हो, जिसके लिए यज्ञ किया जाता हो या जिसमे यज्ञ की परिणति, समाप्ति होती हो उसे यज्ञपति कहा है। तुम्हारा सकल्प, तुम्हारा कर्मानुष्ठान, क्रिया, तुम्हारा लक्ष्य सबकुछ यज्ञमय होना चाहिए। जो-कुछ करो अपने लिए नही, समाज के लिए, जगत के लिए और सबके अधिष्ठान रूप मेरे लिए करो, तो यह सब यज्ञ कहलाता है। और इसका अधिपति मैं हू।

"ऊधो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन विकारों की समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है। यह पहले नहीं था और अन्त मे नहीं रहेगा, केवल बीच में ही दीख रहा है। इसलिए इसे जादू के खेल के समान माया ही समझना चाहिए। इसके जो—जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छह भाव-विकार है इनसे तुम्हारा कोई सबध नहीं है। यही नही, ये विकार उसके भी नहीं हैं, क्योंकि वह स्वय असत है। असत वस्तु तो पहले नही थी, बाद मे भी नहीं रहेगी, इसलिए बीच मे भी उसका कोई अस्तित्व नही होता"॥७॥

यह जो शरीर है सो त्रिविध—जन्म, स्थिति और मरण—विकारो की समष्टि है। ये विकार आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक तीन तरह के होते है। यह शरीर तुम्हारा आश्रय लेकर रहा है। असल वस्तु तुम—तुम्हारा

आत्मा है, जिसका न आदि है और न अन्त। किन्तु यह शरीर तो आदि-अन्तवाला है। यह अन्त मे भी नहीं रहता व आदि भी उसका कुछ नही है। बीच का कोरा आवरण-मात्र है। अत इसे माया के अन्तर्गत समझना चाहिए। इस शरीर के जो जन्म व मृत्यु आदि होते है उनसे तुम्हारा—जीवात्मा का क्या सम्बन्ध है ? तुम तो उसके केवल अधिष्ठान हो। जो वस्तु असत होती है उसका जन्म भी होता है, स्थिति भी होती है व विनाश भी होता है, अर्थात आदि, मध्य, अन्त तीनो होते हैं। यह देह भी असत है, अत ये तीनो अवस्थाए उसकी होती हैं। आत्मा सदा—सर्वदा एक ही स्थिति मे रहता है।

वेदान्त का अन्तिम निर्णय यह है कि प्राणिमात्र मे स्फुरित जो चैतन्य-तत्व है, उससे परे, उसपर सत्ता चलानेवाला दूसरा कोई तत्व नही है। उसे चाहे आत्म-तत्व कहिए, चाहे ब्रह्म-तत्व कहिए, वह एक ही चैतन्य-तत्व विश्व के मूल मे है।

इस चैतन्य-तत्व के अस्तित्व के विषय मे कोई सन्देह नही। पर चैतन्य-तत्व प्रमाणातीत है। लेकिन 'प्रमाणातीत' है इसका अर्थ यह नही कि वह केवल श्रद्धेय है। बल्कि स्वय सिद्ध रूप से उसकी प्रतीति हो सकती है। यह वेदान्त की प्रतिज्ञा है। इस प्रतीति का ही नाम आत्म-ज्ञान है।

आत्म-तत्व है ही, इसलिए वह सत है, वह चित है अर्थात ज्ञान-क्रिया-रूप है। दूसरे शब्दो मे जो कुछ है—ऐसा प्रतीत होता है—उसका मूल उसमे स्थित चैतन्य की सत्ता है। और दोनो मे जो कुछ क्रिया या ज्ञान सूचित होता है, उसका मूल उसमे स्थित चैतन्य-तत्व ही है।

प्राणियो मे प्रतीत होनेवाला चित्त आत्मतत्व से निर्मित, विशेष प्रकार से उत्क्रान्त एक शक्ति है। यह शक्ति सब प्राणियो मे एक-सी विकसित नही हुई है, बल्कि विकास पाती रहती है। मनुष्य-दशा तक विकसित चित्त 'मैं हू', 'मैं ज्ञाता हू', 'मैं कर्ता हू', 'मैं भोक्ता हू', 'मैं सकाय हू', 'मैं विवेचक हू' (पाप-पुण्य, सुख-दु ख का विवेक करनेवाला हू) 'मैं विकारशील हू' 'मैं मर्यादित हू'—आदि भान से युक्त है। साधारणत इस तरह के विकारवान चित मे ही मनुष्य की आत्मभावना होती है।

यह न समझना चाहिए कि मनुष्य-दशा प्राप्त होने से चित्त का विकास पूर्ण हो गया। यदि हम यह कल्पना कर सकें कि एक पेड जैसे-जैसे बडा होता

जाता है वैसे-वैसे बुद्धिमान होता जाता है, और यह भी कल्पना कर सके कि वह अपने अस्तित्व मे आने के प्रकार की जिज्ञासा रखता है तो कहना होगा कि उसमे बीज लगने पर ही उसे अपनी उत्पत्ति का स्थूल कारण मालूम हो सकता है, और उसी स्थिति मे एक तरह से वह मान सकता है कि मैं कृतार्थ हुआ। इसी प्रकार चैतन्य-शक्ति से निर्मित चित्त जीवन के अनुभवो को ग्रहण करते-करते सशुद्ध होकर जब अपनी खुद को उत्पन्न करनेवाली बीज-रूप चैतन्य-शक्ति की प्रतीति कर ले तथा इस प्रतीति के अनुरूप भावना और कर्म-योग सिद्ध कर ले, तब कह सकते हैं कि अमुक विकास-क्रम एक तरह से पूर्ण हुआ।

जबतक चित्त की सशुद्धि नही हुई, तबतक उसके लिए कोई-न-कोई आलम्बन आवश्यक होता है, और यह उचित भी है। यह आलम्बन काल्पनिक नही, बल्कि सत्य होना चाहिए—फिर भले ही उसकी सत्यता के सबध मे आत्म-प्रतीति न हो।

परमात्मा ही ऐसा आलम्बन है। परन्तु परमात्मा को समझने के बारे मे अनेक भ्रम फैले हुए है और उसके ज्ञान और भावो की सशुद्धि मे त्रुटि रहती है तथा अभ्युदय और पुरुषार्थ मे विघ्न आता है।

आलम्बन की शुद्धता का विचार करते हुए परमात्मा का नीचे लिखे अनुसार किया अनुसन्धान उचित मालूम होता है —

(१) वह सत्य, ज्ञान तथा क्रिया-स्वरूप है।

(२) वह जगत का उपादान कारण है।

(३) वह सर्वव्यापक विभु है।

(४) उसका कोई खास नाम, आकार या गुण नही बताया जा सकता, किन्तु वह सभी नामो, आकारो और गुणो का आश्रय है।

(५) वह कारण रूप से सत्य-सकल्प का दाता और कर्म-फल-प्रदाता है।

(६) वह अलिप्त है और साक्षी-रूप से प्रतीत होता है।

(७) वह महान, अनन्त और अपार है।

(८) वह स्थिर और निश्चल है।

(९) वह जगत का नियन्ता अथवा सूत्रधार है।

(१०) वह ऋत है।

(११) वह उपास्य, रोध्य, वरेण्य, शरण्य और समर्पणीय है।

(१३) जगत मे जो कुछ शुभ-अशुभ विभूति है, वह उसीके कारण है, अत वह सब शक्तियो का भण्डार है। परन्तु उसमे से जो शक्तिया श्रेयार्थी के लिए शुभ और अनुशीलन करने योग्य हैं उन्हीका अनुसन्धान करना उचित है। ऐसी विभूतिया सक्षेप मे ज्ञान, प्रेम और धर्म के अनुरूप क्रिया-शक्तिया हैं।

सत्व-सशुद्धि (चित्त-शुद्धि) का फल प्रत्यक्ष जीवन मे बुद्धि और भावना के उत्कर्ष द्वारा मरण तथा मरणोत्तर स्थिति के बारे मे निर्भय बनाकर शान्ति और समाधान प्राप्त कराना है। सत्व-सशुद्धि जीवन की साधना भी है और साध्य भी है।

उद्धव ने कहा—"विश्व रूप परमात्मा, आप ही विश्व के स्वामी हैं। आपका यह वैराग्य और विज्ञान से युक्त सनातन विपुल एव विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ़ हो जाय, उसी प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइए और अपने उस भक्तियोग का भी वर्णन कीजिए, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ढूंढा करते हैं" ॥८॥

आपने जो ज्ञान-विज्ञान मुझे समझाया यह मुझपर महत उपकार हुआ। इससे ससार का भी भला होगा। आपके सिवा इसका अधिकारी भी कौन है? आप तो स्वय विश्वेश्वर हैं, यह विश्व आपकी ही मूर्ति है। यह मेरी समझ मे तो आ गया, पर अब कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे यह सनातन व विशुद्ध ज्ञान मन मे अच्छी तरह दृढ हो जाय। फिर मिटाये न मिटे। जिसमे 'असम्भावना' दोष बिल्कुल न रहे, उसे शुद्ध ज्ञान कहते हैं। जिसमे विपरीत भावना जरा भी न हो, उसे 'विपुल' कहते हैं। फिर कोरे पुस्तकी या बौद्धिक ज्ञान से काम नही चलता। तो ज्ञान-सिद्धि का मार्ग बताइए और इसका अत्यन्त सरल साधन भी। पहले आपने सरल भक्तियोग का उपदेश मुझे दिया भी था। उसकी सरलता व सर्वजन-सुगमता की छाप मुझपर बैठ गई है। आप उसीको फिर मुझे एक बार समझाइए। मुझे तो वही इसका अच्छा उपाय मालूम होता है, क्योकि वही सर्वसाधारण, अपढ-कुपढ, गवार, सबके लिए उपयोगी है। महाज्ञानी ब्रह्मा आदि महापुरुष भी तो निरन्तर उसकी खोज मे रहते हैं।

"मेरे स्वामी, जो पुरुष इस ससार के विकट मार्ग मे तीनो तापो के थपेडे खा रहे हैं और भीतर-बाहर जल-भुन रहे हैं, उनके लिए आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दो की छत्रछाया के अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दीखता" ॥९॥

जो त्रिविध ताप से भस्म हो रहे हैं, काम-क्रोध ने जिन्हे जर्जर कर दिया है, आशा-तृष्णा से लबालब भरे हुए हैं और जन्म-मरण के फेर मे पडे हैं, उनके लिए भगवान के पद-कमल ही एक छत्र है। मामूली छाता तो एक ताप का ही निवारण करता है, परन्तु आपकी छत्र-छाया से त्रिविध ताप दूर होकर मनुष्य निष्पाप हो जाता है।

"महानुभाव, आपका यह अपना सेवक अंधेरे कुएं मे पड़ा हुआ है। काल-रूपी सर्प ने इसे डस रखा है, फिर भी विषयो के क्षुद्र सुख-भोगो की तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती ही जा रही है। आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिए और इससे मुक्त करनेवाली वाणी की सुधा-धारा से इसे सराबोर कर दीजिए"॥१०॥

यद्यपि मैं आपके निकट हू, सामने हू, फिर भी आप मुझे अधेरे कुए मे पडा समझिए। मैं ही क्या, लाखो लोगो का यही हाल है। वे समझते ही नही हैं कि उन्हे काल-रूपी सर्प ने डस रखा है। पता नही, किस क्षण मौत आ जाय। फिर भी वे स्वार्थ, छल-छन्द, भ्रष्टाचार मे फसे हुए हैं। बहुतेरे तो इनके दुष्परिणामो को जानते है, दुर्योधन की-सी उनकी गत होती है। अत इन सबके लिए भी मैं आपसे कहता हू। इनमे मेरा भी उद्धार हो जायगा। आपकी वाणी मे वह शक्ति है, जिससे इन सबसे मुक्त हुआ जा सकता है। अब देर मत कीजिए, मुझे वही सरल मार्ग अपने श्रीमुख से सुनाने की कृपा कीजिए।

श्रीकृष्ण भगवान ने कहा—"उद्धव जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यहाँ धर्मराज युधिष्ठिर ने धार्मिक शिरोमणि भीष्म पितामह से किया था। उस समय हम सभी लोग वहा विद्यमान थे।

"जब भारतीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर अपने स्वजन-सबंधियो के संहार से शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्म पितामह से बहुत से धर्मों का विवरण सुनने के पश्चात मोक्ष के साधनो के संबंध में प्रश्न किया था"॥१२॥

तब श्री भगवान बोले—शर-पजर पर पडे भीष्माचार्य से एक बार युधिष्ठिर ने ऐसा ही प्रश्न पूछा था। तुम जानते हो, न तो धर्मराज युधिष्ठिर ही मामूली आदमी था, न भीष्मदेव ही। कौरवो से इतनी लडाई लडकर भी वह अजातशत्रु रहा। वह सचमुच धर्मराज था। दुर्योधन पाण्डवो पर विजय करने के लिए वज्रदेही होना चाहता था और तारीफ यह कि उसने इसका उपाय धर्मराज से ही पूछा।

चाहे तो इसे दुर्योधन का धर्मराज के प्रति इतना विश्वास समझो, चाहे उनकी परीक्षा लेने के हेतु उन्हीके पास गया मानो। अपने ही सर्वनाश की आशका उपस्थित रहते भी धर्मराज ने दुर्योधन के साथ छल-कपट नही किया, झूठ नही बोला। भीष्म के गुणो और योग्यता-महत्ता का क्या पूछना? स्वय अपने गुरु परशुराम को उन्होने युद्ध मे जीता और उनसे वर पाया कि तुमपर काम का प्रभाव नही पडेगा। पिता के सतोष के लिए उन्होने अपनी जवानी दे दी और स्वेच्छा से बुढापा स्वीकार किया। पिता ने भी उन्हे आशीर्वाद दिया कि बुढापा तुम्हे नही आने पावेगा। भीष्म-प्रतिज्ञा तो प्रसिद्ध ही है। अरे, खुद मुझे युद्ध मे उन्हे हराने के लिए अपनी प्रतिज्ञा कि युद्ध मे शस्त्र ग्रहण नही करूगा, तोडनी पडी, पर वह विचलित नही हुए। इसीलिए वे धर्मनिष्ठो मे 'श्रेष्ठ' कहे गए। काल, काम, और राम (परशुराम) तीनो के विजेता थे। फिर अपनी इच्छा और योजना के अनुसार स्वय काल के समर्पित हुए। युधिष्ठिर जैसे स्वय धर्मज्ञ ने उन्हीको अपने मार्गदर्शन का अधिकारी माना। सो जो ज्ञान-उपदेश उन्होने युधिष्ठिर को दिया था, वही मैं तुम्हें सुनाता हू।

मैंने बीच-बचाव की बहुत कोशिश की, फिर भी दुर्योधन की हठधर्मी से आखिर पाण्डवो को युद्ध मे प्रवृत्त होना ही पडा। आत्म-रक्षा और न्याय-रक्षा दोनो का ऐसा ही तकाजा था। युद्ध समाप्त होने पर धर्मराज को राजगद्दी मिली। वह सबसे बडे भाई थे। तब उन्हे बार-बार इस बात का अफसोस होने लगा कि देखो, मेरे हाथ से कितने ही स्वजन, गुरुजन आदि मारे गये। मैंने तो अर्जुन को समझाया था कि कर्ता तू नही, परमेश्वर है, तू तो इनको मारने का निमित्त मात्र होगा। ये तो अपने कुकर्मों से पहले ही मर चुके हैं। परन्तु फिर भी युधिष्ठिर को शोक होने लगा। कर्त्तापन का अभिमान उसमे उत्पन्न हो गया था। आत्मा को भूलकर वह अनजान मे देह को महत्व देने लगा था—तब मैंने उन्हे शाति और समाधान प्राप्त करने के लिए भीष्म से मार्गदर्शन लेने की सलाह दी। उनसे युधिष्ठिर ने अपनी सब शकाए पूछी। वह प्रसग बडा महत्वपूर्ण है। युधिष्ठिर ने उनसे राजधर्म, दानधर्म, आपद्धर्म और खासकर के 'मोक्षधर्म' के विषय मे पूच्छा की।

"उस समय भीष्म पितामह के मुह से सुने हुए मोक्षधर्मों को मैं तुम्हे सुनाऊगा, क्योकि वे ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्ति के भावो से परिपूर्ण हैं" ॥१३॥

का—चैतन्य का नही—इन तीन गुणो का ही होता है। इस प्रकार जव परोक्ष अनुभव के द्वारा, अर्थात निरतर आत्म-साक्षात्कार होते रहने से अद्वैत सिद्धि हो जाने से—तीनो गुणो का भेद नष्ट हो जाता है, इनके उत्पत्ति, स्थिति, लय की क्रिया लुप्त हो जाती है, सव भिन्न-भिन्न भाव नष्ट होकर एक ही भाव मे मग्नता रहती है तो उसीको विज्ञान अर्थात विशेप ज्ञान कहते है।

"जो तत्व-वस्तु सृष्टि के प्रारम्भ मे और अन्त मे कारण रूप से स्थित रहती है वही मध्य मे भी रहती है और वही प्रतीयमान कार्य से प्रतीयमान कार्यान्तर मे अनुगत भी होती है फिर उन कार्यों का प्रलय अथवा बाध होने पर उसके साक्षी एव अधिष्ठान-रूप से शेष रह जाती है। वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझे।" ॥१६॥

अब सत, जिसे ब्रह्म कहा है, सो क्या है, यह सुन लो। प्रकृति का पहला प्रस्फुटन महत्तत्व है, अत उसे तथा उसके बाद के तत्व कार्य कहलाते हैं। इन सब कार्य-वर्ग की उत्पत्ति, प्रलय व स्थिति मे आदि, मध्य और अन्त मे तथा प्रत्येक कार्य के अन्तर्गत, जो अनुस्यूत है, और इन सवका लय हो जाने पर भी जो वच रहता है, वही सत है, शाश्वत तत्व है। सब कार्य-वर्ग मे जो यह अनुस्यूत रहता है सो, उनके कारण और अधिष्ठान-रूप से रहता है। कारण का अर्थ तो यह कि उसीसे सब पदार्थों की, कार्यों की उत्पत्ति हुई है। अत वह सवका कारण या बीज रूप है और अधिष्ठान का अर्थ यह कि उसीके आधार से सारा कार्य-जगत टिका हुआ है, परदे पर चलचित्र की तरह दीखता है, अत उसकी पृष्ठभूमि या धरातल रूप है। जैसे सुवर्ण अलकार वनने के पहले भी सुवर्ण था, अलकार वनने पर भी उसमे सुवर्ण रूप रहता है और अलकार नष्ट हो जाने पर भी फिर सुवर्ण हो जाता है या रहता है, इसी प्रकार आत्मा प्रत्येक जीव का कारण भी है और अधिष्ठान भी है।

"श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (महापुरुषो मे प्रसिद्धि) और अनुमान प्रमाणो मे ये चार मुख्य हैं। इनको कसौटी पर कसने से दृश्य प्रपच अस्थिर, नश्वर एव विकारी होने के कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इसलिए विवेकी पुरुष इस विविध कल्पना-रूप अथवा शब्द-मात्र प्रपच से विरक्त हो जाता है" ॥१७॥

किसी वस्तु को जानने या सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। वे चार प्रकार के माने गये हैं—शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान और ऐतिह्य। किसी

ग्रथ या गुरु या आचार्य के वचन को मानना शब्द-प्रमाण कहलाता है। इद्रियो से वस्तु का जो प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। कई आधारों से जो अनुमान निश्चित होता है, उसे अनुमान और महाजन-प्रसिद्धि को ऐतिह्य कहते है। इन चारो की कसौटी पर कसने पर भी जगत की सत्यता, परमात्मा के मुकावले मे, ठहर नही पाती है। उसकी अनवस्था हो जाती है। अत जिस पुरुष ने विज्ञान को समझ लिया है, वह इस ससार से विरक्त हो जाता है। उसे असत, क्षण-भगुर समझने लगता है। इससे सासारिक विपयो मे उसका मन नही लगता। वह स्वार्थो मे नही फसता। या तो परमात्मा रूप मे या जगत की सेवा उपकार मे लीन रहता है। वह जान लेता है कि यह ससार विकल्प या विभ्रम मात्र है, जैसे कि रस्सी मे साप, और परमात्मा की ही सत्ता वास्तव मे शाश्वत है।

जिस प्रकार वस्त्र उसके ततुओ से अलग नही हो सकता है, इसी प्रकार यह ससार-प्रपच ब्रह्म से भिन्न नही हो सकता।

"विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मों के परिणामी—नश्वर होने के कारण ब्रह्मलोक पर्यंत स्वर्गादि सुख-अदृष्ट को भी इस प्रत्यक्ष विषय-सुख के समान ही अमंगल, दुःखदायी एवं नाशवान समझे" ॥१८॥

प्रत्येक कर्म कुछ-न-कुछ परिणाम लाते है, उनमे कुछ-न-कुछ दोष-विकार रहता ही है। इनके द्वारा जिस किसी भी लोक की—स्थिति की प्राप्ति होगी वह विकार-युक्त अशुद्ध, सुख-दु ख-परिणामी होगा। अत वे मनुष्य के लिए उस अश तक अमगल ही समझने चाहिए। जहा कही विकार है वहा श्रेय नही है, अक्षय सुख नही है। अत विचारवान पुरुष परलोक के भी मोह मे न फसे। 'विचारवान' कहने का अभिप्राय ही यह है कि वह उस वस्तु का त्याग करता जाय, जिससे विशेष हानि, अधिक दु ख होता हो और उस वस्तु को ग्रहण करने की प्रवृत्ति रक्खे जो अधिक लाभ, सुख, सन्तोष देनेवाली हो। वह इस लोक की तरह परलोको को भी नाशवान ही जाने। पुण्य क्षीण होने पर उन्हे वे लोक छोडने पडते है व फिर शेप कर्मो के अनुसार फल-भोग के लिए दूसरी जगह जाना पडता है। मनुष्य सुख-शाति चाहता है। इसकी एक उच्च अवस्था के रूप मे स्वर्ग की कल्पना की गई है। शुभ कर्मों के फल-स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उन फलो के समाप्त होने पर उस स्थिति से नीचे आना पडता है। अत अधिक विचारशील लोगो ने इससे भी शाति की परम उच्च अवस्था की

सृष्टि की है। उसको मोक्ष कहा है। भगवान उद्धव से कहते है कि स्वर्ग के भी चक्कर मे मनुष्य को नही रहना चाहिए।

"निष्पाप उद्धवजी, भक्तियोग का वर्णन मैं तुम्हे पहले ही सुना चुका हूं, परन्तु उसमे तुम्हारी बहुत प्रीति है, इसलिए मैं तुम्हे फिर से भक्ति प्राप्त होने का श्रेष्ठ साधन बतलाता हू" ॥१९॥

"जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता है, वह मेरी अमृतमयी[1] कथा मे श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामो का सकीर्तन करे, मेरी पूजा मे अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रो के द्वारा मेरी स्तुति करे" ॥२०॥

अब भगवान अपनी भक्ति के एक-एक साधन को गिनाते है। भक्ति-शास्त्र मे उसके नौ अग माने गए हैं—वह 'नवधा' भक्ति कहलाती है। किस प्रकार से भक्त भगवान मे तल्लीन हो जाय, इसका उपाय खोजते-खोजते ये नौ प्रकार हाथ लगे हैं। ये एक-के-बाद-एक ऊपर की सीढिया भी हो सकती हैं और प्रत्येक अग अपने-आपमे सपूर्ण भक्ति का दाता भी हो सकता है। भक्त की रुचि और योग्यता पर यह सब निर्भर करता है। श्रवण, कीर्तन, पूजन आदि नौ प्रकारो का वर्णन यहा किया जाता है। उडिया बाबा कहते हैं, "ससार की किसी एक वस्तु मे भी भगवद्-भाव से प्रेम करे तो भगवान की ही प्राप्ति होती है, क्योकि वास्तव मे भगवान से भिन्न और कुछ है ही नही।"

"मेरी सेवा-पूजा मे प्रेम रखे और सामने साष्टाग लोटकर प्रणाम करे, मेरे भक्तो की पूजा मेरी पूजा से बढ़कर करे और समस्त प्राणियो मे मुझे ही देखें" ॥२१॥

"अपने एक-एक अग की चेष्टा केवल मेरे ही लिए करे, वाणी से मेरे ही गुणो का गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दें तथा सारी कामनाए छोड दे" ॥२२॥

---

१ गीता के बारहवें अध्याय—भक्तियोग मे भी "ये तु धर्म्यामृतमिदम् यथोक्त पर्युपासते, श्रद्दधाना मत्परमा. भक्तास्तेऽतीतीव मे प्रिया."। कहा है अर्थात जो इस अमृतमय ज्ञान अर्थात भक्ति के आदर्श को प्राप्त करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। यह भक्तियोग अमृत की तरह मधुर, सजीवन है, अर्थात अमृत की धारा ही है, ऐसा भगवान ने बार-बार कहा है।

"मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दें और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय, वह सब मेरे लिए ही करें" ॥२३॥

"उद्धव, जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्म-निवेदन कर देते हैं, उनके हृदय मे मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गई, उसके लिए और किस दूसरी वस्तु का प्राप्त होना शेष रह जाता है" ॥२४॥

मेरी इस नवधा भक्ति की क्रियाओ का पालन करने से मेरी वास्तविक प्रेमा या पराभक्ति का उदय हृदय मे हो जाता है और उसके बाद मनुष्य को भला किस पदार्थ की इच्छा रह सकती है?

"इस प्रकार धर्मों का पालन करने से चित्त मे जब सत्व गुण की वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मा मे लग जाता है, उस समय साधक को धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वय ही प्राप्त हो जाते है" ॥२५॥

"यह संसार विविध कल्पनाओ से भरपूर है। सच पूछो तो इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है। जब चित्त इसमे लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियों के साथ इधर-उधर भटकने लगता है। इस प्रकार चित्त मे रजोगुण की बाढ़ आ जाती है, वह असत वस्तु मे लग जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त हो ही जाते हैं, वह अधर्म, अज्ञान, और मोह का भी घर बन जाता है" ॥२६॥

इस प्रकार जब सत्वगुण की बढती से चित्त शान्त हो जाता है तब यदि उसे आत्मा मे लगाया जाय तो उससे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सब अपने-आप प्राप्त हो जाते है, क्योकि जब सत्वगुण बढने लगता है तो चित्त के विकार व दोष घटने लगते है। जो मन पहले नाना प्रकार के विषय-भोगो की ही चाह लगाये रहता था वह अब अत्यन्त आवश्यक कर्तव्यो व धर्मो मे ही लगने लगता है। इससे वह स्थिर व शान्त हुआ तो अपने-आप उसमे ज्ञान, धर्म का प्रकाश पडने लगता है, परमात्मा के सिवा सब विषयो से वैराग्य हो जाता है और धीरे-धीरे परमात्मा मे अपनी सत्ता देखने लगता है। इससे अपने-आप परमात्मा के ऐश्वर्य को भी पाने व अनुभव करने लगता है।

इसके विपरीत यदि वही चित्त विकल्प-रूप ससार मे लगा दिया जाय तो फिर वही इन्द्रियो के द्वारा उसीमे दौडने लगता है। यह रजोगुण का धर्म या

प्रभाव हुआ। इस प्रकार जो चित्त रजोगुणी व मिथ्या पदार्थों मे प्रतीति रखता है उसीको विपर्यय समझो। उसीसे अधर्मादि की प्राप्ति होती है।

"उद्धव, जिससे मेरी भक्ति हो वही धर्म है, जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो वही ज्ञान है, विषयो से असंग, निर्लेप रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धिया ही ऐश्वर्य है" ॥२७॥

उद्धव ने कहा—"रिपुसूदन, यम और नियम कितने प्रकार के हैं? श्रीकृष्ण! शम क्या है, दम क्या है? प्रभो! तितिक्षा और धैर्य क्या है?" ॥२८॥

"आप मुझे दान, तपस्या, शूरता, सत्य और ऋत का भी स्वरूप बतलाइए। त्याग क्या है? अभीष्ट धन कौन सा है? यज्ञ किसे कहते हैं? और दक्षिणा क्या वस्तु है?" ॥२९॥

"श्रीमान केशव, पुरुष का सच्चा बल क्या है? भग किसे कहते हैं? और लाभ क्या वस्तु है? उत्तम विद्या, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या है?" ॥३०॥

"पण्डित और मूर्ख के लक्षण क्या हैं? सुमार्ग और कुमार्ग का क्या लक्षण है? स्वर्ग और नरक क्या है? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिए? और घर क्या है?" ॥३१॥

"धनवान और निर्धन किसे कहते हैं? कृपण कौन है? और ईश्वर किसे कहते हैं? भक्तवत्सल प्रभो, आप मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दीजिए और साथ ही इनके विरोधी भावो की भी व्याख्या कीजिए" ॥३२॥

श्री भगवान ने कहा—"ऊधो, बारह प्रकार के यम और बारह ही नियम हैं। यम इस प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असगता, ह्री (लज्जा) असचय (आवश्यकता से अधिक धन आदि न जोडना) आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय। बाहरी व भीतरी शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरा पूजन, तीर्थ-भ्रमण, परोपकार के लिए चेष्टा, सन्तोष व गुरु-सेवा—ये नियम हैं।[1] ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के साधको के लिए

---

१. योग-दर्शन मे पाच यम व पाच नियम बताये हैं—
यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान।

उपयोगी है। उद्धव, जो पुरुष इनका पालन करते है, वे यम और नियम उनके इच्छानुसार उन्हे भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं" ॥३३-३४-३५॥

अहिंसा[1] व सत्य का निरूपण हो चुका है।[2]

---

१. 'अहिंसा' के सिलसिले मे नारदजी के नीचे लिखे उद्‌गार ध्यान देने योग्य हैं—

"अपने प्रिय विषयो का सेवन करनेवाले पुरुष के लिए ऐश्वर्यमद जैसा बुद्धि-भ्रष्ट करनेवाला होता है वैसा जाति आदि का मद अथवा रजोगुण के कार्य हास्यादि नहीं होते, क्योकि ऐश्वर्य के समय स्त्री, द्यूत और मद्य आदि की बहुलता रहती है।"

"इस ऐश्वर्य-मद से अन्धे होकर निर्दय व अजितेन्द्रिय पुरुष अपने नाशमान शरीर को अजर-अमर मानकर पशुओ की हत्या करते है।"

"जो शरीर नर-देव, भूदेव, देव-संज्ञक नामो से कहा जाता है, वह भी अन्त मे कीडा, विष्ठा, या भस्मरूप ही हो जाता है, फिर उसके लिए जो पुरुष प्राणियो से द्रोह करता है, जिस द्रोह से उसे नरक की प्राप्ति होती है, क्या वह अपना वास्तविक स्वार्थ जानता है?"

"इस शरीर को किसकी सम्पत्ति कहे? अन्न देनेवाले की, वीर्यदाता पिता की, उदर मे धारण करनेवाली माता की, माता के पिता (नाना) की, बलवान की, मोल लेनेवाले की, अग्नि की, या कुत्तो की?"

"यह देह अव्यक्त से उत्पन्न होता है और उसीमे लीन हो जाता है। जबकि यह ऐसी असाधारण वस्तु है तो असत पुरुष के सिवा ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो इसे आत्मा मानकर इसके लिए जीवो का वध करेगा?"

"जो असत पुरुष ऐश्वर्य के मद मे अन्धा हो रहा है, उसके लिए दरिद्रता ही उत्तम अंजन है, क्योकि दरिद्र पुरुष अन्य जीवो को भी अपने समान ही देखता है।"

"जिस पुरुष के अग मे काटा लगता है वह जैसे मुख संकोच आदि चिह्नों से अपनी तथा दूसरे जीवो की पीड़ा की तुल्यता का अनुमान करके दूसरो के लिए उस व्यथा का न होना चाहता है वैसे वह पुरुष जिसे काटा लगने की व्यथा का अनुभव नही है, नहीं चाहता।"

२. देखिए भागवत धर्म (पहला खण्ड) परिशिष्ट ९, १० व १८ अ।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। अर्थात अपने वारे मे किसी प्रकार की गुप्तता न रखना व दूसरो का अधिकार जिन वस्तुओ पर है उनका उपयोग उनके विना पूछे न करना।

असगता का अर्थ है किसी विषय मे न फसना, आसक्ति न रखना। कर्त्तव्य-पालन भर की दृष्टि रखना, काम से काम रखना, अपने स्वार्थ व सुख के लिए दूसरो का, दूसरे की शक्तियो का उपयोग न करना, उनसे प्रेम न करना, असगता है। जब अपने मनोविकारो की तृप्ति के लिए किसीसे प्रेम, मित्रता, मेल-मुलाकात करने या वढाने की इच्छा हो, या किसीके ऐसे ही भाव या विकार के शिकार हो रहे हो तो समझो कि 'सग' अपना प्रभाव जमा रहा है। सग का एक परिणाम पक्षपात व दूसरा द्वेष होता है। इन विकारो से भी 'सग' की पहचान की जा सकती है।

लज्जा—विनय व सौजन्य का अग है। वुरे कामो को करने मे जो लोकमत का, वडे-बूढो के निपेध का भय या सकोच मन मे आता है वही लज्जा है। लज्जा मनुष्य को कई वुराइयो से बचा लेती है। अपने भावो को दूसरो के लिहाज से, सयम मे या एक सीमा मे रखने का भाव लज्जा है।

असचय का अर्थ है अपरिग्रह। अपनी जीवन-रक्षा के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक वस्तुओ का सग्रह परिग्रह या सचय कहलाता है। यदि हमे अपने मन से तृष्णा को हटाना है तो पहले उसके वाहरी रूप को काबू मे लाना होगा। वह वाहरी रूप परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ हो जाता है दूसरो के लिए आवश्यक वस्तुओ का हरण। यदि दूसरे भूखो मरते हो तो हमारा आवश्यकता से अधिक अनाज सग्रह सचय मे आता है, इसीलिए असचय धर्म माना गया है।

ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास रखना आस्तिकता है। आस्तिकता का व्यावहारिक अर्थ है कर्म-फल मे विश्वास रखना। जो जैसा कार्य करता है वैसा फल पाता है। इस सिद्धान्त को तो न मानना फिर भी अपने को ईश्वरवादी कहना निरर्थक है। ईश्वर का अर्थ ही है कर्मों के अनुसार फल देनेवाली ससार की नियामक शक्ति।

ब्रह्मचर्य—इन्द्रियो का, खासतौर पर जननेन्द्रिय का सयम ब्रह्मचर्य कहाता है।

मौन—मुखेन्द्रिय का सयम अर्थात मुख से न वोलना।

स्थिरता—जो अपना विश्वास या आसन है उस पर जमे रहना, न डिगना।

क्षमा—दूसरे के अपराधो को भूल जाना क्षमा है। और अपराधो को तो मनुष्य जल्दी क्षमा कर देता है, किन्तु निन्दक को क्षमा करना कठिन होता है। अत सच्ची क्षमा निन्दक की निदा को भूल जाना ही है। निन्दक के सबध मे एकनाथ अपनी भावार्थ रामायण मे लिखते हैं—

"शिष्य के क्षोभ को जो सह नही सकता, निंदको की निन्दा को जो अपने चित्त मे पचा नही सकता, वह परमार्थ मे कोरा ही रह जाता है। दूसरो के प्रवृत्ति-गुणो को देखने से मन सर्वथा क्षुब्ध होता है, इसलिए उनको देखना ही न चाहिए—सब भूतो मे समदृष्टि से केवल एक चैतन्य ही देखना चाहिए। गुरु तो गुरु है ही, पर शिष्य भी सवाद-गुरु है और निन्दक तो निरपराध परम गुरु है।

"ससार मे साधु भी हैं, असाधु भी हैं, पर पारमार्थिक दोनो को ब्रह्म-रूप ही देखता है। इस प्रकार देखते-देखते तद्रूप होकर निज आत्म-रूप को देख लेता है, अपने आत्म-रूप को जान लेता है। जहा ऐसी बात है वहा किसकी निन्दा की जाय और किसका गुण गाया जाय ? मैं ही विश्व हू। जब यह बोध हो गया तब स्तुति-निन्दा तो उसीमे लय हो गई।

"निन्दक बडे काम का होता है। आत्माराम का वह सखा ही है। निन्दक हमारी काशी है, हमारे सब पापो का विनाशी है। निन्दक हमारी गगा है, हमारे सब पापो को भग करने वाला है। निन्दक हमारा सखा है, हमारे कपडो को विना कुछ लिये ही धो डालता है। निन्दक हमारा गुरु है। सद्गुरु के महद् रूप के बाहर नही।

"मेरी कथा की जो निन्दा करते हैं और जो स्तुति करते है, वे दोनो ही मेरी माता के समान है। निन्दक भी मेरे लिए दयालु और प्यारी माता ही है। जैसे माता के हाथ बाहरी मल को बाहर से ही धो डालते है वैसे ही कलि का जो वाह्य मल है उसे निन्दक अपने मुह से निर्मल कर देता है। अत निन्दक वास्तव मे परमार्थ मे सहायक सखा है। उस निन्दक की जो निन्दा करता है, वह सर्वथा दोषी होता है। निन्दा क्या है, परमामृत है। निर्द्वन्द सुख-स्वार्थ है। सच पूछिए तो निन्दक अपना स्वार्थ नही देखता, परोपकार मे ही अति समर्थ होता है। जहा निन्दा सुख से समाती है उसके चरणो पर मैं मस्तक नवाता हू। जो वन्दक होकर निन्दा सह लेता है उसकी माता वन्द्य है।"

अभय के दो अर्थ होते हैं—दूसरो से खुद न डरना, और दूसरो को भी अपनी तरफ से अभय करना। अपनी हानि की आशका या चिन्ता ही भय है। जिसने दूसरो की हानि की है, उसे यह चिन्ता या आशका अधिक होती है। एकनाथ कहते हैं—"हमे दश करने को काल आया, पर आते ही कृपालु हो गया। यह अच्छी जान-पहचान हो गई। इससे चित्त अच्युत मे जा मिला। देह मे जो सन्देह था वह दूर हो गया और काल ही अवकाश हो गया। मनुष्य को सबसे बडा भय मौत—काल का होता है। उसे जीत लेना ही अभय है।"

अब नियमो की व्याख्या सुनो।

शारीरिक व मानसिक शुद्धि, पवित्रता, स्वच्छता, को **शौच** कहते हैं। पसीना, धूल, मल-मूत्र, आदि से शरीर, वस्त्र, घर, सामान को बचाना, व लग जाने पर उन्हे धो-धाकर साफ रखना बाह्य शौच है। मन से भी गदगी को घृणा करना मानसिक शौच है।

किसी एक भाव या सकल्प का निरतर चिन्तन करना जप है। इस भाव के द्योतक शब्दो या वाक्यो ,को मत्र कहते हैं। अक्सर मन्त्रो के ही जप का विधान है। इससे सकल्प-शक्ति बढती है। ध्यान मे एकाग्रता भी आती है।

तप—निश्चित उद्देश की पूर्ति मे आनेवाले सभी कष्टो को दृढतापूर्वक सहन करना तप है।

होम—ईश्वर या इष्ट देवता के प्रीत्यर्थ अग्नि मे बलि देना होम कहलाता है। अपने स्वार्थ-सुख-सबधी वस्तुओ का त्याग वास्तविक होम है। मन से भी इनका त्याग वास्तविक होम है। अग्नि मे आहुति देना होम का बाह्य प्रकार है।

श्रद्धा—बडो, आप्तजनो, गुरुओ या धर्म-वचनो पर विश्वास रखना श्रद्धा है।

अतिथि-सेवा—बिना सूचना दिये या बुलाये जो घर आ जाय, वह अतिथि है। उसे नारायण का रूप जानकर उसका सत्कार करना, भोजन-पान आदि कराना अतिथि-सेवा है। इसमे आगत व्यक्ति का स्वाभिमान सुरक्षित रहता है और यजमान मे दान का अहकार नही उत्पन्न होता।

भगवान का पूजन—भगवान की व्यक्तिगत पूजा व भगवान के कार्यों मे सहयोग—दोनो भगवान की पूजा है।

तीर्थ-भ्रमण—साधु-सन्तो ने, ऋषि-महर्षियो ने जहा साधना, उपासना, तप किया है या जहा देवताओ, अवतारो या विभूतियो का निवास माना गया है, जिन

स्थानो मे नैसर्गिक पवित्रता, सौन्दर्य, शान्ति पाई जाती हे उन्हे तीर्थ कहते हैं। वहा जाने से मन मे अच्छे, पवित्र शान्तिदायी उच्च भाव व विचार पैदा होते है। यह तो मानसिक या आध्यात्मिक लाभ हुआ। देश-भ्रमण से व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त होता है। जगह-जगह की भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सस्कृति, व्यवस्था आदि की जानकारी प्राप्त होती है। विद्वानो, सत्पुरुषो के सहवास, सभाषण, व्याख्यान, उपदेश, प्रवचन से लाभ होता है।

परोपकार के लिए चेष्टा—दूसरे को अपना या परमात्मा का रूप मान कर उनकी भलाई के लिए उद्योग करना। जो भी दीन, दुखी, पीडित, पतित है उनके सुख, सन्तोष, उद्धार के लिए प्रयत्न करना।

सन्तोष—अपने निर्वाह के लिए धर्म-युक्त स्वल्प प्रयास या उचित परिश्रम से जो मिल जाय उसीमे तृप्त रहने का नाम सन्तोष है। दूसरो की वस्तु की इच्छा न रखना, अधिक की हविस न रखना सन्तोष है। सन्तोष के अभाव मे ही मनुष्य चोरी, डाह, द्रोह, कलह की ओर प्रवृत्त होता है।

गुरु-सेवा—गुरु के निर्वाह की चिन्ता रखना, उनके सुख-सन्तोष का ध्यान रखना, उनके प्रिय व शुभ कार्यो की पूर्ति करना गुरु-सेवा है।

"बुद्धि का मुझमे लग जाना शम है। इन्द्रिय-दमन को दम कहते हैं। दुःख-सहन का नाम तितिक्षा है तथा जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय का निग्रह ही धैर्य है" ॥३६॥

परमात्मा मे बुद्धि लग जाने से, विश्व मे समरस हो जाने से, सब विकारो, दोषो, आवेगो, पातको, मलिनताओ का क्षय होकर मन शान्त हो जाता है। इस स्थिति को शम कहते है।

इन्द्रिया जब शरीर व ससार के सुखो—विषय-भोगो की ओर न दौडकर केवल अपने कर्तव्य, धर्म या ईश्वर-सेवा जैसे सात्विक, पारमार्थिक कामो मे ही लगती हैं, तब उसे सयम या दम कहा जाता है।

सब प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट, दु ख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वो को सहन करने की क्षमता को **तितिक्षा** कहते है। इन दुविधाओ मे शरीर के रुग्ण या पगु न हो जाने तथा मन के अविचल, निश्चिन्त बने रहने की स्थिति तितिक्षा है।

जीभ व जननेन्द्रिय के निग्रह, सयम या जय का नाम है **धैर्य**। पुरुष, स्त्री दोनो के लिए यह लागू है। जीभ के जय मे स्वाद, वाणी दोनो का जय सम्मिलित है। जननेन्द्रिय के जय मे परस्त्री-गमन का सर्वथा निषेध व स्वपत्नी से धर्मोचित गमन ही अभिप्रेत है। शरीर-सरक्षण की दृष्टि से भोजन, पान, हित, मित, प्रिय व सत्य भाषण का समावेश जीभ-जय मे समझना चाहिए। दोनो का जय धैर्य है।

"भूत-द्रोह का त्याग ही परम दान है। कामनाओ, भोगो का त्याग परम तप है, वीरता है और सबमे समदर्शन ही परम सत्य है" ॥३७॥

प्राणिमात्र के प्रति द्रोह के त्याग का ही नाम **दान** है। कामनाओ अर्थात भोगो का त्याग ही परम **तप** है। पचाग्नि तपने से, कन्द, मूल, फल, पत्र खाकर रहने से, एक टाग पर खडे रहने का अभ्यास करने से बढकर यह तप है। सच पूछो तो इन भोगो व सुखो के त्याग के लिए ही पूर्वोक्त शारीरिक तप किये जाते हैं। कुसस्कार-युक्त जो स्वभाव हमारा बन गया है, वासनाओ से पूर्ण जो चित्तवृत्तिया हो गई हैं उनको वश मे कर लेना ही **वीरता** है। बाहरी शत्रु पर नही, इस भीतरी शत्रु पर विजय पाना ही सच्ची बहादुरी है। और सब मे, जगत के सब पदार्थो मे समदर्शन ही परम सत्य है।

"सत्य और मधुरवाणी को ही विद्वान लोग ऋत् कहते हैं। कर्मो मे आसक्ति न रखना ही शौच है और (कामनाओ का) त्याग ही सन्यास कहा जाता है" ॥३८॥

सत्य व मधुरवाणी ऋत कहलाती है। कर्मो मे आसक्ति न रखना **शौच** है। और कर्मों का त्याग ही **सन्यास** है। कर्म से अभिप्राय यहा कर्म-काण्ड से है।

"धर्म ही मनुष्यो का इष्ट धन है। परम ऐश्वर्यों मे श्रेष्ठ मैं (यज्ञ पुरुष) ही यज्ञ हू। ज्ञानोपदेश ही वास्तविक दक्षिणा और प्राणायाम ही परम बल है" ॥३९॥

धर्म ही मनुष्यो का इष्ट **धन** है। जो धन-दौलत है उसका सग्रह तो मनुष्यो को पाप व बुराइयो मे फसाकर बहुत अनर्थ का कारण बनता है। अत बुद्धिमानो के लिए वह अनिष्ट, अवाछनीय है। किन्तु धर्म, इसके विपरीत, मनुष्य की उन्नति व श्रेय का साधक है। अत इष्ट व सग्रहणीय होने के कारण वास्तविक धन है। बलि आदि के द्वारा किया हुआ यज्ञ तो वाह्याचार मात्र है, वास्तविक यज्ञ तो स्वय मैं हू। जो कुछ दान, बलि आदि देना हो, त्याग करना हो वह सब मेरे ही लिए, मेरे ही मुख मे किया जाय, यह सच्चा यज्ञ है। अग्नि को मेरा

मुख समझ कर ही उसमे बलि दी जाती है। समस्त ऐश्वर्यों मे श्रेष्ठ कोई ऐश्वर्य हो सकता है तो वह मैं ही यज्ञ-पुरुष हू।

रुपये-पैसे, धन-सम्पत्ति, गो, वस्त्र आदि की दक्षिणा ऊपरी है, वास्तविक दक्षिणा तो ज्ञान-सन्देश, या ज्ञान का उपदेश ही है। पहली अस्थायी, अपहरणीय है, दूसरी स्थायी व सदा अपने पास रहनेवाली है।

शरीर-बल, दूसरो को पछाड देने, परास्त कर देने का बल कोई सच्चा बल नही है। प्राणायाम ही, अपने प्राणो का सयम या निरोध ही सच्चा व **महाबल** है। जिससे अपने मन के आवेगो व विकारो को रोक सके वही परम बल है।

"मेरा ऐश्वर्य ही भग है। मेरी उत्तम भक्ति का प्राप्त होना ही परम लाभ है। आत्मा और परमात्मा मे भेद-बुद्धि का न रहना ही विद्या है तथा दुष्कर्म से दूर रहना ही लज्जा है।" ॥४०॥

मेरा ऐश्वर्य ही **भग** है। ससारिक ऐश्वर्य, पद, सत्ता, धन, वैभव तुच्छ व क्षणिक भग है, मेरा भग ही चिरजीवी है। अत. वही वास्तविक व उपादेय है। मेरी महानता, विशालता, तेज, पराक्रम, सौन्दर्य, शोभा, औदार्य, मागल्य आदि तेजस्वी गुण ही भग कहलाता है।

मेरी भक्ति ही उत्तम लाभ है। धन, स्त्री, सत्ता, पद, मान, आदि का लाभ थोथा है। क्योकि अन्त मे इनकी आसक्ति मनुष्य को डुबोती ही है। मेरी भक्ति, जिसमे सब तरह की शान्ति, सुख, आनद, तृप्ति, समाधान, सन्तोष भरा हुआ है, वही सच्चा लाभ है।

लौकिक व भौतिक विद्याए अनेक हैं। विद्याए चौदह व कलाए चौंसठ मानी गई है। इनमे निपुणता से अनेक सासारिक सुख, चमत्कार, प्रभाव आदि प्राप्त होते है। पर वे निरर्थक व तुच्छ है, क्योकि शरीर के साथ ही यहा रह जाते है। अन्त तक साथ नही देते और पारस्परिक अशान्ति, कलह तथा दु ख के कारण भी होते हैं। इन लौकिक विद्याओ की वजह से, इनका ठीक-ठीक उपयोग व मेल न बैठा पाने से ही व्यापारिक प्रतिस्पर्धा, औद्योगिक ईर्ष्या, राष्ट्रीय व आन्तरिक कलह ससार मे पैदा होते व बढते है। अत वास्तविक विद्या उसीको समझना चाहिए जो ससार के भेद-प्रभेदो मे अभेद-भाव, एकता, सामजस्य, मेल बैठा सके। बल्कि जो आत्मा व परमात्मा मे भी एकता को देखे व बतावे।

दुष्कर्मो से दूर रहने की वृत्ति का नाम लज्जा है।

"निरपेक्षता आदि गुण ही श्री हैं, सुख-दुःख से परे हो जाना ही परम सुख है। विषय-सुख की अपेक्षा ही दुःख है और जो बन्ध और मोक्ष को जानता है वही पंडित है" ॥४१॥

लक्ष्मी, धन-सम्पत्ति नही, बल्कि निरपेक्षता आदि वास्तविक श्री हैं। जिन्हे किसीसे कोई अपेक्षा या चाह नही है वे ही वास्तव मे धनी व श्रीमान हैं। सुख-दुःख से परे हो जाना ही परम सुख है। शारीरिक या भौतिक या सासारिक विषय-सुख के पीछे दुःख लगा ही हुआ है। अतः वह असली सुख नही। इन दोनो का प्रभाव जब मन पर न पडे तब वही परम सुख की अवस्था है। विषय-सुख की चाह ही वास्तविक दुःख समझो, क्योकि उसीके फल-स्वरूप नाना दुःखो की प्राप्ति होती है। इसी तरह जो बंध व मोक्ष दोनो को, दोनो के स्वरूप व उपायो को जानता है वही पंडित है। कोरे शास्त्रो या भिन्न-भिन्न विषयो के ग्रन्थ पढ लेने से कोई पंडित नहीं हो सकता वह तो नाम का पंडित है। किन्तु जो ससार के तमाम दुःखो, कष्टो, व बंधनो से छुटकारे का उपाय जानता है वही पंडित है। दूसरा पांडित्य केवल पेट भरने के लिए ही है, ऐसा समझना चाहिए।

"देह आदि मे अहंबुद्धि रखनेवाला ही मूर्ख है। जिससे मेरी प्राप्ति होती है वही वास्तविक मार्ग है। जिससे चित्त मे विक्षेप हो वह कुमार्ग और सत्व गुण का उदय होना ही स्वर्ग है" ॥४२॥

शरीर मे अहंभाव रखना, यह समझना कि शरीर मैं हू, आत्मा नही, मूर्खता है, पुस्तको को न पढ पाना, परीक्षाओ मे उत्तीर्ण न हो पाना नही। यदि इस शरीर की असलियत पर ध्यान दो तो यह बात तुरन्त ध्यान मे आ जायगी। देखो, शरीर का जन्म वीर्य व रज के सम्मिश्रण से होता है। वह गर्भाशय मे रहता है व योनि के द्वारा बाहर ससार मे आता है। यह सब गंदगी का ही राज्य है। फिर शरीर की खाल के भीतर भी तमाम गंदगी ही भरी है। मरने पर भी शरीर अशौच ही हो जाता हैं। उसमे सडन-क्रिया शुरू हो जाती है। ऐसे इस अस्थि-चर्म, विष्ठा-मूत्र आदि से भरे देह का जो अभिमान रखता है, उसे मूर्ख नही तो क्या कहे ?

जिससे मेरी प्राप्ति होती है वही सच्चा मार्ग है, न कि अनेक मत-मतान्तर, जो नाना प्रकार के वाद और मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। जिससे चित्त गलत रास्ते चला जाय, इधर-उधर भटकता फिरे, वही कुमार्ग है। गुरु की, देवताओ की, बडो की, सज्जनो की जो निन्दा करता है, जो हित की व ज्ञान की

बातो को नही मानता है, जो गुरुजनो व भले आदमियो से मत्सर, द्रोह करता है, जो अपने सुहृदयजनो, आप्त-इष्टो पर क्रोध करता है, जो माता-पिता का अनादर व धिक्कार करता है, जो मान-सम्मान का भूखा है, जो हर जगह दोष, बुराई, ऐब ही देखता है, जिसे झूठ-निन्दा, चुगली, जाल-साजी प्रिय है, जो सन्मार्ग से भटक गया है, उसे विक्षिप्त या भ्रमित चित्त समझो। और स्वर्ग-लोक के नाम से जो प्रसिद्ध है वह वास्तविक स्वर्ग नही बल्कि सत्व गुणो का उदय व उत्कर्ष ही सच्चा स्वर्ग है। यह मानना कि मैं तत्वत परब्रह्म हू, इस चेतना के साथ लोक-व्यवहार करना सन्मार्ग है और इसके विपरीत व्यवहार कुमार्ग समझना चाहिए। इसी तरह जो शुद्ध सत्व मे स्थित हो गये है, घुल-मिल गये है, सत्वमय बन गये हैं समझो कि वे स्वानन्द सुख को पा गये। यही उनका सच्चा स्वर्ग है।

"तमोगुण का बढ़ना ही नरक है; तथा हे मित्र, गुरुरूप से मै ही बन्धु हूं। मनुष्य-शरीर ही घर है और गुणवान ही सच्चा धनवान है"॥४३॥

अज्ञान व अन्धकार की बढती को ही नरक समझना चाहिए। दूसरा नरक तो कल्पना-मात्र है। अपढ व अशिक्षित लोगो को बुरे मार्ग से बचाने के लिए भय प्रदर्शन है। देखो काम, क्रोध व लोभ ये तीन तम के द्वार है। इनका उभाड ही अन्धकार व नरक है। ये मनुष्य के ज्ञान व विवेक को दबा व डुबा देते है। ये एक-से-एक बढकर तमोगुण मे प्रवृत्त करते हैं। काम से ही क्रोध व लोभ की उत्पत्ति होती है। अरुणोदय के समय यदि गहरा कुहरा पड जाय तो सहसा पता नही लगता कि दिन हुआ है या रात। ऐसे ही इन तीनो के प्रभाव से चित्त मे अन्धकार छा जाता है, जिससे ज्ञान-अज्ञान, विवेक-अविवेक, भला-बुरा, हानि-लाभ का विचार करना असम्भव हो जाता है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म कुछ नही सूझ पडता। यम के बनाये उस नरक से यह तम-रूपी नरक महा भयकर है। यम-यातना का अनुभव तो उस नरक मे जाने से ही होता है, परन्तु काम, क्रोध, लोभ-रूपी तम तो इस शरीर मे ही नरकवास का दुख भुगतवाते है। फिर नरकवास से पाप क्षीण हो जाते है व अच्छी गति की आशा हो सकती है, परन्तु यह तम-रूपी नरक तो उलटा अधिक ही अन्धकार व दुख मे गिराता है। फिर अकेला काम ही क्या कम भयकर है! उसके साथ यदि क्रोध व लोभ भी जुड गये तो "एकैकप्यनर्थाय किमुयत्र चतुष्टय" जैसी स्थिति हो जाती है। इन तीनो का सगठन जिस पुरुष मे एकत्र देखो उसे प्रत्यक्ष नरक ही समझो।

नरक या तम की ऐसी भयकरता समझकर उद्धव के मन मे चिन्ता हुई कि अब इससे उद्धार कैसे हो ? तो भगवान ने बताया कि गुरु ही इसमे हमारा सहायक हो सकता है। हमारा सच्चा बन्धु, मित्र, सहायक गुरु के सिवा दूसरा नही है। दूसरे बन्धु-बान्धव प्राय स्वार्थ का रिश्ता रखते हैं, निदान स्वार्थ से अछूते बहुत कम देखे जाते है, परन्तु गुरु नि स्वार्थ, अहैतुक बन्धु है। डूबतो का उद्धार गुरु ही करते हैं। जो ऐसा कर सकते हैं वही सच्चे गुरु हैं। उन्हे भगवान से भी बढकर समझो, क्योकि भगवान तो अपने स्वरूप मे, निजानन्द मे, लीन रहता है। वह खुद किसीको अपना ज्ञान कराता नही, उसका ज्ञान गुरु ही कराते हैं। तत्वत भी गुरु परमात्मा ही है। परन्तु गोविन्द का ज्ञान करा देने की महत्ता व विशेषता भी उसमे है। उन्होंने ज्ञान व स्वानुभव के बल पर यदि यह न बताया होता तो भगवान को कौन जान सकता था ? जीव के स्वतन्त्र होने की, दु खो से या जन्म-मरण के सम्बन्ध से छूटने की विद्या या मार्ग गुरु से ही मिल सकता है। वह शिष्य को अपनी सारी पूजी, सम्पत्ति, शक्ति, ज्ञान, सिद्धि अनुभव देकर उसे अपना-सा ही नही, अपने से भी बढकर बना देता है। अत ससार मे पीडित, दुखित, वन्चित, सत्रस्त लोगो का सहायक, सखा, बन्धु गुरु ही है।

अब घर का अर्थ सुनो। बडे महल, भवन, हवेलियो को घर समझना भूल है। ये तो खोखे हैं। कोरी ऊपर की शोभा व शानो-शौकत है। वास्तविक घर तो मनुष्य-देह है, जिसमे खुद मेरा निवास है। इसकी रचना व कारीगरी दुनिया के तमाम भव्य भवनो व गगनचुम्बी महलो से अद्‌भुत है। इसके ही द्वारा मनुष्य स्व-धर्म व स्व-कर्तव्य का पालन कर पाता है, जिससे वह आत्मा-राम की प्राप्ति कर लेता है। इस नर-देह के लिए देवता भी तरसते हैं। नर-देह की ही बदौलत मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

गुणवान ही सच्चा धनवान है। जो ज्ञान व गुण मे सम्पन्न है वही वास्तव मे धन-सम्पन्न है। ज्ञान-गुण-रूपी धन कल्पान्त तक भी नही नष्ट होता। दूसरा धन, रुपया-पैसा, जमीन, पशु, मकान आदि नश्वर होने से तुच्छ है। यह धन अध पात की ओर ले जाता है, वहा ज्ञान-गुण-रूपी धन की सम्पन्नता मनुष्य को परब्रह्म तक पहुचा देती है।

"जो असन्तुष्ट है वही निर्धन है। जो अजितेन्द्रिय है वही कृपण (दीन) है। जो विषयो मे अनासक्त है वही ईश्वर अर्थात स्वाधीन है और इसके विपरीत जो

विषयी है वही अनीश्वर अर्थात पराधीन है। इसी प्रकार अशम आदि अन्य विपर्ययो के विषय में समझना चाहिए" ॥४४॥

जो असन्तुष्ट है उसे **दरिद्री** समझो। करोडो की धन-सम्पत्ति रहते हुए भी जो अतृप्त है वह दरिद्री है। लेकिन जिसके पास चाहे फूटी कौडी न हो, फिर भी मन जिसका भरा रहता है वही ससार मे सबसे अधिक सम्पन्न है। इसी तरह उसे भी दरिद्री समझो, जो धन-दौलत के रहते हुए भी न खुद खाता है, न पहनता है, बल्कि लोभ से गाठ बाधकर उसे रख छोडता है। असल मे दरिद्रता धन से नही, मन से सम्बन्ध रखती है।

अब **कृपणता** का लक्षण सुनो। जो अपनी इन्द्रियो के अधीन है वही कृपण अर्थात दीन है। जो राजा अपने प्रभुत्व व ऐश्वर्य को भूलकर दास-दासियो के अधीन हो जाता है वह दीन है। उसी तरह जिसका मन अपनी इन्द्रियो का किकर हो जाता है वही कृपण है। यह पराधीनता ही सबसे बडी कृपणता है।

इसके विपरीत **ईश्वर** अर्थात स्वाधीन वह है, जो विषयो मे अनासक्त है। कनक और कामिनी ये दो मनुष्य को सबसे अधिक विषयो मे बाधते हैं। जो इनके मोह मे जरा भी नही फसता वही ईश्वर है। ससार की सारे प्रदेश की प्रभुता प्राप्त करने मे मनुष्य को इतना प्रयास व पुरुषार्थ नही करना पडता, जितना कनक व कामिनी पर प्रभुत्व प्राप्त करने मे करना पडता है। स्त्रियो के सहवास मे भी जिसका मन उत्तेजित नही होता, जिसके शरीर मे भी कोई विकार नही पैदा होता, धन-सम्पत्ति का स्पर्श करते ही जिसके हाथ-पाव ऐंठने लगते हो, या ऐसा अनुभव होता हो मानो मिट्टी-पत्थर रख दिया हो तभी इस अवस्था मे पहुचा कहा जा सकता है। जो इसके विपरीत है अर्थात कचन-कामिनी का नाम सुनते ही जो फिसल जाता है वही अनीश्वर है। यही बात अशम आदि अन्य विपर्ययो के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। शम आदि के जो लक्षण मैंने बताये है, उनके उल्टे लक्षण या व्याख्या अशम आदि की समझना चाहिए।

"हे उद्धव, इस प्रकार तुम्हारे समस्त प्रश्नो का मैने भली-भाति निरूपण कर दिया। और गुण-दोष के लक्षणो का अधिक क्या वर्णन किया जाय, इतने ही मे समझ लो कि गुण-दोष का देखना ही दोष है और इन दोनो का न देखना ही गुण है" ॥४५॥

ऊधो, तुम्हारे सब प्रश्नो का उत्तर मैंने इस तरह से दिया है जिसके पालन से

'नर' 'नारायण' हो सकता है। ससार मे गुण-दोष तो भरे ही हुए हैं। उनके लक्षणो का अन्त नही। अत बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि गुण-दोष के विषय मे मौन ही रहे। अच्छी बात तो यह है कि दूसरो के दोष व अपने गुण कभी कानो से न सुने। न आखो से किसीके दोष देखे, न उन्हे मन मे लावे।

ब्रह्म-ज्ञान का मुख्य लक्षण यही है कि मनुष्य गुण-दोष-भेद से ऊपर उठ जाय। वह व्यक्ति-मात्र मे एक ही जीवात्मा के दर्शन करना सीखे, जो ससार के भेद-भावो, गुण-दोषो से परे है। देखो, एक परब्रह्म ही परिपूर्ण, निर्गुण या गुणातीत है। उसमे किसी गुण की सभावना नही है तो फिर दोषो की तो बात ही क्या ? वह स्वय गुणी या दोषी नही है, अलबत्ते सब गुण-दोष उसके आश्रय मे रहते है। उसमे जो गुण-दोष का उद्भव होता है, या भास होता है उसका कारण अविद्या है। यह मर्म न समझ पाना है कि इन भेदो का सम्बन्ध ब्रह्म के तत्व-रूप से नही है, कलेवर, शरीर या बाह्य रूप से है, जिसे विश्व कहते हैं। जैसे शरीर मे अनेक अग व अवयव है, परन्तु जीव सबमे एकरस, एक-रूप है, वैसे ही इस विश्व-शरीर मे, जो नाना भेदरूपी अवयवो से युक्त है, ब्रह्म या परमात्मा रूपी तत्व एक-रस, एक-रूप से निहित है। अत जो इस मूल तत्व या ज्ञान को भुलाकर स्वत परमात्मा मे गुण-दोष देखने लगता है, या जगत के गुण-दोषो मे रस लेने लगता है वह ब्रह्मज्ञान या सत्यज्ञान से दूर है।

ऊधो, ससार मे सबसे महादोष है दूसरो के गुण-अवगुणो को देखना व उनकी चर्चा करना व करते रहना। जैसे राहु जब रविबिम्ब को ग्रस लेता है तब चारो ओर अधकार हो जाता है व कुछ नही दिखाई पडता, वैसे ही जब अविद्या या अज्ञान मनुष्य की बुद्धि को ग्रस लेता है तब उसे ब्रह्म का सच्चा रूप नही दिखाई पडता। एक मनुष्य ही क्या, चौरासी लाख योनि मे किसीका भी गुण-दोष देखने की वृत्ति जब मनुष्य मे न रह जाय तब समझो कि वह नित्य मुक्त है।

अब अगर यह कहो कि अपने आचार-व्यवहार को ठीक रखने के लिए गुण-दोष-दृष्टि न रखी जाय, अच्छे-बुरे का खयाल न किया जाय तो कैसे चलेगा ? तो उद्धव, मेरा कथन यह है कि यह विचार-पद्धति गलत है। अपने दोषो व बुराइयो को दूर करने के लिए तो अपने निश्चित कर्म या धर्म का पालन ही उचित व काफी है। उसके लिए दूसरो के गुण-दोष देखने के फेर मे पडना तो नगा होकर बाजार मे दौडने जैसा है, मेहनत से तैयार की गई फसल को जला डालने जैसा

है। क्योकि दूसरो का दोष या बुराई देखने के लिए पहले अपनी दृष्टि व वृत्ति को दोषमयी बनाना पडता है। अत पहले तो हमे ही बुराई को अपनाना पडता है, यह हमारी ही हानि हुई।

फिर स्व-धर्म या स्व-कर्त्तव्य का पालन भी, अगीकृत कार्य मे ससार मे एक नट की भावना से करना चाहिए। तभी वे हमारे दोष-बुराई को मिटाने मे समर्थ होंगे। नट नाना वेश मे हाव-भाव दिखाता है, परन्तु ये सब ऊपरी, बनावटी होते है। दूसरो के आचरण, गुण-दोष, निन्दा-स्तुति पर दृष्टि-पात न करते हुए अपने कर्तव्य या धर्म-पालन मे लगे रहना ही कर्म-मल को मिटाने का उपाय है। इसीसे साधक अपने उच्च लक्ष्य को, स्वानद व स्वपद को प्राप्त कर सकता है। उद्धव, गुण-दोषो का सबध शरीर से है, आत्मा से नही। अत साधक को गुण-दोष देखने के चक्कर मे न पडना चाहिए। सिद्ध तो इससे परे ही रहता है। परन्तु यदि वह भी ऐसी दृष्टि से दुनिया को देखने लगे तो समझो कि उसकी गिरावट शुरू हुई। सिद्ध की कमाई व सिद्ध की सिद्धि दोनो इससे डूब जाती है। इस तरह यह गुण-दोष-दृष्टि दोनो के लिए सकट उत्पन्न करती है। तुम गुण-दोष कहातक देखोगे ? सारी सृष्टि ही गुण-दोषो से भरी हुई है।

तुमने जो प्रश्न पूछे थे उनका अक्षरार्थ मैंने नही बताया है। उनका तात्पर्य जो मुझे प्रिय है वह मैंने कहा है। जिन्होने अक्षरार्थ किया है, सम्भव है उनसे यह आशय जुदा पड जाय, तुम चूकि सब बातो का मुख्य सार, आशय ही समझना चाहते हो, न कि पाण्डित्य-प्राप्ति, इसीलिए मैंने तुम्हे यह मार्मिक अर्थ बताया है।

: २० :

ज्ञान, कर्म, भक्ति

[इसमे अधिकार या पात्रता के अनुसार ज्ञान, कर्म, या भक्ति का निरूपण किया गया है। वुद्धि-प्रधान के लिए ज्ञान, क्रियाशील के लिए कर्म तथा भावनाशील के लिए भक्ति-मार्ग उपयुक्त है—ऐसा प्रतिपादन किया गया है। अन्त मे तो सबको भगवद्-भाव मे लीन हो जाना है—व्यष्टि को समष्टि मे घुल-मिल जाना है। परन्तु साधना-काल मे व्यक्ति की योग्यता के अनुसार साधना का आश्रय लेना लाभदायी होता है]

उद्धव बोले—"हे कमलनयन, आपकी आज्ञारूप श्रुतिया विधि-निषेध रूप होने से कर्मों के गुण और दोषो को देखती हैं"॥१॥

यह सुनकर उद्धव वोला—यदि गुण-दोष इतने है और इस तरह निषिद्ध हैं तो फिर, हे गोविंद, आपने ही वेद-शास्त्रो के द्वारा इनका विवेचन क्यो किया ? कर्मों के गुण-दोष उन्हीमे तो वताये गए है।

"वह वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोमज और अनुलोमज, तथा द्रव्य, देश, काल, अवस्था, स्वर्ग और नरक का भी विचार करती ही हैं"॥२॥

"तथा आपका विधि-निषेधमय वाक्यरूप वेद भी बिना गुण-दोषमयी भेद-दृष्टि के किस प्रकार मनुष्यो का कल्याण कर सकता है?"॥३॥

खुद आपकी वेद-वाणी ने ही तो गुण-दोषो का खजाना ससार के सामने उपस्थित किया है। अधम, मध्यम, उत्तम का यह भेद शास्त्रकारो का ही तो किया हुआ है। वर्णाश्रम-भेद आप ही का तो बनाया व बतलाया हुआ है। अमुक द्रव्य विहित है, अमुक अविहित, अमुक देश पवित्र, अमुक अपवित्र, अमुक काल अच्छा अमुक वुरा—ये भेद किसने वताये ? चित्त की विभिन्न अवस्थाए—वचपन मे निश्चिंतता, युवावस्था मे कामासक्ति, बुढापे मे विरक्ति की ओर प्रवृत्ति और

इनको जानने की बुद्धि किसने दी ? वर्णाश्रम मे भी तो प्रतिलोमज व अनुलोमज[1] भेद-भाव किसने उत्पन्न किये ?

इस गुण-दोष-भेद के बदौलत ही ससार मे छोटे-बडे कलह होते हैं और आपकी वेदवाणी ही इसकी जिम्मेदार है। वेद-शास्त्र विधि-निषेधात्मक वाक्यो व वचनो से भरे पडे है। अत अब किसे प्रमाण माना जाय ? आप जो अभी बता रहे है वह सच है या वेदादि के द्वारा जो आपने विचार प्रदर्शित किये है वे सच हैं ? इस सशय को दूर कीजिए। सज्ञान पुरुष भी इससे चक्कर मे पड जाता है, फिर साधारण लोगो की तो क्या कथा ? ये विधि-निषेध भी तो वेद-शास्त्रो ने मनुष्य के कल्याण ही के लिए बनाए हैं।

"हे स्वामिन्, अदृष्ट स्वर्ग, अपवर्ग आदि तथा साध्य-साधन के विषय मे आपका वेदवाक्य ही पितृगण, देवगण और मनुष्यो का श्रेष्ठ नेत्र है" ॥४॥

"हे प्रभो, यह गुण-दोष-मयी भेद-दृष्टि तो आपकी आज्ञा-रूप श्रुति से ही प्राप्त होती है। यह स्वतःसिद्ध नहीं है, तथापि श्रुति से ही भेद-दृष्टि का बोध भी होता है, अत मुझको भ्रम हो रहा है" ॥५॥

मनुष्य, पितर व देव तीनो के श्रेष्ठ नेत्र आपके वेद ही है। इन्ही ज्ञान-नेत्रो से वे साध्य तथा साधन के या अदृष्ट-स्वर्ग-अपवर्ग आदि के स्वरूप को देखते है।

यह गुण-दोष-भेद-दृष्टि मनुष्य के मन मे स्वत नही उत्पन्न होती। आपके वेद-ज्ञान से ही पैदा होती है। वेद आपकी वाणी, आपकी आज्ञारूप है। फिर इस भेद-दृष्टि का निवारण श्रुति से ही किया जाता है। अत. आपके इन वचनो मे जो परस्पर-विरोध है, उससे मेरा मन भ्रमित हो जाता है। तो इसे दूर करने की कृपा कीजिए।

श्री भगवान ने कहा—"हे उद्धव, मनुष्यो का कल्याण करने के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग ये तीन योग मैंने बताये हैं। इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है" ॥६॥

---

१. प्रतिलोमज—नीच जाति के पुरुष से उच्च जाति की स्त्री मे उत्पन्न हुई सन्तान। जैसे—सूत, वैदेह, मागध आदि।

अनुलोमज—उच्च जाति के पुरुष से नीच जाति की स्त्री में उत्पन्न हुई सन्तान। जैसे—अम्बष्ठ, कायस्थ, आदि।

तव श्रीकृष्ण ने कहा कि मेरी वेदवाणी गूढ है। उसका रहस्य मेरी कृपा के विना समझ मे नही आ सकता, भले ही कोई कितना ही विद्वान क्यो न हो जाय। सात्विक बुद्धि के विना वेदशास्त्रो का ज्ञान-मार्ग सहसा नही जाना जा सकता। इनमे जो परस्पर-विरोधी वचन दीखते हैं वे अधिकार-भेद से कहे गये हैं। जो उपाय मूर्ख के लिए है वही विद्वान के लिए नही बताया जा सकता। आखवाले को जिस तरह जो वात दिखाई जाती है उसी तरह विना आखवाले को नही। उसके लिए अलग ही उपाय करने पडते है। इसी तरह मनुष्य की चित्तवृति या अधिकार-पात्रता को देखकर उसके लिए मैंने भिन्न-भिन्न श्रेय या साधना-मार्ग निश्चत किये है। वे तीन प्रकार के हैं— ज्ञान,[1] भक्ति व कर्म, इनको छोडकर

---

१. समर्थ रामदास ने ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

जहा प्रकृति व उसका सब कार्य लय पाता है वह सच्चा ज्ञान है। दूसरो के मन की बात जानना आत्मज्ञान का लक्षण नहीं। ज्ञान का अर्थ है आत्म-ज्ञान, स्वय अपनेको देखना। नित्यानित्य विचार से अनित्य को त्यागना व नित्य स्वरूप को पहचानना ज्ञान है। दृश्य प्रकृति का जहा लय होता है, पचभूतो का कार्य, सम्पूर्ण द्वैत नष्ट हो जाता है, वह ज्ञान है। मन, बुद्धि जहा नहीं पहुच सकते, तर्क जहा से लौट आता है, जो परा वाणी से परे है, वह ज्ञान है। जहा दृश्य का भाव नहीं रहता, मैं ब्रह्मरूप हू, यह ज्ञान भी अज्ञान का लक्षण समझा जाता है, उस शुद्ध स्वरूप को ही ज्ञान कहते हैं। सर्वसाक्षिणी तुरीयावस्था ही ज्ञान है। दृश्य पदार्थ को जानना पदार्थ-ज्ञान है, शुद्ध स्वरूप को जानना स्वरूप-ज्ञान है।

योगदर्शन मे ज्ञान की सात सीमाए बताई गई हैं—(तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।)

(१) जीवन-तत्व-सम्बन्धी ज्ञान; (२) जीवन को जकडने और छुडाने-वाले सस्कारो का ज्ञान; (३) दु.खनाशक और समाधानकारक सपत्तियो का ज्ञान, (४) कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान; (५) समाधानकारक चित्त के भावो का ज्ञान; (६) दु खकारक चित्त के भावो का ज्ञान और (७) नित्यानित्य-विषयक ज्ञान।

सक्षेप मे मानव-जीवन के तात्त्विक प्रश्नों का ज्ञान।

इन ज्ञान-भूमिकाओ की प्राप्ति का फल यह बताया गया है—

मोक्ष या श्रेय-प्राप्ति का कोई उपाय नही है। जितने उपाय है वे सब इन तीनो के अन्तर्गत है।

"कर्मों से विरक्ति होकर उनका त्याग कर देनेवाले पुरुषो के लिए ज्ञान-योग है और जिनको उनमे वैराग्य नहीं है उन सकाम पुरुषो के लिए कर्मयोग है" ॥७॥

कर्म मे जिनकी प्रवृत्ति नही है, या कर्म से जिसे विरक्ति हो चुकी है, जो बुद्धिशाली, विचारशील व चिन्तनशील है, उनके लिए मैंने ज्ञान-योग का विधान किया है। वे पठन, चिन्तन, मनन, अध्ययन के बल पर बुद्धि को सात्विक बनाते हुए परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते है व फिर उसीमे स्थिर रहने का प्रयत्न करते है। किन्तु जो विविध कामनाओ मे लिप्त है, व कर्म अथवा विषयो से जिनके मन मे विराग नही हुआ है, उनके लिए कर्मयोग बताया है। जो जिसका अधिकारी है उसीके अनुरूप मैंने साधना-विधान किया है।

"इनके अतिरिक्त सौभाग्यवश जिसे मेरी कथा-श्रवण आदि से श्रद्धा हो गई है तथा जो न अति विरक्त है और न अति आसक्त उस पुरुष के लिए भक्तियोग ही सिद्धिदायक है" ॥८॥

अब सौभाग्यवश मेरे कथा-कीर्तन मे जिसे श्रद्धा हो गई है, जो न अति विरक्त है, न अति आसक्त, दोनो के मध्य मे जिसकी स्थिति है, जो भावुक व प्रेमपूर्ण हृदय रखता है, जिसमे बुद्धि का अत्यधिक विकास नही हो पाया है, उसके लिए साधारणत भक्ति-योग ही सिद्धिदाता है।

ऊधो, मेरा कथा-कीर्तन तो बहुतेरे लोग सुनते हैं। महापुरुषो व सत्पुरुषो के जीवन-चरित्र पढते व उनकी सगति भी करते है, परन्तु उनमे थोडे ही ऐसे लोग होते हैं जिनमे वास्तविक रुचि व श्रद्धा उत्पन्न होती है। ज्यो-ज्यो उन विषयो की चर्चा सुनते है त्यो-त्यो जिनकी रुचि व उल्लास बढता है, उन्हे श्रद्धावान समझना चाहिए। इसके फलस्वरूप विषय-भोगो से, कामिनी-काचन से, जिनके मन मे अरुचि उत्पन्न होने लगी है, अभी पूरा वैराग्य नही प्राप्त हुआ है, बिच्छू के डक की तरह दुखदायी नही मालूम होने लगे है, ऐसे व्यक्ति भक्तियोग के अधिकारी है।

---

(१) जीवन के अन्तिम ज्ञेय की प्राप्ति; (२) मुक्ति; (३) शान्ति; (४) कृतकर्तव्यता; (५) दु.खनाश; (६) भयनाश, और (७) आत्म-स्थिति। समस्त विद्याओ का प्रयोजन ये सात ही फल हो सकते हैं।

इस प्रकार यह ज्ञान-कर्म उपासना-रूपी त्रिविध योग है। इनमे जो कर्म-मार्ग का अधिकारी है उसके लिए गुण-दोष को देखकर चलना जरूरी हो जाता है। जो विरक्त व ज्ञान का अधिकारी है वह गुण-दोष से परे होता है। उसके लिए सारा ससार ब्रह्ममय होता है। तो फिर वहा गुण-दोष की भेद-दृष्टि की गुजर कहा ? अब जो मेरे भक्त हैं वे आरम्भ मे तो गुण-दोष देखते हैं, परन्तु उन्हे विवेक-पूर्वक छोडते जाते हैं और जब वे यह अनुभव करने लगते हैं कि सब भूतो मे भूतात्मा रूप से एक मैं ही परमेश्वर निवास करता हू, तो फिर गुण-दोष-दृष्टि छोड देते हैं, क्योकि जो भजननिष्ठ राजहस-रूपी भक्त हैं उनके पास गुण-दोष दृष्टि नही टिक पाती। शास्त्रो मे जो गुण-दोष बताये है, वे दोषत्याग मे सहायक होने की दृष्टि से है। शास्त्रो मे ऐसा कही नही कहा गया है कि दूसरो के गुण-दोष देखना व उनकी चर्चा करना मनुष्य का कर्तव्य है।

ऊधो, इसमे एक और गहरी बात है, सो समझ लो। जो दूसरो के दोष देखता है, कुरेदता है, उनकी चर्चा करता है, उन्हे फैलाता है, वह उत्तरोत्तर उनके दोषो व पापो का हिस्सेदार होता जाता है। उस अश तक वे पाप व दोष उसके साथ चिपकते जाते हैं। उसके अदर वह दोष-वृत्ति जगती है व सामनेवाले के उन दोषो को अपनी ओर खीचती जाती है। इससे उसके दोष का भार तो कम होता जाता है व हमारा बढता जाता है। उन दोषो की चर्चा व प्रसिद्धि से सामनेवाले मे दोष छोडने की तो प्रवृत्ति होती नही, उल्टे हम उस दोष मे लिप्त होते जाते है। यदि सामनेवाला इससे अधिक निर्लज्ज हो गया तो भी हम पाप-भागी बने। अत किसीके दोष हमे उसी समय देखना चाहिए, जब उसने यह जिम्मेवारी हमको सौप दी हो।

"जबतक कि कर्मों से वैराग्य न हो अथवा मेरी कथा आदि के श्रवण-कथन मे श्रद्धा न हो तबतक कर्मों को करता रहे" ॥९॥

मनुष्य कर्म-योग मे तबतक लगा रहे, जबतक चित्त सात्विक न हो, शुद्ध न हो, विषय-भोगो से विरक्त न हो व जबतक मेरे कथा-कीर्तन, निष्काम भाव से सेवा-परोपकार के काम करने मे रुचि उत्पन्न न हुई हो। उसके बाद कर्म-योग उसके लिए लाजिमी नही रह जाता। वह कर्म-काड छोड दे तो उसे दोष नही लगता। जब मेरे कथा-कीर्तन-भजन मे, सेवा-कार्यो मे हृदय से उत्साह व उल्लास प्रतीत हो, शरीर व घर-बार की सुधि भूलने लगे, इन सबसे अधिक प्रिय व महत्व

की बात वही मालूम होने लगे तब समझो कि उसके कर्म-फल कट रहे है, चित्त शुद्ध और एकाग्र हो रहा है।

"हे उद्धव, जो पुरुष स्वधर्म का पालन करता हुआ कर्म-फल की आशा न रखकर यज्ञादि कर्म करता रहता है और निषिद्धकर्म न करे तो वह न स्वर्ग को जाता है न नरक को"॥१०॥

इस तरह जो कर्म-फल की आशा न रखकर यज्ञादि करते हैं, स्वधर्म व स्वकर्तव्य मे दत्तचित्त रहते हैं, वे न स्वर्ग को जाते है, न नरक को। इसमे शर्त यही है कि वह न तो काम्य कर्म करे न निषिद्ध ही।

काम्य कर्मों से बचने के लिए पहले पर-द्रव्य, पर-दारा, पर-निन्दा से बचने का यत्न करना चाहिए। यही मनुष्य को दु ख के गर्त मे ले जानेवाले है। इसी तरह भौतिक सुख, स्वर्ग-सुख आदि की रुचि से भी अपनेको बचाना चाहिए, क्योकि ये सुख भी शुरू मे ही आनन्ददायी मालूम होते है। पीछे तो दु ख व पतन के ही कारण मालूम होते हैं। अत इन दोनो स्थितियो से बचने के लिए कर्म मात्र ईश्वर प्रीत्यर्थ या सेवा-परोपकारार्थ करना चाहिए।

"वह स्वधर्म मे तत्पर रहनेवाला पुरुष निष्पाप और पवित्र होकर इसी लोक मे रहते हुए अपने प्रारब्धानुसार या तो विशुद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है या मेरी भक्ति पाता है"॥११॥

वह स्वधर्म-तत्पर-पुरुष इसी लोक या योनि मे रहते हुए, या तो विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त करता है या मेरी भक्ति का अधिकारी होता है। यह गति उसके प्रारब्ध पर अवलम्बित रहती है। इसमे शर्त इतनी ही है कि वह निष्पाप होकर पवित्र भाव से अपना कर्त्तव्य-पालन करे। उसकी निर्मलता से केवल उसके पाप ही नही भस्म होते, बल्कि पुण्य भी विलीन हो जाता है। मुक्ति या आत्मनिष्ठा के लिए पुण्य भी बाधक होता है, क्योकि उससे स्वकर्मोचित सुख की प्राप्ति होती है। जहा सत्कर्म से पुण्य प्राप्त होता है, तहा निष्काम कर्म से चित्त-शुद्धि होती है। जब चित्त शुद्ध होता है तो उसमे मेरा शुद्ध ज्ञान उदय होता है। अथवा यदि भावुकता, प्रेम, मृदुलता के पूर्व सस्कार प्रबल हो तो मेरे भजन मे—भक्ति मे रुचि हो जाती है। भक्ति की महिमा कम नही। मैं खुद सदा भक्ताधीन रहता हू। यदि भक्ति सच्ची हो तो मोक्ष-हित स्वत ज्ञान उसके घर अपने-आप खिचा चला आता है। ससार व उसके विषय-भोग ही महादुख के कारण होते है। इनसे छुटकारे का नाम ही

मोक्ष है। मेरे भक्त के विषय-भोग अपने आप ही छूट जाते है। अत मुक्ति उसके हाथ मे ही रक्खी हुई है। जो स्वत दु ख, पतन, यातना है वह भी भगवद्-भक्त के लिए मेरा ही स्वरूप है। अव उसे दु ख व भय कहा हो ? वह तो एक मात्र परम सुख का अधिकारी हो गया। सुख भी उसके लिए परमेश्वर से भिन्न नही, अत वह सुख दु ख से परे अपने-आप हो जाता है। और यही स्थिति तो ज्ञानी भी प्राप्त करता है।

"स्वर्गवासी देवगण और नारकी जीव दोनों ही इस मनुष्य-देह की इच्छा करते हैं, क्योकि यह ज्ञान और भक्ति के द्वारा मेरी प्राप्ति का साधक है और वे दोनो (स्वर्गीय एव नारकीय) देह मेरी प्राप्ति के साधक नहीं हैं" ॥१२॥

ऊधो, नरदेह की वडी महिमा है। स्वर्ग व नरक दोनो के लोग इसकी चाह रखते है। स्वर्ग से सीधा कोई मुक्ति नही पा सकता। उसे नर-देह मे आना पडता है। व नरकवासी इसे चाहे तो स्वाभाविक ही है। इस पवित्र नर-देह को भक्ति व ज्ञान का आयतन ही समझो। इससे अविद्या की निवृत्ति होकर भगवद् प्राप्ति होती है। इस नर-देह को पाकर जिसने मनुष्यता को साध लिया वही सच्चा व यथार्थ नर है।

"किन्तु विवेकी मनुष्य को चाहिए कि न तो स्वर्गीय गति की इच्छा करे न नारकी गति की और न मनुष्य-शरीर की ही पुन प्राप्ति की इच्छा करे, क्योकि देह मे आस्था हो जाने से मनुष्य प्रमाद करने लगता हैं" ॥१३॥

अत जो वुद्धिमान हैं वे न तो स्वर्ग को चाहते हैं, न नरक को, और न इस मनुष्य-देह को ही फिर से प्राप्त करना चाहते हैं, क्योकि एक ओर जहा यह मोक्ष-सुख का साधक है तहा यह प्रमाद व पतन का भी साधन वन जाता है। यदि नर-शरीर मिल ही गया है तो वह उसका उपयोग आत्मप्राप्ति के लिए कर ले, परन्तु आगे फिर यही देह मिले, ऐसी चाह न रखे। मोक्ष से भी मेरी भक्ति को श्रेष्ठ माननेवाले भक्त जरूर फिर-फिर नर-देह चाहते है, परन्तु वह शरीर-सुख या विषय-भोग के लिए नही, केवल मेरे भजन, मेरी भक्ति, मेरी सेवा, मेरे जगत की सेवा के उद्देश्य से। यह तो केवल उनकी मानसिक अवस्था का सूचक है। परन्तु ऐसे भक्तो को छोडकर शेष लोगो के लिए तो यही उचित है कि फिर से नरदेह की चाह न करें, व इसीका ऐसा उपयोग करें जिससे जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाय। इसका

सबसे अच्छा उपाय यह है कि इस देह मे आसक्ति[1] रखना छोड दे। इसमे आसक्ति रखने से ही काम-क्रोध आदि विकार इसपर अपना प्रभाव जमाते है। मुझमे आसक्ति रखने से देहासक्ति सहज ही छूट जाती है। जसे एक गेहू से अनेक पक्वान्न वन जाते हैं, एक घन प्राप्त कर लेने से सकल सुख-साधन प्राप्त किये जा सकते है, वैसे ही मेरी भक्ति को अपना लेने से भक्ति व मक्ति दोनो दासी होकर रहने लगती हैं। अत देहाभिमान को छोड़ ही देना चाहिए। अभिमान तो ज्ञान का भी बुरा है। जिन्हे ज्ञानाभिमान ने पछाड दिया है उन्होने मानो महान दोषो को निमन्त्रण दे दिया है। अत सब प्रकार के अभिमानो को छोडकर इस नर-देह को ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति का साधक बना लेना चाहिए।

"देह-पात के पूर्व ही सावधानता-पूर्वक यह जानकर कि यह मनुष्य देह नाशवान होने पर भी परम पुरुषार्थ का साधक है, इस देह से अपुनर्भव रूप मोक्ष-प्राप्ति के लिए चेष्टा करे" ॥१४॥

यद्यपि यह नर-देह मर्त्य है, मरणशील है, अस्थि, चर्म, मल-मूत्र से भरा गन्दगी का घर है, तो भी परिपूर्ण ब्रह्मरूपी निर्मल फल भी इसीके द्वारा मिलता है। इस मम को समझकर मनष्य सदा जाग्रत व सावधान रहकर देहाभिमान से बचे व सदैव परमात्मा की प्राप्ति के लिए उद्योग करता रहे। किस समय मौत आ जायगी, इसका ठिकाना नही। अत जो कुछ सत्कर्म करना हो, भजन-पूजन, सेवा-तप-परोपकार करना हो वह कर डालना चाहिए।

"जिसमे घोसला बनाया हुआ है, ऐसे अपने निवासस्थानभूत वृक्ष को यमदूतो द्वारा काटे जाते देख इसमे रहनेवाल. जीव-रूपी पक्षी इसे अनासक्त भाव से छोड़कर आनदपूर्वक चला जाता है।" ॥१५॥

यदि पक्षी किसी पेड पर घोसला बनाये बैठा हो व कोई उसे काट डाले तो जिस तरह वह उस घोसले का मोह छोडकर उड जाता है उसी तरह इस जीवात्मा की दशा समझो। जीवरूपी पक्षी इस शरीर-रूपी घोसले का मोह या अभिमान छोड-कर, देह-पात के साथ ही उड जाता है। उस वृक्ष की तरह ही यह देह भी मरणाधीन

---

१. देहासक्ति—"स्थूलता, कृशता, अधि-व्याधि, क्षुधा, तृषा, भय, कलह इच्छा, जरा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक ये सब धर्म देहासक्ति रखने वाले व्यक्ति मे ही रहते हैं।" (श्रीमद्‌भागवत ५।१०।१५)

है, अत मनुष्य को इसमे अभिमान व आसक्ति न रखनी चाहिए। चाहे हम अभिमान रखें या न रखें, शरीर का हम कितना ही लाड-चाव से पालन-पोषण व सवर्धन करें, एक दिन वेमुरौवत हो कर यह हमे छोड ही देगा। तो फिर क्यो इसमे इतनी आसक्ति रखी जाय ? सुन्दर, सतेज होकर भी जब एक दिन यह स्मशान मे भस्मीभूत होने-वाली है तो फिर क्यो इसे सजाने मे इतना परिश्रम किया जाय ? और इसे अपनाने तथा पनपाने के लिए अन्य प्राणियो का द्रोह किया जाय ?

"दिन और रात हमारी आयु को काट रहे हैं, यह जानकर जो भय से काप रहा है वह व्यक्ति अपने परम आत्म-स्वरूप को जान लेने पर इसमे अनासक्त और चेष्टाहीन होकर शान्त हो जाता है"॥१६॥

हम देखते है कि दिन व रात नित्य हमारी आयु को काटते जा रहे हैं। इससे देह की क्षणिकता स्पष्ट है। अत सावधान मनुष्य देह व काल के इस मर्म को पहचानकर देहाभिमान को छोडने का प्रयास करता है। इसके लिए वह भक्ति व ज्ञान का आश्रय लेता है। आत्म-स्वरूप को जान लेने पर वह इसमे अनासक्त हो जाता है। यमराज की इस क्रूरता से भयभीत होकर वह देह-सुख से विरक्त हो जाता है। फिर वैराग्य-युक्त मेरी भक्ति के द्वारा उसकी देह मे माया विल्कुल छूट जाती है और ज्ञानोपलब्धि हो जाती है। ज्ञान की सिद्धि से चारो प्रकार की मुक्तिया उसके पास दौड आती हैं। अव उसे दु ख, कष्ट, अशान्ति कहा रह सकती है ? ऐसा नर-देह पाकर जो शान्ति-रूपी परमसुख को प्राप्त नही करता उसके जैसा मूर्ख और कौन होगा ?

"यह मनुष्य-शरीर आद्य है, यह अति दुर्लभ है, सुदृढ नौकारूप है, गुरु ही इसके कर्णधार हैं तथा अनुकूल वायु-रूप मेरे द्वारा ही प्रेरित होकर यह नौका पार लग जाती है—ऐसे शरीर को पाकर भी जो पुरुष ससार-समुद्र से पार नहीं होता वह आत्मघाती है"॥१७॥

चौरासी लाख योनियो मे भटकने के वाद मनुष्य-शरीर मिलता है। जीव वीस लाख बार धातु योनियो मे, नौ लाख बार वनस्पतियो मे, नौ ही लाख वार सरीसृप योनियो मे, दस लाख वार पक्षियो मे, तीस लाख वार पशुयोनियो मे और ४ लाख बार वानर योनियो मे जन्म लेकर अन्त मे मनुष्य योनि मे आता है।[1] इसी

---

१ रामायण के अनुसार यह सख्या इस प्रकार है—जलचर ९ लाख, मनुष्य ९ लाख, स्थावर २७ लाख, कीट ११ लाख, पक्षी १० लाख, चौपाये २३ लाख।

योनि मे आकर वह विवेक, ज्ञान का अधिकारी व इसीलिए समस्त फलो की प्राप्ति का आदिकारण है। अत इसे आद्य कहते है। कुकर्मियो के लिए यह सुलभ व सुकर्मियो को अति दुर्लभ है। ससार-सागर से पार होने के लिए यह अति सुदृढ नौका-रूप है। मै स्वय परमात्मा जिसमे वशवर्ती हो जाता हू ऐसा यह नर-देह वड़े भाग्य से मिलता है। इस देह-रूपी नाव मे यह जीवात्मा मुसाफिर बैठा हुआ है। विना कुशल कर्णधार के उससे पार कैसे हो ? गुरु ही वह कर्णधार है, जो अपने ज्ञान, अनुभव, उपदेश-ज्ञान के द्वारा इस यात्री को पार करता है। मै परमात्मा उसके लिए अनुकूल वायु-रूप हू। सद्गुरु कर्णधार उसको भवर, चट्टानो, धक्के आदि से वचाकर सुख से उस पार लगा देता है।

इस ससार-सागर मे विकल्प अर्थात भ्रम-भ्रान्ति-रूपी बडी-वडी लहरे उठ रही हैं। उनमे से समता-रूपी शान्त पानी की सतह से वह नाव को वडी खूबी से शीघ्र खेकर ले जाता है। विवेक उसका डाड है जिससे कर्माकर्म का जल टूटकर भजन-रूपी वल से नाव आगे बढती है। उसमे काम-क्रोध रूपी वडे-वडे मगर-मच्छ घूमते रहते है। उन्हे शान्ति-रूपी जाल मे फासकर वे नाव को उत्साह से आगे ले जाते है व अन्त को सरूपता वन्दर पर ठहरते है जहा यात्री जय-जय का नाद कर उठते है। वहा से सलोकता को पहुचकर समीपता के रास्ते लगती है। यहा दोनो ओर गहरा जल है। वहा पहुचते ही सायुज्य के घाट पर ले जा कर लगा देते है।

ऐसे नर-देह को पाकर भी जो विषयो के गर्त मे उसे फसा देता है वह मानो अपनी तलवार अपने ही पेट मे घुसेड लेता है। उस नाव को जलाकर उससे चने भूनने जैसा है। या रजाई-कम्वल को जलाकर उसकी आच से सर्दी भगाने-जैसी मूर्खता है। यदि इस नर-देह को पाकर मनुष्य चूक गया, आत्मा-परमात्मा के लिए न साधा, जीव को शिव न वनाया, तो निश्चित रूप से उसके सामने एक-से-एक ऊचे व अलघ्य दु ख के पहाड खडे ही समझो। विषयो के प्रति आसक्ति तो सभी योनियो मे पाई जाती है। मनुष्य भी उन्हीकी तरह व्यवहार करने लगे तो उसके मुह मे मिट्टी ही पडी समझो। जो नर-शरीर को पाकर ससार-पार न हो उसे आत्मघाती ही मानो। ऐसा मनुष्य मानो अमृत वेचकर काजी पीता है।

"जिस समय कर्म की प्रवृत्ति से उदासीन और विरक्त हो जाय, उस समय योगी को चाहिए कि इन्द्रियो का सयम करके आत्मचिंतन के अभ्यास के द्वारा अपने चित्त को स्थिर करे" ॥१८॥

ऐसे मूर्ख को छोडकर, जो उत्तम पुरुप होता है वह अपने हित का सदैव ध्यान रखकर नर-देह को सार्थक बनाने का प्रयत्न करता है। वह कर्मारम्भ मे उदासीन होता है। अर्थात कर्म-काड व सकाम कर्मों से उसका मन विरक्त हो जाता है। फलाशा उसके चित्त से मिटती जाती है। यहातक कि वह मुझे व मोक्ष को भी भूल जाता है। इनकी चाह नही करता। मन का दृढ निश्चय करके वह इन्द्रियो को विषयो से सदैव दूर रखता है। श्रवण, मनन, मेरे स्वरूप के अनुसधान, निदिध्यासन, मे ही सदैव लगा रहता है। मेरे व्यक्तिगत व जगत-रूपी दोनो स्वरूपो की सेवा-पूजा मे लीन रहता है। सब प्रकार की व्याकुलता, अशान्ति, चचलता को मिटाकर स्व-बोध मे ही स्थिर रहता है।

"जब स्थिर करते समय मन इधर-उधर भटकने लगे तो उसे सावधानी से अनुरोधपूर्वक युक्ति से अपने वश मे कर ले" ॥१९॥

पूर्वोक्त अभ्यास मे जब चित्त न लगे, वह इधर-उधर कल्पनाओ व विपयो मे भटकने लगे, तो सावधान होकर उसे फिर-फिर अपने अगीकृत विचार मे लगावे। तरकीब से उसे भैया, दादा करके स्थिर करे, निराशा आने लगे, सफलता न मिले, तो मेरा स्मरण करे, सच्चे हृदय से मेरी प्रार्थना करे। किसी भजन या धुन या मन्त्र-जप का आश्रय ले। इससे अवश्य सफलता मिलने लगेगी। इस तरह धीरे-धीरे प्रयत्न व अभ्यास से मन को वश मे कर ले।

"मन की स्वच्छन्द गति को खुली न छोडे, बल्कि प्राण और इन्द्रियो को जीतकर सात्विक बुद्धि द्वारा उसे अपने अधीन कर ले" ॥२०॥

ऊधो, मन को किसी हालत मे छुट्टा न छोडना चाहिए। न उसे जीतने का प्रयत्न ही शिथिल करना चाहिए। इन्द्रिय व प्राण को जीत लिया हो तो भी मन की लगाम सदा खीच के रखना चाहिए। सदा उसको आत्मा मे केन्द्रित कर रखना उचित है। जिसने मन पर विश्वास करके उसे ढीला छोडा नही कि उसने काम, क्रोध आदि मे फसाया नही। सकल्प-विकल्प का तूफान उठने लगता है। अत विवेक-रूपी लगाम उसे लगाये ही रखना चाहिए। जब विवेक का अकुश मन पर सदैव रहता है तो सात्विक बुद्धि उदय होती है। फिर विषय व उपाधियो से उसकी रुचि हट जाती है। विवेक को इतना सधा लेना चाहिए कि जहा-जहा मन पहुचे वहा-वहा वह उसके पीछे-पीछे पहुचता रहे, जैसे कि उसका अगरक्षक ही हो। इससे मन अपनी दौड कम कर देता है, विष दन्त टूटे साप की तरह उसकी फुफकार-मात्र

भले ही रह जाय। जैसे पानी की बूदे गगा मे जाकर शान्त हो जाती हैं उसी तरह।

"वश मे करने योग्य घोड़े को अपने मनोभाव का ज्ञाता बनाने की इच्छा रखनेवाला सवार जिस प्रकार उसे बार-बार फुसलाकर अपने वश मे कर लेता है, उसी प्रकार यह अनुरोधपूर्वक मन का निग्रह करना भी परम योग माना गया है" ॥२१॥

घुडसवार जैसे अपने घोडे को कभी थपथपाकर तो कभी चाबुक मारकर, कभी उसकी इच्छानुसार चलने देकर तो कभी लगाम खीचकर अपने वश मे करता व रखता है, फिर वह घोडा इतना सध जाता है कि इशारे से भी उसकी इच्छानुसार नाचना, चलना आदि करतब दिखाने लगता है। इसी तरह मन को साधना भी एक महायोग समझना चाहिए।

"साख्य-विधि से सब पदार्थो के उद्भव और प्रलय का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से तबतक चिन्तन करता रहे जबतक कि मन शान्त न हो जाय" ॥२२॥

लेकिन मन को वश मे कर लेना ही काफी नही है। उसे शान्त करने का यत्न करना चाहिए। इसके लिए साख्य-योग उत्तम उपाय है, उसे सुनो। जो सृष्टि के पहले अलिप्त था वही सृष्टि के उदय होते ही उसमे आ विराजा। उसीसे फिर महत् तत्व व फिर देह पर्यन्त यह सृष्टि बनी। लेकिन सबमे तत्व, प्राण, रस, विद्युत रूप मे वही एक वस्तु—आतमा—समाई हुई है। सृष्टि के स्थिति-काल मे भी गुणो व उसके कर्मो के रूप मे वही एक आत्म-वस्तु प्रकाशित हो रही है। अन्त मे इन समस्त गुण-कार्यों को ग्रस लेने पर जो शेष रह जाती है वह भी वही मूल आत्म-वस्तु है। जैसे सोने के भिन्न-भिन्न गहने बना लिये, परन्तु उनके गलाने पर सुवर्णतत्व के खोजाने का भय नही रहता। वह सब अवस्थाओ मे एक रस—एक तत्व मौजूद रहता है। या जैसे बादल के पहले शुद्ध आकाश, या बादल के आ जाने से दोनो ओर आकाश हो जाता है, परन्तु बादल मिट जाने के बाद फिर दोनो गगन एक मे मिल जाते है। ऐसी ही स्थिति उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय तीनो अवस्था मे आत्म-वस्तु की समझनी चाहिए। कुम्हार घडे बनाता है। घडा मिट्टी का व मिट्टीमय होता है। उसके जितने भी बरतन, खिलौने आदि बनाये जायगे, सबमे मिट्टी वर्तमान रहेगी। या जैसे समुद्र की लहरो मे भीतर-बाहर चारो ओर जैसे पानी-ही-पानी रहता है वैसे ही इस शरीर मे महत् तत्वादि की स्थिति समझो। भीतर-बाहर चारो ओर चिन्मात्र केवल ज्ञान-स्वरूप सत्ता बिखरी हुई है। जैसे प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मे आकाश भरा ही रहता है वैसे ही ससार मे जो कुछ उपजता है, बनता है

उसमे चैतन्य-तत्व व्याप्त रहता है। महत् से देह तक की उत्पत्ति का क्रम अनुलोम हुआ व पदार्थ से फिर परमात्मा तक प्रलय, यह प्रतिलोम हुआ। यह सारा विश्व-प्रपच परमात्मा से उत्पन्न हुआ है व फिर उसमे लीन हो जायगा। यह तत्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जैसे जल-विन्दु या जलधारा समुद्र से निकलकर वापस समुद्र मे मिल जाती है उसी तरह आत्मवस्तु उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय तीनो अवस्थाओ मे अविनाशी व अलिप्त रहती हुई नित्य शुद्ध, वुद्ध, मुक्त ही रहती है। इस आत्मवस्तु मे ससार की कल्पना करना मिथ्या आरोप है, व रस्सी मे साप की तरह कोरा भ्रम है। ऐसी इस आत्मवस्तु मे जव मन लग जाता है तो उसका समत्व नष्ट होकर वह ब्रह्म-रूप हो जाता है और उसे अखड शान्ति प्राप्त होती है।

"इस प्रकार गुरु के बताये हुए आत्मतत्व को भलीभाति समझ लेनेवाले उदासीन और विरक्त पुरुष का चित्त उस चिन्तित का ही पुन-पुन चिन्तन करने से अपने दौरात्म्य को छोड देता है"॥२३॥

इस प्रकार जब चित्त आत्मतत्व का चिन्तन करते-करते उदासीन और विरक्त हो जाता है, ससार के भोग-विलास व विषय-भोग विष मिले अन्न की तरह त्याज्य मालूम होने लगते हैं, तब वह अपना दौरात्म्य छोड देता है। इस अनात्म देह मे उसकी आत्म-बद्धि होने से मन की जो स्थिरता शान्ति नष्ट हो चुकी थी वह फिर लौट आती है। गुरु ने जो ज्ञान दिया था, उसका मर्म समझ मे आता है। वार-वार उसीका चिन्तन व मनन करता है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन से उसका देहाभिमान छूट जाता है, व वह ब्रह्म-सम्पन्न हो जाता है। यह मन को शान्त करने व उसे अखड शान्ति-रस पान कराने का उत्तम उपाय है।[1]

"यम आदि योग-साधनो से और आन्वीक्षिकी विद्या से अथवा मेरी प्रतिमा की उपासना से मन परमात्मा का स्मरण करता है"॥२४॥

साख्य के अलावा मन को परमात्मा मे लगाने—परमात्ममय वनाने, विश्वरूप

---

१. "जिस प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्न के पदार्थो का स्मरण करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी जबतक प्रारब्ध शेष रहता है तबतक उसे भोगने के लिए अपना शरीर धारण करता है, किन्तु उसमे अभिमान नहीं रखता और न अन्य देह की प्राप्ति करनेवाले सस्कारो को ही स्वीकार करता है।"

(श्री मद्भागवत ५।१।१६)

देने के लिए योग,[1] ब्रह्म-विद्या, भक्ति भी साधन है। जिनके लिए योग व ब्रह्म-विद्या कठिन हो उनके लिए भक्ति-मार्ग सुलभ है। इसमे थोडे कष्ट से अधिक लाभ मिलता है। भक्ति मे भी मूर्ति-पूजन और सरल है। व्यक्ति-पूजा की जो अभिलाषा मनुष्य के मन मे रहती है उसको सन्तुष्ट करके उसे उच्च, दिव्य बनाने की विधि मूर्ति-पूजा है। मूर्ति के सामने मेरा भजन-कीर्तन, ध्यान, चिन्तन, नाम-स्मरण, पूजन आदि करने से मन उसी स्थिति को प्राप्त करता है, जिसे योगी या ज्ञानी पाते है।

"यदि प्रमादवश योगी से कोई निंदनीय कर्म हो जाय तो उसके पाप का योग से ही प्रायश्चित्त करे। उसके लिए किसी अन्य साधन का अवलंबन न करे" ॥२५॥

योगी, ज्ञानी, भक्त से सहसा कोई बुरा, निद्य कर्म नही हो सकता, क्योकि मै उनका रखवाला हू, सदैव उनके साथ रहता हू। उन्हे सदैव मेरी उपस्थिति का बोध

---

१. योग के प्रकार—"योग चार तरह का है। हठयोग, कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग। ईश्वर को अपना समझकर किसी एक भाव से उसकी सेवा-पूजा करने का नाम भक्ति-योग है। कलि में अन्य योगो की अपेक्षा भक्ति-योग से सहज ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। ध्यान करना चाहो तो मन मे, घर के कोने मे या वन मे कर सकते हो"। (श्रीरामकृष्ण)

अष्टाग-योग प्रसिद्ध ही है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

षट् चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व अग्नि अर्थात आज्ञा—ये गुह्यद्वार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक छः चक्र हैं, जिन्हे जगाकर साधना करना भी योग है।

मुद्रा—योग-साधन मे मुद्राओ का खास स्थान है। बाह्य विषय से मन को हटाने के लिए एक ही विषय मे दृष्टि स्थिर करना मुद्रा कहलाता है। खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी—ये चार मुद्राए हैं।

अजपाजाप—सास के साथ 'सोहम्' का जाप।

कुण्डलिनी-योग—नाभि के पास मूलाधार के नीचे सुषुप्तावस्था मे रहने वाली शक्ति को जिस साधना द्वारा जाग्रत करके ब्रह्मांड मे पहुचाते है उस क्रिया को कुंडलिनी-योग कहते हैं। यह हठ-योग का ही एक प्रकार हैं।

होता रहता है। फिर भी असावधानी या प्रमाद से कोई अनुचित कर्म हो जाय तो उसे तुरन्त पश्चात्ताप करना चाहिए। मन को अनुताप हुए विना कोई भी दोप मिट नही सकता। मानसिक सन्ताप के साथ परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करनी चाहिए कि फिर से यह दोष न हो। ऐसा न करके जो केवल स्नानादि से उसका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं वे भूल करते हैं।

ये वाह्याचार तो ससार को हमारे दोष व उसकी शुद्धि का प्रमाण देने के लिए हैं। मेरा स्मरण, ध्यान व प्रार्थना ही सच्चा प्रायश्चित्त है। मन मे ऐसा पश्चात्ताप न हो तो इन ऊपरी क्रियाओ से उल्टा ढोग वढता है और योगी तथा सावक का पतन होता है।

"अपने-अपने अधिकार मे जो निष्ठा रखना है वही गुण वतलाया गया है। वेद मे गुण-दोष का विधान करके जन्म से ही अशुद्ध पाप-कर्मों के त्याग का नियम उनकी आसक्ति को छुडाने की इच्छा से ही किया गया है" ॥२६॥

विषयो मे मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उसको उससे हटाने के लिए वेद-शास्त्रो मे विधि-निषेध वताये गए हैं। एकाएक उनसे मनुष्य का मन नही हट सकता। इसलिए सब विषयो के गुण-दोष पृथक-पृथक बताये गए हैं जिससे मनुष्य उनको जानकर गुणो को अपनावे व दोषो से बचता रहे। जैसे स्त्रिया सभी एक हैं, परन्तु व्यभिचार को, स्वच्छन्द कामाचार को रोकने के लिए एक को माता, दूसरी को बहन, तीसरी को पत्नी कहा गया और स्वपत्नी को छोडकर दूसरी स्त्री का सग व्यभिचार माना गया। स्त्री-पुरुष मे जो परस्पर आकर्पण-कामासक्ति है उसे मिटाया नही जा सकता। परन्तु पूर्वोक्त विधान से उसकी बहुत-कुछ रोक की गई है। फिर स्वपत्नी के साथ भी काम-भोग के बहुतेरे नियम-विधान वना दिये गए हैं। वर्ण-सकरी सृष्टि को रोकने के लिए जो उपाय किया गया है वह भी मनुष्य को सयमी वनाने की दृष्टि से है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था भी इसी तरह विषयासक्ति पर रोक लगाती है। उसमे सुख, भोग, ऐश्वर्य, सत्ता, पद, धन-सम्पत्ति आदि के स्वैराचार का निषेध किया गया है व ऐसी सीमाए वना दी गई है कि जिनका पालन करने से मनुष्य अपने-आप सयमी हो जाता है।

कर्मों के भले-बुरे होने की जो विवेचना की गई है, राजस, तामस, सात्विक आदि भेद जो कर्मों व मनुष्यो की वृत्तियो के बताये गए हैं वे भी इसी उद्देश्य से है।

अत जिसका जैसा अधिकार है, जो जिस योग्य है, उसके लिए वही उचित व लाभदायी है। उसे वही अगीकार करना चाहिए। यदि सिपाही का काम किसान व किसान का काम वैद्य को दिया जाय तो कितना अनर्थ हो जाय? पहले तुमने गुण-दोष के सबध का प्रश्न पूछा था, उसका खासा विवेचन यहा कर दिया।

"जिसको मेरी कथाओ मे श्रद्धा है तथा अन्य कर्मो से वैराग्य है वह यद्यपि सम्पूर्ण कामनाओ को दुःखरूप जानता है तो भी उन्हे छोड़ने मे असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति मे उसे चाहिए कि उन कर्मो को परिणाम मे दुःखमय जानकर उनकी निन्दा करते हुए उनका अनुष्ठान करे और श्रद्धा-सम्पन्न तथा निश्चयी होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करे"॥२७-२८॥

ऐसे व्यक्ति भी हो सकते है जिनको मेरी कथा मे श्रद्धा है, जिनका यह विश्वास है कि परमात्मा पर भरोसा रखने से, उसके भजन-पूजन से, ससार के दु ख दूर होकर निश्चलता प्राप्त हो सकती है, अत जिनकी दूसरे कर्मो मे रुचि नही रह गई है, मेरी या मेरे जगत की सेवा के सिवा और सब कर्मो से वैराग्य हो गया है, परन्तु जिनकी कामनाए अभी छूटी नही है, हालाकि वे उन्हे दु ख-रूप मानते है, उन्हे चाहिए कि वे अपनी इस मजबूरी को समझकर उसे न भूलते हुए उन कर्मो को करे, उनको दु ख-मय ही माने, व मन की इतनी तैयारी कर ले कि उससे होनेवाले दु ख भोगना ही पडेगे। कदापि यह न सोचे-समझे, न कहे कि मैने अच्छा काम किया है, हमेशा यही माने व दूसरो से कहे कि मैंने बुरा ही किया है। उनके करते समय भी मन मे अपार दु ख हो, दु खित व व्याकुल हृदय से मेरा स्मरण करते हुए उन्हे करे, फिर अपनी श्रद्धा को बटोरकर और दृढ निश्चयी होकर मेरे भजन मे तत्पर रहे। या किसी सेवा-कार्य मे लग जाय। मेरी उभय-विध सेवा मे लगा रहे।

"इस प्रकार पूर्वोक्त भक्तियोग से मेरा निरन्तर भजन करनेवाले मुनि के हृदय मे मेरे स्थित होने पर उसकी समस्त हृदय-स्थित वासनाएं नष्ट हो जाती हैं"॥२९॥

इस प्रकार भक्ति-योग से अत करणपूर्वक मेरा भजन करने पर काम-वासना उसी तरह नष्ट हो जाती है जैसे सूर्य के उदय होने पर जुगनू का प्रकाश, या सिह के दहाडने पर जगल के पशु भाग जाते है। यो तो मैं सबके ही हृदय मे निवास करता हू, परतु भक्तो के हृदय मे तो सदा जाग्रत रहता हू। अतएव वहा वासनाओ के लिए स्थान नही रह सकता। मैं व वासनाए एक साथ जाग्रत नही रह सकते। जबतक

वासनाओ का जोर रहेगा तवतक मैं छिपा रहूगा। जब मैं प्रकट होऊगा तो वासनाओ को भाग जाना पडेगा। निर्वासनिकता मेरे भक्त की सहज स्थिति है।

"मुझ सर्वात्मा का साक्षात्कार होने पर उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है। समस्त सशय निवृत्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं" ॥३०॥

ऊधो, मैं केवल भक्तो के हृदय मे ही नही रहता हू। सारे ससार मे—विश्व के कण-कण मे अणु-अणु मे फैला हुआ, समाया हुआ हू। जब भक्ति, त्याग, वैराग्य, ज्ञान, योग, सेवा आदि साधन से मैं भक्त या साधक के हृदय मे प्रकट होता हू तव केवल उसके शरीर मे ही समाया नही रहता, वाहर भी मेरा अनुभव उसे होने लगता है। सारे ब्रह्माड मे वह मुझे देखने लगता है। ऐसा अनुभव हो तभी मेरा पूर्ण दर्शन समझना चाहिए। और जब मैं ससार मे भी उसे दीखने लगा तो बोलो, उसके लिए ससार कहा रहा ? अगर उसे ससार दीखता है तो मेरा अनुभव नही हो सकता और यदि मेरा अनुभव, दर्शन, साक्षात्कार हुआ है तो फिर ससार उसी तरह लुप्त हो जायगा जसे प्रकाश के सामने अधकार। पत्नी रूप मे स्वीकार करने के पहले जैसे स्त्री पराई, असभोग्य दीखती थी, पत्नी बन जाने के बाद आत्मा-सी जान पडती है। अब उससे कोई पर्दा, कोई परहेज नही रह जाता। इसी तरह ससार मे भगवान का भाव आते ही उसका ससार-रूप नष्ट हो जाता है। उसकी हृदय-ग्रथी खुलकर उसमे का प्रकाश सारे विश्व मे छा जाता है। हृदय के ऊपर अज्ञान, मोह, माया, आसक्ति, अविद्या का आवरण या गाठ लगी होने के कारण भीतर का परमात्मा अप्रकट रह जाता है। सेवा व साधन-भजन से वह गाठ खुल जाती है, तव चित्त के सारे सशय, भ्रम, भ्रान्ति, अज्ञान मिट जाते हैं। ससार सच है कि परमात्मा, परमात्मा है भी या नही, है तो उसके दर्शन होते हैं, हो सकते हैं या नही, आदि शका व सदेहो की निवृत्ति हो जाती है। गरमी लगते ही घी जैसे पिघलने लगता है उसी तरह उसकी केवल वासनाए ही नही वल्कि कर्म-पाश भी, मेरे प्रकट होते ही, गलने लगते हैं, क्योकि जब उसके सब कर्म केवल मेरे लिए होते हैं तो उनके फलो का अधिकारी मैं हुआ, वह नही। उसे तो मेरे सिवा, मेरी भक्ति के सिवा, किसी फल की इच्छा है नही, अत उसके फलो को, अच्छे-बुरे सवोको, मैं भोगता हू। और चूकि मुझे कोई कर्म या उनके फल स्पर्श नही कर पाते, अत मेरा भुगतना न भुगतना दोनो बराबर हो जाते हैं। भक्त को यह चिन्ता या दुख करने की आवश्यकता नही है कि भगवान को मेरे कर्म-फल भोगना पडते हैं। वह उनके

वन्धन से, प्रभाव से छूट जाता है, इतना ही उसके जानने व याद रखने योग्य है।

"इसलिए मेरी भक्ति से युक्त मत्परायण योगी के लिए ज्ञान और वैराग्य प्राय: श्रेय के साधक नहीं होते" ॥३१॥

अत जो योगी भक्ति करता है, मुझमे परायण है, मेरे स्वरूप मे ही जिसका मन सर्वदा लगा रहता है, मेरे सिवा ससार मे और कुछ नही देखता, उसे ज्ञान व वैराग्य-रूपी साधनो की जरूरत नही रहती। ये तो भक्ति के बालक जैसे हैं। उसकी गोद मे सदा खेलते है। आखिर मै ही तो ज्ञान व वैराग्य का फल हू। अब जिस भक्त ने मुझीको पा लिया उसे ज्ञान, वैराग्य की क्या जरूरत रही ?

"कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, योग से, दान-धर्म से तथा अन्यान्य श्रेय-साधनो से जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, अथवा मेरा परम धाम आदि प्राप्त होता है वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्ति के ही द्वारा सुगमता से प्राप्त कर सकता है" ॥३२-३३॥

स्व-कर्म या धर्म के पालन से या भिन्न-भिन्न तपाचार से, या साख्य ज्ञान से, या वैराग्य व विषय-त्याग से, वेदाध्ययन-स्वाध्याय से, दानादि भिन्न-भिन्न श्रेय कार्यों से व अन्य अनेक साधनो से मनुष्य जो सिद्धि पाता है वही भक्त मेरी सच्ची भक्ति से ही प्राप्त कर सकता है। चाहे वह स्वर्ग की कामना करे, चाहे मोक्ष की, चाहे मेरे धाम वैकुण्ठ की, वह सब मेरी भक्ति के द्वारा सुगमता से पा सकता है। ससार मे ऐसी कोई वस्तु, पद या स्थिति नही है जो भक्त को मै नही दे सकता।

"किन्तु मुझमे अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर और साधु भक्त मेरे देने पर भी कैवल्य अथवा अपुनर्भव आदि किसीकी इच्छा नहीं रखते" ॥३४॥

लेकिन ऊधो, मेरे भक्तो की तारीफ यह है कि वे मेरे देने पर भी कैवल्य अथवा अपुनर्भव नही चाहते, वे सब तरह से निरपेक्ष रहते हैं। इसीलिए वे मुझे सबसे अधिक प्यारे है। स्वत धैर्य उनकी चरण-वन्दना करता है। इस निरपेक्षता के वल पर वे अपने-आप मेरी सायुज्यता को पा जाते हैं। भक्त भगवान मे व भगवान भक्त मे एकजीव हो जाते है। दोनो मे पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। नमक की ककरी जैसे समुद्र मे गिरकर गल जाती है—समुद्र हो जाती है, वैसे ही। तब मै उसे उठाकर छाती से लगाता हू सो बात भी नही रहती। वह खुद ही भगवान होकर अपने

आपको सर्वत्र देखता है। विना मागे ही कैवल्य व मोक्ष—अपुनर्भव फिरसे जन्म न लेने की स्थिति उन्हे मिल जाती है।

"निरपेक्षता ही उत्कृष्ट एव महान निःश्रेय कहा है। इसलिए निष्काम और निरपेक्ष पुरुष को ही मेरी भक्ति प्राप्त होती है"॥३५॥

"मेरे अनन्य भक्तो को और बुद्धि से अतीत परमतत्व को प्राप्त हुए समदर्शी महात्माओ को गुण-दोष-दृष्टि से होनेवाले विकार नहीं होते"॥३६॥

अत जो पूर्ण-रूप से निरपेक्ष है वह महापुरुष है व मेरे लिए पूजनीय है। मोक्ष—परमपद भी उसके सामने धूल की तरह तुच्छ है। निष्काम भक्त मेरी तरह ही समर्थ हो जाता है। देवतागण उसपर न्यौछावर होते हैं। श्री-सहित मैं स्वय उनका अकित हो जाता हू। मैं यदि परमात्मा—परमानन्द हू तो उसे शुद्ध स्वानद समझो। दोनो ही स्वानन्दकन्द सच्चिदानन्द हैं।

सार यह कि जो मेरे अनन्य भक्त हैं और जो बुद्धि से अतीत परमतत्व को प्राप्त कर चुके है, अत जो समदर्शी है, वे गुण-दोष-दृष्टि के विकार मे लिप्त नही होते। यही उनकी पक्की परीक्षा है। भले ही शकर की छाल निकल सके, कपूर की भूसी निकल सके, रत्न-दीप से काजल वन सके, परन्तु मेरा भक्त गुण-दोष-दृष्टि को आश्रय नही दे सकता।

"इस प्रकार जो मेरे वताये मार्गों पर अवलम्वन करते हैं वे मेरे क्षेममय धाम को प्राप्त होते हैं और जो परम-ब्रह्म है उसे भी जान लेते हैं"॥३७॥

इस प्रकार जो मेरे वताये मार्गों का अर्थात अधिकार, रुचि व पात्रता के अनुसार कर्म, ज्ञान, या भक्ति-मार्गों का अवलम्वन करते हैं वे मेरे क्षेममय धाम को प्राप्त करते है और पर ब्रह्म को भी जान लेते है।

कहना नही होगा कि इन सवमे मैंने भक्ति-मार्ग को ही सर्व-साधारण के लिए सरल, सुगम, सुरक्षित व सस्ता वताया है। इसके द्वारा मेरा परमधाम—वैकुण्ठ ही मिलता हो सो वात नही, जैसाकि भक्ति-मार्गी पौराणिक व कथाकार अक्सर कहा करते हैं, वल्कि स्वय परब्रह्म को भी पा लेते है।

वैकुण्ठ धाम तो सलोक मुक्ति की अवस्था है। वहा आने से भक्त मुझमय नही हो जाता, सिर्फ मेरे लोक मे आ जाता है। मुझमे मिल जाने की अवस्था को सायुज्य मुक्ति कहते है। इसीका दूसरा नाम है परब्रह्म-प्राप्ति। जो साधक या भक्त गुण-दोप के ऊपर उठ जाता है वही परिपूर्ण ब्रह्म को पाता है, जहा कि न नाम है, न रूप

है, न काल है, न कर्म, न मरण है न जन्म। जहा न ध्येय-ध्यान वाकी रहता है, न ज्ञेय-ज्ञान, न देवी-देवता, न एक-अनेकता। सब ओर एक ब्रह्ममात्र ही दीख पडता है। न वर्णाश्रम है, न क्रिया-कर्म है, न माया-भ्रम है। जो गुण-अगुण से अतीत है, लक्ष्य-लक्षणा-रहित है, जो सर्वत्र आनन्द मे मग्न रहता है उस ब्रह्म को वह पा जाता है। जहा देह-भाव का अभाव हो जाता है, जीव-शिव समरस हो जाते है, अह-भाव का नाश हो जाता है और उस दुर्लभ परमात्म भाव को पा जाता है।[1]

---

१. "जिसमें, जहां से जिसके द्वारा, जिसका, जिसके लिए, जिस कार्य को जो जिस प्रकार करता है, अथवा जिसकी प्रेरणा से वह कार्य मे प्रवृत्त किया जाता है, वह सब ब्रह्म ही है। क्योकि वह सम्पूर्ण कार्य-कारण से पूर्व सिद्ध है, और सजातीय-विजातीय भेद से रहित सबका एकमात्र कारण है।" (श्रीमद्भागवत ६-४-३०)

"तप मेरा हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति, है, यज्ञ अग है, धर्म मन है और देवता प्राण है।"

"सृष्टि के आदि मे चिन्मात्र, अव्यक्त और सब ओर से सोये हुए के समान एक मैं ही था। मेरे सिवा बाहर (दृश्य) या भीतर (द्रष्टा) और कोई न था।"

(श्रीमद्भागवत ६।४, ४७-४८)

२१

द्रव्य तथा देश आदि के गुण-दोष

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, मेरी प्राप्ति के भक्ति, ज्ञान और कर्मरूप तीनो मार्गों को छोडकर जो लोग अपनी अस्थिर इन्द्रियो से क्षुद्र भोगो को भोगते हैं वे पुन-पुन आवागमन के चक्र मे पड़ते हैं" ॥१॥

भगवान बोले—लेकिन जो मेरे इन त्रिमार्गों को छोडकर अपनी चचल इन्द्रियो से क्षुद्र भोगो को भोगते हैं, वे बार-बार इस ससार मे आते-जाते रहते है। इसके दु खो से उनका छुटकारा नही हो सकता। जो विषय-वासना मे फँसे रहते है, उनका यही हाल होता है। इन तुच्छ व अन्त मे दु खदायी भोगो को भोगते वे इस बात को भूल ही जाते हैं कि यह देह, ये भोग-विलास सब क्षणिक हैं। इसी मूर्खता के कारण वे न केवल खुद ही नाना प्रकार के दु ख व आपत्तिया मोल लेते हैं, बल्कि दूसरो को भी उनमे डाल देते है। 'आप मुए पाडे, ले डूबे जजमान'—वाली कहावत होती है।

"अपने-अपने अधिकार मे जो दृढतापूर्वक स्थित रहता है वही गुण है, और इसके विपरीत चेष्टा करना ही दोष है। गुण और दोष का यही निश्चय है" ॥२॥

मैं ऊपर कह चुका हू कि जो कर्ममार्गी हैं, सकाम कर्म करे या निष्काम, उनके लिए गुण-दोष का पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है, नही तो वे अच्छे के भरोसे बुरा काम कर बैठते है व फिर दु ख तथा निन्दा के पात्र हो जाते हैं। कर्म-मार्ग मे अधिकारानुसार कर्म आवश्यक है। बालक को उपदेश देने का काम नही दिया जा सकता। पुरुष को बच्चे को दूध पिलाने का काम नही सौपा जा सकता। मुख से नाक का काम नही लिया जा सकता। स्त्रियों के अलकार गधे को नही पहनाये जा सकते।

इस प्रकार जिसे जिसका अधिकार है, वह काम करना गुण और जिसे जिसका अधिकार नही है, वह दोष है। गुण व दोष की यह सरल व्याख्या समझ लो।

जबतक मन मे संसार वैचित्र्य का प्रभाव व भेदभाव है तबतक गुण-दोष का विचार भी लगा ही हुआ है। भक्ति के द्वारा साधारणत. यह भेदभाव जितनी जल्दी तिरोहित होता है उतना अन्य किसी साधन से नही। 'अनधिकार प्रयोग', 'अव्यापारेषु व्यापार' ही दोष है। मनुष्य को सदा इनसे बचना चाहिए। जो काम अपनी शक्ति, योग्यता, रुचि, देश, काल, वय, वित्त आदि के अनुकूल हो उसे करना गुण, व जो इसके अनुकूल न हो दोष है।

"हे अनघ, सब वस्तुओ के समान होने पर भी द्रव्य की विचिकित्सा के लिए शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ का विधान किया गया है। इनमे धर्म के लिए शुद्धि-अशुद्धि का विचार है। व्यवहार के लिए गुण-दोष का विधान है तथा यात्रा के लिए शुभ-अशुभ का विचार है। इस प्रकार केवल धर्म का भार ढोनेवाले लोगो के लिए मैंने यह आचार का मार्ग दिखलाया है" ॥३-४॥

ऊधो, तत्व रूप मे सब वस्तुए समान हैं। सभी तीन गुणो, पाच भूतो से बनी हुई हैं, फिर भी उनमे मात्रा की भिन्नता व विषमता से भिन्न-भिन्न गुण-दोष उत्पन्न हो गये हैं। उनका यथावत उपयोग करने के लिए, उनसे ठीक-ठीक लाभ उठाने के लिए, उनके गुण-दोषो की, शुभाशुभ की जानकारी आवश्यक है। क्योकि इसके बिना दोषो से बचना, व गुणो से लाभ उठाना असभव है। स्वेच्छाचार, निरकुशता, तथा विषय-विकार से बचने व सयम की ओर बढने के लिए भी इसकी जरूरत है। यद्यपि मूल रूप मे सबकी एकता है, तो भी पदार्थ व वस्तु-रूप मे उनमे विचित्रता आ गई है, इसीलिए उनका पृथक्करण करके उनके उपयोग को जान लेना अच्छा है। उनमे शुद्धि व अशुद्धि का विचार तो धर्म-साधना की दृष्टि से, गुण-दोष का विचार व्यवहार-दृष्टि से और शुभ-अशुभ का विचार यात्रा की दृष्टि से करना चाहिए। शुद्ध वस्तु के उपयोग से धर्म होता है व अशुद्ध से अधर्म। गुण से अर्थ-सिद्धि व दोष से अनर्थ की प्राप्ति होती है। शुद्ध बुद्धि मे धर्म का व अशुद्ध मे अधर्म का निवास है। सद्गुणी से, अच्छे व्यवहार से सब प्रीति करते है। दोषी, दुर्गुणी से सब डरते व बचते है एव बुरे व्यवहार से नाराज़ व दुखी होते हैं। ऐसा ही यात्रा के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। जैसे द्रव्य-लोभ से नीच व कुकर्मी पुरुष के घर जाना अशुभ व सेवा-भाव से, परोपकारार्थ कही जाना, या ईश्वर या साधु-दर्शन, तीर्थ-सेवा, सत्सग के लिए यात्रा करना शुभ है। दुखी-दर्दी के लिए दौड पडना शुभ यात्रा, स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसीकी खुशामद करने जाना अशुभ यात्रा है।

अथवा आपत्काल मे, यात्रा मे अमुक व्यवहार शुभ व साधारण-काल मे अमुक व्यवहार अशुभ आदि। यह सब गुण-दोष-विवेचन उन लोगो के लिए है जो धर्माधर्म का विचार करके दुनिया मे चलना चाहते हैं।

"पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पचभूत ही ब्रह्मा से लेकर स्थावर-पर्यन्त सभी प्राणियो के शरीर के आरम्भक हैं तथा वे सभी मुझ आत्मा से युक्त हैं" ॥५॥

"हे उद्धव, इन शरीरो के धातु समान होने पर भी इनके शरीरो के स्वार्थ की सिद्धि के लिए वेद ने इनके भिन्न-भिन्न नाम और रूपो की कल्पना की है" ॥६॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पचमूत ही ठेठ ब्रह्मा से लेकर स्थावर अर्थात पर्वत-वृक्ष आदि सभी प्राणियो के शरीरो के आरम्भक अर्थात उपादान कारण हैं। प्रत्येक वस्तु मे इनका अश विद्यमान है। इन सबमे आत्मारूप से मैं स्थित हू। अत धातु-रूप मे इनका न कोई नाम है, न रूप। परन्तु पदार्थ-रूप मे सबके नाम-रूप पृथक-पृथक हैं। यो ऊपर आकाश यहा-से-वहातक सब एक है। और नीचे पृथ्वी भी। फिर भी आकाश मे दश दिशाओ की व पृथिवी मे नाना देश-प्रदेशो की कल्पना की गई है। समता मे यह विषमता क्यो ? एकता मे यह विभिन्नता क्यो ? तो मनुष्य-समाज के कर्म व धर्म-व्यवहार चलाने के लिए। भिन्न-भिन्न दिशाओ का भेद न किया गया होता तो मनुष्य देश-विदेश की यात्रा कैसे कर सकता ? भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव के अनुसार कार्य-व्यवस्था—वर्णाश्रम-व्यवस्था न की होती, या योग्यता के अनुसार कोई व्यवस्था न बनाई जाय, तो इस विषमता के अभाव मे, समाज का काम कैसे चल पाता ? इसी तरह यदि काम, अर्थ, धर्म व मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ, मनुष्य की आकाक्षाओ का खयाल रखकर न किये गए होते तो उसका सुख-श्रेय-साधन कैसे होता ? महत्व की दृष्टि से पहले धर्म, फिर अर्थ व पीछे काम को गिनना चाहिए। विकास की दृष्टि से पहले काम, फिर उसके साधन-स्वरूप अर्थ, व फिर उसकी सिद्धि के लिए धर्म की उत्पत्ति समझनी चाहिए। मोक्ष दोनो मे सामान्य है। धर्म का स्वाभाविक फल है। मनुष्य के काम व अर्थ पर धर्म का नियन्त्रण है। वेद-शास्त्रो के द्वारा विषमता अथवा गुण-दोष-भेद का जो ज्ञान कराया गया है, ससार के बाह्य रूप का है, उसका अन्तरात्मा तो एक व सम ही है।

"हे साधु-शिरोमणि उद्धव, कर्मो को नियमित करने के लिए ही मैने देश-कालादिभाव और वस्तुओ के गुण-दोषो का विधान किया है" ॥७॥

ये जो देश-काल, आदि भावो का व वस्तुओ के गुण-दोषो का विधान किया गया है वह कर्मों का विस्तार रोकने के उद्देश से किया है। केवल उचित, आवश्यक, व श्रेय कारक कर्म ही किये जाय, अनुचित, अनावश्यक, व हानिकारक कार्य न हो। इस उद्देश से ही ऐसा किया गया है। ऊधो, कर्म-मात्र मे कोई-न-कोई दोष रहता है। जहा दोष है वहा उसका बुरा फल किसी-न-किसी बन्धन, दुख आदि के रूप मे उपस्थित ही समझो। मनुष्य जबतक तीन गुणो के प्रभाव मे है तबतक गुण-विशेष के प्राबल्य के अनुसार उससे वैसा कर्म अवश्य होगा व उसका वैसा फल भी उसे भुगतना पडेगा। कर्म ज्यो-ज्यो सात्विक होंगे त्यो-त्यो शुभ फल की विशेष आशा रखनी चाहिए। परन्तु सात्विक कर्म मे भी, वे शुभ ही क्यो न हो, कुछ अभिलाषा, सकल्प तो मनुष्य का रहता ही है। और वही उसके लिए बन्धनकारक हो जाता है। इसके लिए यदि यह कहो, कि वह कर्म ही क्यो न छोड दे, तो जबतक शरीर है तबतक किसीसे भी कर्म का त्याग सोलहो आने नही हो सकता। तो यह समस्या कैसे सुलझे ? कर्म करते है तो कुछ-न-कुछ दोष पल्ले बधता है, छोडना चाहे तो छूट सकता नही, तो क्या किया जाय ? इसका रास्ता मैंने निकाल दिया व गीता के द्वारा इसीका मैने अर्जुन को उपदेश दिया था, वह यह कि निष्काम कर्म करो। दूसरे शब्दो मे मेरे प्रीत्यर्थ कर्म करो। कर्म-फल मे आसक्ति मत रक्खो। इससे कर्म करते हुए भी उसके बन्धन से बच जाओगे।

चूकि प्रत्येक कर्म बन्धन-कारक है, अत. निष्कारण कर्म प्रवृत्ति बढाना ठीक नही है। केवल स्वाभाविक सहज प्राप्त या स्वधर्मानुसार कर्म ही इष्ट है। शरीर-रक्षार्थ व सेवा-भाव से शान्ति, प्रसन्नता और सहजता से जो कर्म करने पडे उतने ही विहित, योग्य व आवश्यक समझना चाहिए। जिस कर्म के आरम्भ मे अशान्ति, मध्य मे व्याकुलता, सदेह, पशोपेश व अन्त मे दुख, परिताप, पश्चात्ताप हो वे सब त्याज्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म के स्वरूप की अपेक्षा कर्ता की वृत्ति अधिक महत्त्व रखती है। और उसीपर अधिक ध्यान रखने की जरूरत है।

"देशो मे जो देश कृष्णसार मृग और ब्राह्मण-भक्त पुरुषो से रहित है वह अपवित्र होता है। कृष्णसार मृग युक्त होने पर भी सौराष्ट्र तथा कीकट देश अपवित्र है। तथा जो भूमि असंस्कृत अथवा ऊसर होती है वह भी अपवित्र मानी गई है" ॥८॥

अब मैं पहले यह बताता हू कि कौन-सा देश पवित्र अर्थात बसने व रहने लायक है, और कौन-सा अपवित्र, जहा न बसना, न जाना चाहिए। जिस भूमि मे कृष्णसार मृग न हो वह अपवित्र समझनी चाहिए, जहा ऋषि-मुनियो के आश्रम होते हैं, यज्ञ, जप-तप स्वाध्याय होते हैं वही तपोवन मे कृष्णसार मृग का पडाव रहता है। अत ऐसे पुण्य स्थानो मे ही बसने व रहने का विचार करना चाहिए। इसी तरह जहा ब्राह्मण-भक्त न रहते हो अर्थात जहा विद्वानो, साधु व ज्ञानी पुरुषो, उपदेशको, कथावाचको व कीर्तनकारो, पुरोहितो, विचारशीलो, धर्मज्ञो का स्वागत, मान और आदर न होता हो वह भी अपावन देश समझना चाहिए। निश्चय ही मेरा आशय सच्चे ब्राह्मणो से है। ढोगी व पेट-पालू या श्वान-वृत्ति ब्राह्मणो से नही है।

जो भूमि असस्कृत है, सस्कारहीन लोग जहा रहते हैं, जिनमे न अच्छे विचार न भाव हैं, न श्रेष्ठ आचार हैं न ज्ञान-विज्ञान, न धर्म-कर्म की प्रतिष्ठा है, न भक्ति-भाव, सेवा या मानव-दया है वह भूमि अपवित्र है। **"स वै पुण्यतमो देश. सत्पात्रो यत्र लभ्यते।"**

"द्रव्य सयोग से अथवा स्वत' ही जिस काल मे कर्म हो सकते हो वही शुद्ध है और जिसमे कर्म न हो सकते हो, कर्म के अयोग्य होने से वहा काल अशुद्ध है"॥९॥

काल वही शुद्ध है जिसमे कोई कर्म होता हो। भले ही वह कर्म स्वत करे या द्रव्य आदि के सयोग से हो। जो समय कर्म-रहित है वही अशुद्ध समझो।

निश्चय ही कर्म से यहा अभिप्राय निंद्य, अशुभ या पाप कर्म से नही है। सत्कर्म से ही है। जिस काल मे कर्म न किया जा सके उसे भी अशुद्ध समझना चाहिए। प्रत्येक कर्म के लिए देश, काल, द्रव्य व पात्र इतने आधारो की जरूरत है। अर्थात कोई कर्म किसी-न-किसी स्थान मे ही किया जा सकता है, यही देश है। किसी-न-किसी समय मे ही करना पडता है, यही काल है। किसी-न-किसी साधन-सामग्री से ही किया जा सकता है, यह द्रव्य है। और उसका कोई-न-कोई कर्त्ता अवश्य ही होता है, यही पात्र हुआ। पवित्र देश, शुभ समय, शुद्ध साधन-सामग्री व योग्य अधिकारी, कर्ता—पात्र के द्वारा किया कर्म शुभ व सफल हो सकता है।[1]

---

[1] इस सबंध मे निम्न उद्धरण मनन योग्य है--

"ससार मे सब दु'खो का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ—कर्म के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। ससार-रूपी कोश मे ऐसा कोई रत्न नहीं है जो शुद्ध पुरुषार्थ से किये शुभ कर्म द्वारा न प्राप्त हो सके। तीनो लोक मे ऐसा कोई पुरुषार्थ नहीं है

समय की शुद्धता जानने की एक विधि ज्योतिष-शास्त्र द्वारा जानी जा सकती है। शुभाशुभ मुहूर्त उससे देखा जाता है। या जिस समय कोई साधु, सन्त, विद्वान, सत्पुरुष घर आ जाय उसे शुभ घडी ही समझना चाहिए। जब सात्विक श्री-सम्पत्ति घर आवे, या चित्त मे शुभ कर्मों, धर्म-मावो का उदय हो, तो उसे पुण्यकाल मानो। माता-पिता के अन्त काल को भी शुभ समय समझो। उस समय जितना हो सके दान, धर्म आदि शुभ कृत्य करना चाहिए।

जो इच्छा-रहित पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके। सबकुछ, सदा ही, सबसे इस ससार मे अच्छी भाति किये गए पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है, और उसे प्राप्त करने के लिए क्रमशः यत्न करता है, वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है।

"देशकाल के अनुसार देरी में अथवा शीघ्र ही किये हुए पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति का नाम दैव है। फल देनेवाले पुरुषार्थ द्वारा शुभ-अशुभ अर्थ-प्राप्ति-रूप फल-सिद्धि का ही नाम दैव है। जो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही प्राप्त होनेवाली वस्तु है, वह इस संसार में दैव कहलाता है। जो कर्म दृढ़ता से व तीव्र प्रयत्न से पूर्व-काल में किया जा चुका है, वही इस समय दैव के नाम से पुकारा जाता है। पूर्व-कृत कर्म—पुरुषार्थ—के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है। अतः पुरुषार्थ ही दैव है।

"दोनो पुरुषार्थ (पूर्व-कृत—दैव व वर्तमान काल पुरुषार्थ) दो मेढ़ो के समान एक दूसरे के साथ लड़ते हैं। उनमे जो अधिक बलवाला होता है वही विजय पाता है। जैसे कल का विगड़ा हुआ काम आज के प्रयत्न से सुधर जाता है, उसी प्रकार अव का किया पुरुषार्थ पूर्व के किये पुरुषार्थ को सुधार सकता है। अतः मनुष्य को कर्मशील होना चाहिए। अधिक वली होने पर अब का पुरुषार्थ पूर्व कर्म के पुरुषार्थ को और पूर्व काल का पुरुषार्थ अव के पुरुषार्थ को दवा लेता है; हमेशा ही पुरुष का प्रयत्न विजय पाता है। जो उद्वेग-रहित होकर पुरुषार्थ करता है वही विजय पाता है। पूर्व-काल के कर्म की अपेक्षा आजकल का किया कर्म अधिक यलवान होता है। इसलिए दैव को अब का पुरुषार्थ जीत लेता है। जैसे कि वच्चे को युवक। अत. परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर शुभ कर्म द्वारा पूर्वकाल के अशुभ कर्मों पर विजय पाओ।" (योगवासिप्ठ)

अव स्वभाव के अनुसार काल की पवित्रता सुनो। ब्राह्ममुहूर्त स्वभावत पवित्र माना गया है। सूर्योदय के पहले का समय ब्राह्म मुहूर्त कहलाता है। उस समय सूर्य से बहुत पवित्र व प्राणदायी रश्मिया भूमण्डल पर आती हैं जिससे उस समय चित्त स्वभावत शान्त, सानन्द, उत्साह व जीवनवान मालूम होता है।

जव घर मे, जाति मे, समाज मे, राष्ट्र मे कोई आपत्ति आ पडे, हानि-दु ख व कष्ट के कारण पैदा हो जाय तो उसे अशुभ समय समझो। जव देह, जाति, राष्ट्र परतन्त्र हो जाय, देश मे अकाल पडे, रोग फैले, विदेशी चढाई कर दें, तो उस काल को भी बुरा मानो। जब मन मे क्रोध का सचार होने लगे, नीद, आलस्य, तमोगुण व्याप्त होने लगे, विना कारण के एकाएक सुख-सम्पत्ति आ जाय, या कोई अनहोनी वात सुनी जाय, या शुभ व भले आदमियो की मर्यादा तोडने मे आ जाय तो उसे अशुभ समय-सूचक समझो। यदि रास्ते मे कोई विघ्न खडा हो जाय, द्रव्य-लोभ मन मे पैदा हो, गहरी चिन्ता छा जाय, मन डावाडोल होने लगे शका-कुशका उत्पन्न होने लगे, तो उस समय को भी अशुभ मानना चाहिए। ऐसे समय मे सहसा कोई कर्म करना उचित नही है।

"पदार्थों की शुद्धि और अशुद्धि, द्रव्य, वचन, सस्कार, काल, महत्व अथवा अल्पत्वसे होती है"॥१०॥

अव पदार्थों की शुद्धि-अशुद्धि का विवरण सुनो। यह भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। किसीकी द्रव्य से, किसीकी वचन से, किसीकी सस्कार से, किसी की काल से, किसीकी महत्व अथवा अल्पत्व से होती है। जैसे पात्र जल से शुद्ध व मूत्रादि से अशुद्ध हो जाते हैं। किसी वस्तु की शुद्धि अथवा अशुद्धि मे शका होने पर वह शास्त्र या ब्राह्मण-वचन से शुद्ध हो जाती है, अन्यथा अशुद्ध रहती है, पुष्प आदि जल छिडकने से शुद्ध और सूघने से अशुद्ध हो जाते है। तत्काल का अन्न शुद्ध व वासी अन्न अशुद्ध होता है, तथा वडे सरोवर व नदी का जल शुद्ध और छोटे गड्ढो का अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार क्रम से द्रव्य, वचन आदि से शुद्धि व अशुद्धि मानी जाती है।

और भी देखो, गो-मूत्र मनुष्य के शरीर पर डाला जाय तो उससे वह तत्काल पवित्र हो जाता है, परन्तु वही तावे के वरतन पर डाला जाय तो उसे उल्टा अपवित्र वना देता है। अग्निहोत्र या अग्नितप करने से मनुष्य पवित्र होता है, परन्तु उसी अग्नि मे किसी ब्राह्मण या तपस्वी को जला देने पर वह राख अपवित्र गिनी जाती है।

घृत सस्कार से अन्न शुद्ध होता है, होम-सस्कार से नवधान्य, अग्नि-सस्कार से लवण पवित्र हो जाता है। 'म' के पहले 'रा' जोड देने से ऐसा नाम बन जाता है जिसके स्मरण से पापी पवित्र हो जाते हैं, परन्तु उसी 'म' के पीछे 'य' जोडने से ऐसी वस्तु बन जाती है जिससे मनुष्य उन्मत्त होकर पाप-कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है। एक उद्धारकर्त्ता है, दूसरा बन्धन-कर्त्ता।

रजस्वला स्त्री की शुद्धि चौथे दिन, मेघ-जल की तीसरे दिन, हो जाती है। ताजा अन्न सुबह का शाम को बासी हो जाता है वही घी मे भूजने या तलने पर कई दिन तक शुद्ध रहता है। बासी अन्न भी घी मे छौंक लिया या भून लिया जाय तो शुद्ध हो जाता है। घडे या गड्ढे के पानी को कोई गदा आदमी छू ले तो वह अपवित्र समझा जायगा। परन्तु वही तालाब, नदी, समुद्र मे नहा ले व कुल्ली भी कर ले तो अपवित्र नही गिना जाता। थोडी रसोई पर कुत्ता या कौवा मुह मार जाय तो अशुद्ध मानी जाती है, परन्तु सहस्र-भोजन का पाक, उतना अश निकाल देने पर, जितना कौवे या कुत्ते ने मुह लगाया हो, शुद्ध हो जाता है। उस अन्न को खाने मे फिर कोई दोष नही। क्योकि थोडी वस्तु मे दोष एकत्र होने से उसका जहरीला असर ज्यादा होता है, वही ज्यादा वस्तु मे फैल जाने से उसका मारक या मादक तत्व कमजोर हो जाता है।

"इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति-अशक्ति, बुद्धि और वैभव के अनुसार भी आत्मा के लिए जो अघ को प्राप्ति होती है वह भी देश और अवस्था के अनुसार ही होती है"॥११॥

अपनी-अपनी शक्ति, अशक्ति, बुद्धि व वैभव के अनुसार भी आत्मा को उसी तरह अघ की प्राप्ति होती है, जैसे देश व अवस्था के अनुसार होती है। जैसे चन्द्र या सूर्य-ग्रहण के समय सबल या शक्तिमान पुरुष स्नान न करे तो दूषण है, परन्तु बालक, वृद्ध या रोगी न करें तो उन्हे दोष नही है। पुत्र-जन्म के समय सभी स्व-गोत्रजो को १० दिन का वृद्धि सूतक मानना पडता है, परन्तु पुत्र-जन्म यदि दूर देश मे हो तो सूतक बाधा नही होती। पहले दिन यदि कोई स्वगोत्रज मरे तो उसका सूतक, दूसरे ही दिन, यदि दूसरा स्वगोत्री मर जाय तो दोनो का सूतक उतर जाता है। यदि किसीको जहर चढ गया है तो उसे साप कटवाने से दोनो जहर उतर जाते हैं। यही सिद्धान्त सूतक पर भी लागू होता है।

जो काम हम बुद्धिपूर्वक, सोच-समझकर करते है उसका पाप-पुण्य हमे अवश्य

भोगना पडता है। परन्तु यदि भूल मे, अनजान मे, अबुद्धिपूर्वक, अहैतुकता से किया हो तो उसका दोष नही लगता। अत निज ज्ञान से पहले अन्त करण को पवित्र करो। उससे बुद्धि की शुद्धि होती है व मनुष्य विवेक-सम्पन्न होता है और विवेक से वैराग्य की ओर अग्रसर होता है।

ये तो हुए शक्ति-अशक्ति व बुद्धि-अबुद्धि के भेद के उदाहरण। अब समृद्धि का उदाहरण लो। जो समर्थ व सम्पन्न हैं, उनके लिए कई बातें जो दूषणीय हैं, वही असमर्थ व दरिद्रो के लिए नही होती। पुराने फटे वस्त्र, टूटा-फूटा घर, समृद्धि-शाली के लिए दोष की बात है, दरिद्र व गरीब के लिए नही। समर्थ पुरुष अकेला भोजन करे तो वह दोष है, असमर्थ के लिए नही।

अब घर रहते हुए जो आचार-विचार आवश्यक हैं, वही यात्रा मे, दूसरो के घर पर अनावश्यक हो जाते हैं। देहात मे जो आचार-व्यवहार जायज हो वे ही नगर मे नाजायज हो सकते हैं। ठण्डे प्रदेश मे जो जीवन के नियम हैं वे गरम प्रदेशो मे नही देखे जाते। घर मे रहते हुए नित्य स्नान उचित है। यात्रा मे वा शीत प्रदेश मे किसी दिन न करने से बाधा नही होती। घर मे छपर पलग पर सोना उचित हो सकता है, दूसरो के घर जमीन पर भी सोना पडे तो सो जाते है। देहात मे जहा साधनो की कमी है, लिपी जमीन पर भी भोजन करने मे दोष नही है, परन्तु नगर मे जहा साधनो की कमी नही, स्वच्छ पटा या वस्त्र पर बैठककर ही भोजन करना उचित है।

इन उदाहरणो से तुम समझ लो कि किस प्रकार शक्ति-अशक्ति के भेद से भी मनुष्य उसी तरह दोष या गुण का भागी होता है जैसे देश व अवस्था के भेद से होता है।

"धान्य, काष्ठ, अस्थि, सूत, रस, तैजस, चर्म और घटादि पार्थिव पदार्थों की शुद्धि काल, वायु, अग्नि, मृत्तिका एव जल से होती है। देश, काल और अवस्था के अनुसार कहीं इनसे मिलाकर और कहीं इनमे से प्रत्येक से अलग-अलग, दोनो प्रकार से शुद्धि की जाती है" ॥१२॥

जैसे शूद्र मे लिया धान्य एक रात मे शुद्ध हो जाता है। स्रुक, स्रवा, चकला, बेलन, पटा आदि लकडी की चीजे धोने से शुद्ध हो जाती हैं। बाघ-नख, गज-दन्त तभी तक अपवित्र है जबतक उनमे स्नेह रहता है। जब उनका चिकना रस सूख जाता है तो वे अति पवित्र हो जाते हैं। पट-तन्तु अर्थात रेशमी कपडा स्वय पवित्र

होता है, ऊनी कपडा हवा लगने से शुद्ध हो जाता है और सूती कपडा जल से धोने पर। दूध कासे या मिट्टी के बरतन मे पवित्र व तावे के वरतन मे अपवित्र-अशुद्ध हो जाता है। तावा खटाई से व खटाई लवण मिलाने से निर्दोष हो जाती है। घी आग पर तपाने से व अग्नि पवित्र ब्राह्मण-मन्त्रो से, ब्राह्मण स्व-आचार से पवित्र होता है। वेद गुरु-मुख से, गुरु-मुख आत्मज्ञान—आत्म-सुख से व आत्मा गुरु-चरणोदक से, व उदक (पानी) सन्त-चरणो से पवित्र हो जाता है। पृथ्वी जल-सस्कार से पवित्र, जल पृथ्वी पर पवित्र, चमडा तेल से शुद्ध व तेल चर्म-पात्र अर्थात कुप्पा या तुग मे पवित्र समझना चाहिए। व्याघ्राम्बर व मृगाजिन अर्थात मृग-छाला तो स्वभाव से ही पवित्र होती है। सोना अग्नि-सस्कार से शुद्ध होता है।

"यदि किसी वस्तु मे कोई अशुद्ध पदार्थ लगा हो तो छीलने से अथवा मृत्तिका आदि के मलने से जब उस पदार्थ की गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्व रूप मे आ जाय तो उसको शुद्ध समझना चाहिए"॥१३॥

अव मैली वस्तु कैसे शुद्ध होती या समझी जाती है सो सुनो। यदि वस्तु मे कोई गदगी लग गई हो तो छीलने या मिट्टी आदि लगाने से वह छूट जाती है। गदे पदार्थ का लेप या गध उसमे नही रह जाती, तब उसे शुद्ध समझ लेना चाहिए। जैसे वरतन, पटा या आसन मे कोई मैल या अपवित्र पदार्थ लग जाय तो उस वास या लेप को अच्छी तरह धो लेने से वह पवित्र हो जाता है। नाभि से नीचे शरीर मे यदि गदगी लग जाय तो उसे अच्छी तरह मिट्टी (या साबुन) लगाकर धोने से शरीर स्वच्छ हो जाता है, नाभि से ऊपर लगे तो मिट्टी गोवर (या साबुन) लगा-कर नहा लेना चाहिए। मल के उसकी गध सहित छूट जाने पर पदार्थ जब पूर्व-रूप मे आ जाय तब उसे स्वच्छ समझना चाहिए।

"स्नान, दान, तप, अवस्था, सामर्थ्य, सस्कार, कर्म और मेरे स्मरण से चित्त शुद्ध होता है, इस प्रकार शुद्ध होकर द्विज-मात्र को विहित कर्मो को करते रहना चाहिए"॥१४॥

यह तो हुई पदार्थो की शुद्धि। अव कर्त्ता की शुद्धि का भी उपाय सुन लो। कर्त्ता शुद्ध होता है स्नान, दान, तप, अवस्था, सामर्थ्य, सस्कार, कर्म से, व मेरे स्मरण से चित्त शुद्ध होता है, जैसे किसी भी शुभ या धार्मिक कर्म करने से पहले स्नान कर लेने से शरीर-शुद्धि होती है। या यो कहो कि कर्म-शुद्धि स्नान से होती है। शरीर से कोई गदा कार्य, जैसे मल-मूत्र, उलटी, नाली, घूरा, कचरा

साफ किया हो तो स्नान कर लेने से शरीर शुद्ध हो जाता है। द्रव्य-शुद्धि दान से होती है अर्थात शुद्ध-अशुद्ध सभी प्रकार के लोगो से व सभी प्रकार के पदार्थ हम अक्सर लेते रहते है, दान करते रहने से इस दोष का क्षालन हो जाता है। तप से विषय-शुद्धि अर्थात वैराग्य प्राप्ति होती है। अशुद्ध विपय, वासना, काम सताते हो तो तप करने से मन उनसे विरक्त हो जाता है। यह विषय-शुद्धि हुई। जडता, आलस्य, नीद आदि आने लगी हो तो कर्माचरण से उसकी शुद्धि यानी निवृत्ति हो जाती है। गर्भाधान-सस्कार से गर्भ-शुद्धि आदि सोलह सस्कारो से भिन्न-भिन्न अवस्थाओ की शुद्धि समझनी चाहिए। यह अवस्था-शुद्धि हुई। मेरे भजन मे दृढ भाव रखने से वीर्य-शुद्धि होती है। इसी तरह मेरे स्मरण से चित्त की शुद्धि। इस प्रकार स्नान से शरीर या कर्म, मेरे भजन से वीर्य, व मेरे स्मरण से चित्त की त्रिविध शुद्धि का विधान हुआ।

"भली भाति हृदयगम कर लेने से मन्त्र की और मेरे अर्पण कर देने से कर्म की शुद्धि होती है, इसी प्रकार छह् के शुद्ध होने से धर्म और अशुद्ध होने से अधर्म होता है"॥१५॥

गुरुमुख से सुनकर भलीभाति हृदयगम कर लेने से मन्त्र की, और मेरे अर्पण कर देने से कर्म की शुद्धि होती है। इसी प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्त्ता, मन्त्र व कर्म इन छह के शुद्ध होने से धर्म व अशुद्ध होने से अधर्म होता है। धर्म से कार्य मे सफलता व अधर्म से असफलता होती है। इन छह का पूर्ण विचार किये विना जो कार्य किया जाता है, वह कही-न-कही जरूर भ्रष्ट हो जाता है। जव कभी हम किसी कार्य मे असफल हो तो हमे तुरन्त इन छह मे से कहा भूल हुई, इसकी खोज करनी चाहिए। निराश, आलसी होकर चुप वैठ जाने की जरूरत नही है।

देशशुद्धि—अथवा देश-विचार से अभिप्राय है—हम किस स्थान मे हैं, व कहा कर्म करना चाहते हैं, इसका विचार। स्वदेश मे हैं कि विदेश मे, घर मे हैं कि वाहर, शहर मे हैं कि जगल मे, पहाड पर हैं कि समुद्र-तट पर, इन वातो का विचार करना चाहिए।

उस देश को शुद्ध, पवित्र समझो जहा रहने या जाने से समभाव प्राप्त होता हो व कम-से-कम-वन्धन मेटने का भाव पैदा होता हो। अच्छे देश, या पुण्य क्षेत्र मे वास करने पर भी यदि दूसरो के छिद्र, दोप, पाप, वुराइया ही देखने, खोलने व फैलाने की प्रवृत्ति जगती या रहती हो तो उसे तामस देश ही समझना चाहिए।

वहा रहने से कर्त्ता अवश्य दु ख व अन्त मे नाश को प्राप्त होगे। साधारण स्थान मे किये दोष तो पुण्य क्षेत्र मे जाकर मिट सकते हैं, परन्तु पुण्य क्षेत्र मे जो दोष होते हैं वे वज्रलेप हो जाते है। अच्छाई के सम्पर्क मे बुराई दूर होने की आशा रहती है, परन्तु अच्छाई के सम्पर्क मे—सम्बन्ध से ही यदि बुराई मे प्रवृत्ति हुई तो फिर उसका सुधार कहा व कैसे और कितना कठिन होगा ? जिस देश मे सम-बुद्धि, समभावी लोगो का जन्म हो उसे निर्मल समझो।

काल-विचार से मतलब है हम किस समय व अवस्था मे है, इसका विचार। दिन है कि रात, सर्दी का मौसम है कि गरमी का, बचपन है कि जवानी या बुढापा, स्वतन्त्र हैं कि पराधीन, मुक्त है या बन्दी, मालिक हैं या नौकर, नेता है या अनुयायी, सेनापति है या सैनिक आदि। जिस समय चित्त सात्विक या प्रसन्न हो वही शुभ-काल समझो। स्वभावत ब्राह्म मुहूर्त शुभ है। परन्तु उसमे भी यदि मन क्षुब्ध हो तो उसे अपुनीत ही समझना चाहिए।

पदार्थ-विचार से आशय है साधन-सामग्री की शुद्धता का विचार। यह निश्चित है कि अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य की प्राप्ति नही हो सकती। गन्दगी के प्रयोग या व्यवहार से स्वच्छता नही आ सकती। विष से अमृत का फल नही निकल सकता। झूठ से सत्य नही मिल सकता। हिंसा से अहिंसा नही सिद्ध हो सकती है। माया से ब्रह्म नही मिल सकता। अत साध्य के शुद्ध होने के इतना ही साधन-शुद्धि का महत्व है। साधन पराकाष्ठा ही साध्य की प्राप्ति है। अत साधन की ओर से उपेक्षा न करनी चाहिए। फिर शुद्धि-अशुद्धि के साथ ही साधन की योग्या-योग्यता का भी विचार करना चाहिए। जिस कर्म मे मैं प्रवृत्त हो रहा हू उसकी सिद्धि के लिए अमुक साधन उचित, मौजू, फलदायी, कारगर भी है या नही—यह जरूर सोच लेना चाहिए। चाकू का काम लकडी नही दे सकती। साग काटना हो तो चक्की से वह काम नही बन सकता। जो काम सगठन से हो सकता है, वह उपदेश व प्रचार से नही। जो काम पलग से लिया जा सकता है वह चूल्हे से नही।

पदार्थो मे द्रव्य अर्थात धन काफी महत्व रखता है। अत उसकी प्राप्ति के बारे मे काफी सजग रहना चाहिए। अपने जीवन की साधारण आवश्यकताओ के उपरान्त धन जोडना या तो किसी सत्कार्य के लिए या दीन-दुखियो की सेवा के लिए, या मेरे भक्तो, सत्पुरुषो के लिए। ऐसा ही द्रव्य पवित्र समझा जा सकता

है। धर्म-कार्य के लिए एकत्र धन को जो लोभ से अपने पास रख छोडता है, या अपने काम मे ले लेता है वह महापाप है, व ऐसा धन अपवित्र हो जाता है।

कर्त्ता-विचार मे कर्त्ता की पात्रता व शुद्ध उद्देश या भावना का विचार सम्मिलित है। इच्छा होने से ही कोई किसी कार्य के करने का पात्र या अधिकारी नही हो सकता। आवश्यक योग्यता व शुद्ध भावना भी चाहिए। योग्यता होने से वह विघ्न, हानि से अपनेको व कार्य को वचाता हुआ, आवश्यक व अनुकूल साधन-सामग्री जुटाता हुआ अनुकूल वातावरण तैयार करके काम को साध लेगा। भावना शुद्ध होने से वातावरण को अनुकूल वना लेने मे व जनता को उसकी उपयोगिता जचाने मे सहायता मिलती है। जव कर्त्ता की कर्म मे अहता नही रहती और उससे कर्म मानो स्वभावत ही होता हो तो यह कर्त्ता की शुद्धता समझनी चाहिए। जो अपनेको कर्त्ता मानता है वह उस कर्म के फलस्वरूप अवश्य वधन मे पडता है, उसके फल भोगे विना उसे छुटकारा नही है।

मत्र से अभिप्राय है अक्षर, शव्द या वाक्य विशेष जिसमे हमारे उद्देश को सिद्ध करने की शक्ति निहित मानी जाती है। उपदेश-विशेष, सन्देश-विशेष, सूत्र-विशेप भी मत्र कोटि मे आ सकते है। मत्र के अर्थ का ज्ञान, मत्र-शुद्धि या मत्र-विचार मे ज़रूरी है। उमसे निश्चित व जल्दी शुद्धि मिल जाती है।

जिस मत्र के ग्रहण से अभिमान वढता हो या जारण, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि मे जिसका उपयोग किया जाता हो उसे अपवित्र समझना चाहिए। मत्र का उद्देश सिद्धि-प्राप्ति है, जो अपनी उचित आवश्यकताओ की सिद्धि के लिए या जनता के हित मे ही लगाई जानी चाहिए। मत्र का ऐसा उपयोग जिससे दूसरो को हानि पहुचाई जाय निपिद्ध समझना चाहिए।

कर्म-विचार से मतलव है कार्य-योजना, कार्य-पद्धति, कार्यक्रम के विचार से। कार्य-योजना, समीचीन, कार्य-पद्धति सुगम व कार्यक्रम व्यावहारिक होना चाहिए। यदि व्रह्मार्पण-भावना से अर्थात निष्काम भाव से किया जाय तो कर्म-शुद्धि हो जाती है, उस कर्म के दुष्परिणामी या वधनकारक होने का भय नही रहता। यदि आरभ मे निष्कामता न रही हो तो अन्त मे फल ईश्वरार्पण कर देना चाहिए—सेवार्थ, यज्ञार्थ, परोपकारार्थ कार्य मे लगा देना चाहिए।

उम कर्म को शुद्ध समझो जिससे कर्म-वधन टूटे। जिस कर्म के करने से मोह व अभिमान वढता हो, कर्त्ता उलटा वधन मे पडता हो, उसे अशुद्ध समझना चाहिए।

"कहीं-कहीं विशेष शास्त्रविधि से गुण भी दोष हो जाता है और दोष भी गुण हो जाता है। अतः देश, काल, जाति आदि का विचार करते हुए विशेष शास्त्र के बल मे जो एक ही वस्तु मे गुण-दोष का नियम है, वह अपने अंश मे सामान्य शास्त्र-द्वारा प्राप्त हुए गुण-दोष-विभाग का बोध करनेवाला है" ॥१६॥

लेकिन इसमे कई अपवाद या अन्यथा स्थिति भी हो जाती है। कही-कही विशेप शास्त्र-विधि या नियम से गुण भी दोष हो जाता है और दोष भी गुण हो जाता है। अत देश, काल, जाति आदि का विचार करते हुए विशेप शास्त्र या नियम के आधार मे जो एक ही वस्तु मे गुण-दोष का विधान है वह अपने अश मे सामान्य शास्त्र या नियम द्वारा प्राप्त गुण-दोष को बाध कर देता है। जैसे कार्यारभ मे आचमन करने का विधान है। इससे चित्त या कर्म-शुद्धि होती है। वही यदि दक्षिणाभिमुख किया जाय तो बडा दोष उत्पन्न होता है। जिस दवा से कान का दर्द दूर होता है वही यदि मुह मे डाल दी जाय या पी ली जाय तो प्राणघातक हो जाती है। आचमन मे भी उर्द का दाना डूब जाय इतना ही पानी लेने का विधान है। अधिक लिया जाय तो वही सुरापान के बराबर हो जाता है। कटहल खाने मे बडा मधुर व स्वादिष्ट है, परन्तु यदि अधिक खा लिया जाय तो पेट मे शूल उत्पन्न करके बहुत दुखदायी हो जाता है। सूर्य-पूजा का बडा माहात्म्य है, परन्तु उसमे यदि बिल्व पत्र चढाया जाय तो लाभ तो एक ओर, उल्टा दोप पल्ले बधता है। यह तो गुण के दोप मे परिणत होने के उदाहरण हुए। अब दोप भी कई जगह गुण हो जाता है उसकी मिसाल लो। बलात्कार दोष है, परन्तु यदि कोई जहर पी रहा हो तो बलपूर्वक भी हाथ से जहर छुडा लेना गुण हो जाता है। चोर की तरह चोर-मार्ग से जाना दोप है, परन्तु यदि किसीके प्राण बचाने के लिए, किसीकी रक्षा के लिए, ऐसा करना पडे तो यह दोप गुण मे बदल जाता है।

"इसलिए अपनी जाति के अनुरूप जो कर्म है वह स्वरूप से सदोष होने पर भी उसका आचरण करना पतितो के लिए पापजनक नहीं होता, क्योकि जाति से जो कर्मो का सबध विहित है, वह उसके लिए दोष की बात नहीं है। अर्थात् उससे उसका पतन नही होता, जैसे पृथ्वी पर सोया हुआ मनुष्य नीचे नहीं गिरता" ॥१७॥

एक ही कर्म कैसे कभी गुण व कभी दोप हो जाता है, इसका वर्णन मैं कर चुका। अब एक और बात भी समझ लो। जो स्वय ही गिरे हुए हैं वे यदि कोई दूपित

या त्याज्य कर्म भी करें तो उन्हे उसका पातक नही लगता। यो तो कोई भी अनैतिक काम किसीसे हो तो उससे उसकी गिरावट ही होगी। परन्तु यदि उच्च स्थिति को पहुचा हुआ कोई निन्द्य कार्य करे तो उससे उसका जितना पतन होगा उतना नीच स्थिति मे पडे हुए का नही। जगली जाति के लोग, कोल, भील, सासी, कजर यदि शराब पी ले या मास खा लें तो इससे उन्हे इतना दोष नही लगता, इनका उतना पतन नही होता, जितना किसी साधु पुरुष, ब्रह्मचारी, सन्यासी या समाज के नेता का हो सकता है। नीले मे काले रग का धब्बा क्या असर डालेगा ? अधेरी जगह मे स्याही पोत दी जाय तो और क्या अधकार बढेगा ? मरे हुए को ज़हर दे दिया जाय तो वह और क्या मरेगा ? पलग पर सोया हुआ तो नीचे गिर सकता है, पर जो जमीन पर ही सोया है वह अब कहा गिरेगा ?

ऊधो, मेरा यह वचन व्यावहारिक उपयोग के लिए ही सही समझना चाहिए। वास्तव मे तो, सूक्ष्म नैतिक दृष्टि से तो, पतित भी यदि बुरा कर्म करे तो अधिक पतित ही होगा। सामाजिक दृष्टि से ही उसका दोष दोष-कोटि मे न गिना जायगा।

सच बात तो यह है कि गिरा हुआ या पतित उसे समझो जो देहाभिमानी है। अत' जो कामना-वासनाओ से भरपूर हो ऐसे पुरुष को अपना हानि-लाभ, उत्थान-पतन दिखाई नही देता। वह अन्धा ही हो जाता है। इसीलिए गुण-दोष-विधान के द्वारा उसके कर्माचरण या कामासक्ति की सीमा बाधी गई है। जबतक स्त्री-पुरुष ससार मे है तबतक उनका परस्पर-आकर्षण और काम-भाव भी रहेगा ही। उसका पूर्णत अभाव असभव है। इसीलिए पुरुष का स्व-स्त्री से ही गमन विहित करार दिया गया है। स्व-पत्नी-गमन भी ऋतुकाल मे ही उचित बताया गया है। फिर पुत्रोत्पत्ति के बाद स्त्री-गमन ही छोड देने का विधान है। इस तरह सयत भोग के बाद फिर उससे निवृत्त हो जाने का नियम बनाया गया है।

इस तरह वास्तव मे शास्त्र का तात्पर्य तो निवृत्ति ही है। जिस-जिस प्रवृत्ति से मनुष्य का चित्त उपरत होता जाता है उसी-उसी ओर से वह बधन-मुक्त होता जाता है। मनुष्य के लिए यह निवृत्ति ही शोक, मोह और भय को हरनेवाला कल्याणमय धर्म है।

सहसा सब विषयो का त्याग मनुष्य से हो नही सकता। अत धीरे-धीरे उससे विषय छुडाये गए हैं। वह अनुभव करता है कि ज्यो-ज्यो किसी विषय से उसका पिण्ड छूटता है त्यो-त्यो वह बधन-मुक्त होता जाता है। क्योकि ये ससार के विषय

व इनका भोग ही मनुष्य को तरह-तरह के दु ख व बन्धन मे डालता है। अन्त मे जब विषयो से विरक्ति हो जाती है, आख को सुन्दर वस्तु देखने मे रस या आकर्षण नही, नाक को सुगन्ध मे रुचि नही, मुह को स्वाद मे मजा नही, कान को सुन्दर गान मे आनन्द नही, त्वचा को कोमल स्पर्श की इच्छा नही, इन सब इन्द्रियो से सारा काम करते हुए भी इनके विषयो मे उसे अनराग न रहे, स्वाभाविक धर्म के तौर पर उनके सब कर्म होते रहे, तब साधक मेरे रूप को, मेरे भाव को पा जाता है। जब साधक को मेरी प्राप्ति हो जाती है, उसका अहकार नि शेष हो जाता है व अविद्या अहकार के साथ, शोक-मोह को अपने साथ लेती हुई सती हो जाती है। अविद्या के भस्म होते ही जन्म-भाव मिट जाता है और मरण ही मृत्यु-मुख मे चला जाता है, जीव का जीवत्व चला जाता है। फिर ससार मे उसे कोई शोक, भय नही रह जाता।

"मनुष्य जब विषयो में गुण-बुद्धि करने लगता है तो उससे उनमे आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उनमे कामना होती है और कामना से कलह उत्पन्न होता है" ॥१९॥

"कलह से दुःसह क्रोध होता है और अज्ञान उस क्रोध का अनुगमन करता है तथा अज्ञान से शीघ्र ही मनुष्य की व्यापक स्मरण-शक्ति आवृत हो जाती है" ॥२०॥

यह विषयो मे आसक्ति दीखने मे बडी प्यारी, लुभावनी, आनन्ददायिनी मालूम होती है, परन्तु अन्त मे महाविघातक है। इसका यह मारक रूप सहसा दिखाई नही देता। अत तुम इसका असली रूप देख लो। विषय जब मधुर लगने लगते हैं, उनके बिना मनुष्य को चैन न पडने लगे तब समझो कि वह आसक्ति मे पड रहा है। नित्य नया अनुराग व विषयो की प्राप्ति न होने से विकलता होना असक्ति का लक्षण है। विषयो की बार-बार प्राप्ति की इच्छा ही काम है। इस कामना या असक्ति की पूर्ति के लिए मनुष्य तरह-तरह के उद्योग करता है। जब उसमे असफल होता है तो उसमे विघ्न डालनेवाले से व दूसरो से भी विवाद व लडाई-झगडा खडा होता है। इससे क्रोध भडकता है। जब शरीर मे क्रोधाग्नि धधक उठती है तो विचारशक्ति व बुद्धि कुण्ठित व नष्ट हो जाती है। जब बद्धि गई तो विवेक कहा रहा? विवेक के न रहने मे फिर सारी चेतना ही लुप्त हो जाती है, फिर कार्य-अकार्य का ज्ञान व स्मृति सब खतम हो जाती है। इस विषयासक्ति से उसमे इतना तमोगुण व्याप्त हो जाता है जिससे उसको चित्त मे किसी प्रकार की

न स्फूर्ति रहती है, न वृत्ति उठती है। मदिरा पीकर जैसे कोई उन्मत्त हो गया हो, होश-हवास भूल गया हो, या वातग्रस्त रोगी जैसा बदहवास हो गया हो।

"हे साधु उद्धव, स्मरण-शक्ति से हीन पुरुष शून्यवत हो जाता है, फिर मृत अथवा मूर्च्छित के समान उसके स्वार्थ-साधन का भी ह्रास हो जाता है" ॥२१॥

"इस प्रकार धौंकनी के समान श्वास लेता हुआ वह वृक्षवत व्यर्थ जीवन व्यतीत करता है और विषय-लम्पटता के कारण आत्मा और परमात्मा किसीको नहीं जानता" ॥२२॥

विवेक व चेतना-शून्य हो जाने पर न विषयो का ख्याल रहता है, न परमार्थ सूझता है, न सन्मार्ग दीखता है, कदम-कदम पर वह आत्मनाश की ओर अग्रसर हो जाता है, जैसे कोई जड, मूढ, मृत या मूर्छित प्राणी हो। वह एक से दूसरी अनर्थ परम्परा मे पडकर न तो स्वार्थ साध पाता है न परमार्थ हाथ आता है। जीते हुए भी वह धौंकनी-सा श्वास मात्र लेकर किसी पेड के ठूठ-सा हो रहता है। विषय लम्पटता के कारण वह आत्मा व परमात्मा दोनो से हाथ धो बैठता है।

"वेद की फलश्रुतिया पुरुष के परम पुरुषार्थ की प्रतिपादक नहीं हैं—वे केवल सकाम और विषयी पुरुषो को श्रेय की ओर प्रेरित करने के लिए प्ररोचनामात्र ही हैं, जिस प्रकार कडवी दवा पिलाने के लिए बालक को लोभ दिखाते हैं" ॥२३॥

उत्तम व श्रेष्ठ स्थिति तो निष्कामता ही है। परन्तु अज्ञ, अपढ व साधारण लोगो के लिए यह एकाएक शक्य नही है। अत शास्त्रो ने फलश्रुति दिखा-दिखाकर उन्हे सत्कर्म की ओर प्रेरित किया है। जब कर्म किये बिना मनुष्य रह नही सकता और निष्काम कर्म कठिन है तो शास्त्रकारो ने सत्कर्म पर जोर दिया व सत्कर्म भी अमुक मर्यादाओ मे करना जायज ठहराया है। इसमे उनका उद्देश मनुष्य को धीरे-धीरे निष्कामता की ओर ले जाना ही है। यो दीखने मे सकाम और निष्काम कर्म एक मे हैं, दोनो मे एक-सी क्रिया होती हुई दिखाई देती है, परन्तु दोनो के मूल मे भिन्न-भिन्न उद्देश है, अत उनका परिणाम भिन्न-भिन्न होता है। जैसे स्वाति नक्षत्र का जल सीपी मे पड जाय तो मोती व साप के मुख मे पड जाय तो ज़हर हो जाता है, वैसे ही सकाम कर्म दृढ बधन मे बाधता है और निष्काम मुक्ति की ओर ले जाता है। सकाम कर्म का फल जो स्वर्गादिक सुख-भोग वेदादि मे बताये गए हैं वे प्रलोभन-मात्र हैं। जैसे कटु औषध पिलाने के लिए बच्चे को तरह-तरह से ललचाया जाता है।

"आत्मा के लिए अनर्थ रूप कामनाओ, प्राणो और कुटुम्बियो मे तो मनुष्य जन्म से ही आसक्त चित्त होते हैं, इस प्रकार अपने वास्तविक स्वार्थ को न जानकर जन्म-मरण रूप संसार-मार्ग में भटकते तथा घोर अन्धकार में पडते हुए उन दीन पुरुषो को विज्ञ वेद फिर क्यो उसीमे प्रवृत्त करेगा" ॥२४-२५॥

देखो, वेद-शास्त्र मनुष्यो को ऐसे कर्मों मे प्रवृत्त नही कर सकता जो उन्हे ससार के विपय-भोगो मे लिप्त करता हो। ऐसा करने की कोई जरूरत भी नही है। क्योकि मनुष्य जन्मत ही विषयो मे, अपने कुटुम्वियो मे, सुख-सुविधाओ मे, अपने जीवन, प्राण आदि मे आसक्त होता है । वह इस तरह पहले ही जो दीन, असहाय वने हुए है, जो अपने असली स्वार्थ को न जानने के कारण जन्म-मरण-रूप ससार-सागर मे गोते खाते फिरते है, उन्हे वेद-शास्त्र उत्तेजित करके और क्यों गोते खिलावेगा ? अधे को वह और क्यो अध कूप मे डालेगा ?

"वेद के इस अभिप्राय को न जानकर कोई-कोई बुद्धिहीन पुरुष कर्मासक्ति के कारण कुसुम-स्थानीय फलश्रुतियो को ही परम फल मान बैठे हैं। परन्तु वेद का मर्म जा.ने व.ले ऐसा नहीं कहते" ॥२६॥

वेद के इस अभिप्राय को न जानकर वाज-वाज मन्दबुद्धि उन सुन्दर लुभावनी फलश्रुतियो को ही परम फल मान बैठे हैं। परन्तु वास्तविक वात ऐसी नही है। क्योकि वेद के मर्मज्ञ ऐसा नही कहते हैं। सकाम मनुष्य से फल-त्याग-मूलक स्वधर्म-पालन नही हो सकता, अत वेद फल-श्रुति के द्वारा उन्हे स्वधर्म मे प्रवृत्त करते है। क्योकि मनुष्य यदि तन्मयता से, जैसे नमक समुद्र से मिलने जाता हो, स्वधर्म मे प्रवृत्त हो तो सकामना शेष नही रह सकती। दो दीपको की वत्तिया एक मे मिला दी जाय तो उनकी ज्योति मे भेद नही दिखाई पडता, जैसे कपूर मे आग लगाने पर आग व कपूर अलग नही रह जाता, वैसे ही स्वधर्म करने से निष्कर्मता अपने-आप आ जाती है। स्ववर्म का अर्थ है अपने स्वभाव के अनुरूप शुभ अगीकृत कर्म। उसमे लगे रहने से चित्त एकाग्र होता है जिससे अनेक कर्मो मे प्रवृत्ति नही होती। यही धीरे-धीरे निष्कामता की ओर चली जाती है। कर्म से कर्म को भस्म करने का, काटे से काटे को निकालने का यही तरीका है। इसे भूलकर जो फलाशा मे ही लगा रहता है वह उस मनुष्य की तरह है जिसने चने की खेती तो की मगर चने के पौधे को उखाडकर साग-सब्जी वना के खा ली। अव फसल कहा से हो ? इस तरह फलाशी वास्तविक फल-चित्त शुद्धि या वन्वन-मुक्ति से वचित रहकर

स्वर्गादि सुख मे ही गर्क हो जाता है। मक्खन वेचकर छाछ खरीदने जैसी मूर्खता यह है।

"वे कामासक्त, कृपण और लोभी पुरुष पुष्पो को ही फल मान लेते हैं और अग्नि-साध्य कर्मो मे ही मुग्ध की भाति लगे रहकर अन्त मे धूम्र मार्ग से जाते हैं। वे अपने निज धाम को प्राप्त नहीं कर सकते" ॥२७॥

मगर ससार मे जो कामासक्त है उनके वरावर हीन कोई नही यह कामासक्ति ही उसे लोभी वना देती है। उसे सार-असार का वोध नही होने पाता, झूठ-सच से परहेज नही रहता, पुष्प को ही फल समझने लगता है। इसीसे वह स्वर्ग फलो के लिए लालायित रहता है। स्वर्ग को ही परम फल मान लेता है, इसी तरह मूढ मुग्ध होकर वह अवकारमय स्थिति मे ही रह कर सकाम कर्म करते हुए निर्वाण पद से विमुख हो जाता है।

"हे प्रियवर, कर्म ही जिनके शस्त्र हैं, ऐसे वे प्राण-पोषक पुरुष अपने अन्त-करण मे स्थित मुझको नहीं देख पाते, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार जिनकी आखो मे धुन्ध छा जाती है वे लोग अपने समीपवर्ती पदार्थो को भी नहीं देख सकते" ॥२८॥

सकाम पुरुपो का शस्त्र कर्म, उद्योग, यत्न ही है जिसे वे अपने प्राण-पोपण, मनस्तृप्ति मे ही लगाते हैं, न उन्हें दूसरी वात की ओर रुचि ही होती है, न फुरसत ही मिलती है। काम-तृप्ति के चक्कर मे पडने से वे अपने हृदय मे रहनेवाले मुझको भी नही देख पाते तो फिर ससार मे व्यापक मेरे स्वरूप को कैसे देख सकेंगे ? जैसे आखो मे धुन्ध छा जानेवाला पुरुप दूर की तो ठीक नजदीक की वस्तु भी नही देख पाता, वह जगत को देखता है परन्तु जगत जिसका आकार है उसे नही परख पाता। इसीसे जगत् के मोह मे से निकलना उसके लिए दुष्कर हो जाता है।

"वे विषयी लोग, मेरे इस गूढ अभिप्राय को नहीं जानते कि वेद मे हिंसा करने की प्रेरणा नहीं की गई है, वल्कि यदि किसी की हिंसा में विशेष प्रवृत्ति हो तो वह केवल यज्ञ मे पशु-आलभन करे, हिंसा न करे ऐसा नियम किया गया है। हिंसा मे रत हुए वे दुष्ट अपने सुख की इच्छा से पशुओ को वलि देकर देवता, पितर और भूत-पतियो का यज्ञ द्वारा यजन करते रहते हैं" ॥२९-३०॥

ये कामान्ध लोग मेरे गूढ वेदाशय को नही समझ पाते, वेदो मे यज्ञार्थ पशु-वलि का या मास-भक्षण का यदि विधान है तो वह पशु-हिंसा व मास-भक्षण की निवृत्ति

के लिए है। वेद मे हिंसा की प्रेरणा कही नही की गई है। जनसाधारण की मद्य-मास मे सामान्य रुचि देखकर कुछ मर्यादा के अन्दर उसकी इजाजत दी है। जैसे यज्ञ मे वलि दिये पशु का ही मास खाया जा सका है, वह पशु मुक्की से, घूसे से मारा जाय, मरते समय उसके मुह से शब्द न निकले, मरने के वाद उसे फिर जीवित कर दिया जाय, मास भी यज्ञ-प्रसाद के रूप मे ग्रहण किया जाय, वह इतना थोडा हो कि दात से चबाए विना ही मुह मे उतर जाय, फिर उसका रसास्वादन न करना चाहिए और पशु-हिंसा यज्ञ के अलावा दूसरे किसी निमित्त न करनी चाहिए, आदि आदि। इन निर्वन्धो से यह भली भाति स्पष्ट हो जाता है कि "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी" वाली नीति वेदो ने बरती है।

फिर भी ऐसे मूर्ख लोग है जो इस वेद-विधान को न समझकर, वल्कि उसकी आड मे, पशुहिंसा करते हैं व उनके द्वारा स्वर्ग-सुख की मिथ्याभिलाषा रखते है। वे ठरडू वीज वोकर उनसे फसल पाने की आशा रखते है। सो फसल तो मिलने से रही, उलटा लगान देना पडेगा सो अलग। इस प्रकार धर्म या यज्ञ के नाम पर जो पशु को दुःख देते है, घात करते हैं वे परिणाम मे दुःख व अधोगति के ही भागी होते है।

---

१. नारद कहते हैं—"धर्म का मर्म जाननेवाला पुरुष श्राद्ध मे मास अर्पण न करे और न स्वय ही मांस भक्षण करे, क्योकि पितरो को मुनियो के भोग व्रीहि आदि अन्नो से जैसी प्रसन्नता होती है वैसी पशु-हिंसा से नहीं होती" ॥७॥

"प्राणियो को मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाय। इससे वढकर धर्म और कोई नहीं है" ॥८॥

इसीलिए यज्ञ-तत्व को जाननेवाले कितने ही निष्काम ज्ञानी पुरुष ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित मनोनिग्रह रूपी यज्ञ मे इन कर्म-मय यज्ञो का हवन कर देते है (वाह्य कर्म-कलाप से उपरत होकर मनोनिग्रहपूर्वक आत्मचिंतन मे तत्पर रहते है)" ॥९॥

"विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा, और छल, अधर्म की इन पाच शाखाओ को धर्मज्ञ पुरुष अधर्म की ही भाति त्याग दे" ॥१२॥

'जिस कार्य को धर्म-बुद्धि से करने पर भी अपने धर्म में वाधा उपस्थित हो वह 'विधर्म' है। किसी अन्य के द्वारा अन्य पुरुष के लिए उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है। पाखंड या दभ को 'उपधर्म' (उपमा) कहते हैं अर्थातर करके दूसरे प्रकार को

"वे लोग स्वप्न के समान असत्य और सुनने मे प्रिय लगनेवाले परलोक और उसके भोगो के लिए मन-ही-मन सकल्प करके अधिक लाभ की आशा से मूलधन को भी गवा देनेवाले व्यापारी के समान इस लोक मे व्यर्थ अपने धन का नाश करते हैं" ॥३१॥

स्वप्न की वस्तु जैसे मिथ्या है वैसे स्वर्ग-सुख भी क्षणिक हैं। वे कितने ही मोहक व रमणीक क्यो न हो अत मे विनाशशील व पतनकारी हैं, परन्तु नीद मे सोया हुआ मनुष्य उन्हे सत्य ही मानता है, ऐसी ही स्थिति सकाम पुरुष की होती है। वह मन-ही-मन इनका सकल्प करके अधिक लाभ की आशा से मूलधन भी गवा बैठता है जैसे पुरानी नाव मे जमा-पूंजी रखकर समुद्र-यात्रा करनेवाला व्यापारी। वह नाव लहरो की थपेडो से चूर-चूर हो जाती है तथा नफा तो एक ओर मूलधन सहित वह व्यापारी भी नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति सकाम मनुष्य की होती है।

"रज, सत्व, तम—इन तीन गुणो मे लगे हुए लोग अपने अनुरूप रज, सत्व और तमोगुण का सेवन करनेवाले इन्द्रादिक देवताओं की ही उपासना करते हैं। वे उसी तरह मुझ गुणातीत की उपासना नहीं करते" ॥३२॥

यह सारी सृष्टि तीन गुणो से व्याप्त है, तदनुसार सकाम व्यक्ति भी तीन गुणो मे युक्त होते है। किसीमे रजोगुण की अधिकता होती है तो किसीमे सतोगुण या तमोगुण की। अपनी-अपनी गुणवृत्ति के अनुसार ही वे अपने इष्टदेव चुनते हैं व उनका भजन-पूजन करते हैं। सत्वगुणी ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्रादि देवताओ की, रजोगुणी काली दुर्गा, भैरव आदि की, व तमोगुणी भूत, प्रेत, पिशाच आदि की उपासना करते हैं।

रज व तमके प्रभाव से मनुष्य की कामनाए प्रवल होती है, उससे चित्त विह्वल व अधीर हो जाता है। फिर गुणानुसार ही विपयो मे उनकी प्रीति होने लगती है। सतोगुण अपने इष्टदेव की पूजा अर्घ्य के निमित्त शृगार, सगीत, नृत्य वाद्य सौंदर्य कला आदि सम्वन्धी अपनी अभिलापाए तृप्त करते है। रजोगुणी मद्य, मास से काली दुर्गा की पूजा करते व तमोगुणी रक्त, नरमुड शव आदि गदी वस्तुओ

व्याख्या करना 'छल' है। पुरुषो का अपने आश्रम से विपरीत मनमाना धर्म आभास है" ॥१३॥ (श्रीमद्भागवत ७।१५)

का उपयोग करके अपनी-अपनी कामना-पूर्ति करते हैं। उनकी चूकि भेद-बुद्धि होती है अत वे यह नही समझ पाते कि वे किसी भी देवता या शक्ति की पूजा करें, उसके द्वारा वे अत को मेरी ही पूजा करते है। उन्हे जो कुछ फल या सिद्धि मिलती है आखिर उमका देनेवाला मै ही हू। अत बुद्धिमान व ज्ञानी पुरुष सब अवान्तर शक्तियो को छोडकर एक मुझ गुणातीत की की हुई पूजा व सब कामनाओ को छोडकर मेरी ही प्राप्ति की एक कामना करते है।

"यहां यज्ञो द्वारा देवताओ का भजन करके इस स्वर्ग लोक मे जाकर आनंद भोगेंगे और फिर उसके पश्चात इस लोक से उच्चकुल मे जन्म लेकर बडे भारी कुटुम्बी होगे। इस प्रकार के पुष्पित चित्र-विचित्र वाक्यो से जिनका चित्त चचल हो रहा है उन अभिमानी और अत्यन्त उद्दण्ड पुरुषो को मेरी वात भी अच्छी नहीं लगती" ॥३३-३४॥

परन्तु जो गुणो मे लिप्त है वे वडी-वडी आशा वाघते हैं कि हम देवताओ की उपासना व यज्ञ-यागादि अनुष्ठान के द्वारा स्वर्ग मे जायगे। वहा नाना प्रकार के सुख भोगकर फिर मृत्युलोक मे आवेगे। जहा ब्राह्मणादि उच्च कुल मे या क्षत्रियादि ऐश्वर्यशाली वश मे जन्म लेकर सुभाग्यवान प्रतापशाली होगे, ऐसे मनमाने मनोरथवाले लोग गन्ने को फेककर उसके छिलके की आशा लगाये रहते है। फल को छोडकर उन्हे फूल ही खा जानेवाले कहना चाहिए। देखो जब सारा ससार ही काल्पनिक है, यह हम जो कुछ देख रहे हे भिन्न-भिन्न नाम-रूपात्मक यह जो दृश्य-प्रपच है वह सब ब्रह्म मे की हुई कल्पना है। या ब्रह्म के मन की तरगे यह विश्व है, या मनुष्य के द्वारा ब्रह्म मे की गई कल्पना है। इसमे जिस स्वर्ग-सुख की आशा की जाती है वह सत्य अर्थात वास्तविक स्वार्थ हितकर कैसे हो सकता है? प्राणी के लिए स्वर्ग-सुख-भोग वैसे ही असत्य व निरर्थक है जैसे कि अधे के लिए मनोहर चित्र। गेहू का अकुर या प्रथम कल्ला बहुत मीठा होता है परन्तु किसान उसे तोड कर खा नही जाता, क्योंकि वह उससे भी अधिक गुणकारी व हितकारी गेहू का स्वाद व उपयोग जानता है। इसी तरह स्वर्ग-फल-रूपी अपने कर्म के कोमल अकुरो को जो खा जाता है—भोगना चाहता है वह मोक्ष रूपी महाफल से वचित रह जाता है। ऐसो को जब कोई सज्जन, साधु, सत कुछ उपदेश देते है तो वे ज्ञानाभिमानी उनकी ओर ध्यान नही देते, यहा तक कि उन उद्दड पुरुषो को मेरी बात भी नही सुहाती।

"वेदो के कर्म, उपासना और ज्ञान तीन काण्ड हैं और वे ब्रह्म और आत्मा की एकता ही सिद्ध करते हैं; किन्तु मन्त्र-द्रष्टा ऋषि परोक्षवादी हैं और मुझे भी परोक्ष कथन ही प्रिय है"॥३५॥

वेदो मे तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना व ज्ञान। तीनो के द्वारा ब्रह्म व आत्मा-परमात्मा[1] व जीवात्मा की एकता ही प्रतिपादित की गई है। तीन मे से किसीकी भी साधना करो——सबका फल चित्त-शुद्धि है। और चित्त-शुद्धि से ब्रह्म का ज्ञान व फिर ब्रह्म मे निष्ठा होती है। वेदो का यह ज्ञान मत्र-द्रष्टा ऋषियो द्वारा ससार मे आया है। ऋषियो को मनन-काल मे या समाधि अवस्था मे जो ज्ञान स्फुरित हुआ वह उन्होंने भिन्न-भिन्न मत्रो द्वारा वेद के रूप मे प्रकट किया। उनकी प्रणाली स्पष्ट व वाच्यार्थ में कहने की नही थी। 'परोक्षप्रिया हि वै देवा' ऐसी श्रुति है। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ऐसी भाषा बोलते है जिसका शब्दार्थ एक व भावार्थ दूसरा होता है। शुद्ध चित्त मनुष्य उसके तात्पर्य को तुरन्त समझ व ग्रहण कर लेता है। वे परोक्ष रूप से कहते थे, अत परोक्षवादी कहलाते हैं। उन्हे ही नही मुझे भी यह परोक्षवाद अर्थात अस्पष्ट व्यजित रूप मे कहने की प्रणाली पसद है। और इसका कारण है। सभी लोग सब प्रकार के ज्ञान के अधिकारी नही होते। खास कर ब्रह्म विद्या के। आत्मविद्या तो अधिकारी लोगो को ही बताई जा सकती है और वे ही उससे लाभ उठा सकते हैं। दूसरो को कोई लाभ नही होता। बल्कि उसके दुरुपयोग का भी भय रहता है। बच्चे के हाथ मे तलवार दे दी जाय तो उससे किसी भी समय वह अपनी, गर्दन या हाथ-पाव काट सकता है। अत वेद-ज्ञान अन्योक्ति-प्रधान है। रूपक, अलकार, व्यजना आदि मे छिपा हुआ है। यही कारण है जो मद्य, माम, आदि के व्यवहार मे वेदो का अभिप्राय, तरकीब से लोगो को उससे छुडाना ही है। उसमे प्रवृत्त करना नही है।

त्रिकाण्ड वेद का लक्षण है, लक्ष्य है, ब्रह्म, आत्मा की एकता। जब यह सिद्ध हो जाती है मनुष्य ब्रह्म-सम्पन्न हो जाता है, तब कर्म व कर्ता सब मिथ्या हो जाते हैं। दोनो का भेद ही नही रह जाता। ऐसी दशा मे कहा तो आश्रम रहा, व कहता वर्ण ,यहा तक कि ध्येय, ध्याता व ध्यान, ज्ञेय, ज्ञाता व ज्ञान या भज्य, भजक व भजन, मे भेद भी नहीं रहता। सबकुछ परिपूर्ण ब्रह्म अपनी पूर्णता मे व्याप्त हो

---

१. ब्रह्म, परमब्रह्म, आत्मा व परमात्मा के संबध मे देखिये, परिशिष्ट न० २।

जाता है। अब न कर्माचरण रहा न वेदाध्ययन, न साध्य-साधन रहा, न दोष-गुण का ख्याल रहा, न पाप-पुण्य का अस्तित्व रहा, न जन्म-मरण का सिलसिला रहा, बल्कि न भेद रहा, न बोध ही रहा, न मोक्ष रहा, न बन्धन रहा, चारो ओर अखण्ड एकरस परमानन्द छा रहा। यह स्थिति है जिसके लिए वेद ने गूढ ज्ञान का निरूपण किया है। इस परम ऐक्य-स्थिति का अनुभव साधारण लोग नही कर सकते, अज्ञानी पाखण्डी इसके द्वारा अर्थ का अनर्थ कर सकते हैं, मिथ्याचार, पाखण्डाचार का प्रचार हो सकता है। लोग भ्रष्ट, नीतिहीन हो सकते है। ऐसा साम्यभाव या तो परम ज्ञानी मे ही शक्य है या बालक मे, या पशु मे, पाखण्डी भी ब्रह्म-ज्ञान का ढोग रचकर साम्याचार का प्रदर्शन कर सकता है। सबके बाह्याचार मे सहसा कोई अन्तर नही दिखाई देगा। बाह्य व्यवहार मे जैसा अज्ञानी वैसा सर्वज्ञ। भेद केवल वासना का है जोकि बन्धन व मोक्ष का कारण है। जब तक शरीर, तब तक दुख मे दु ख और सुख मे सुख अज्ञानियो की नाई ज्ञानियो के शरीर मे भी दिखाई देते है। जो मन से मुक्त है वही मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियो के व्यवहार मे बधा हुआ ही हो, और जो मन से बद्ध है वही बद्ध है चाहे कर्मेन्द्रियो से वह कुछ भी नही करता हो। ससार मे सुख-दु ख का अनुभव दिलानेवाली और बन्ध मोक्ष की ओर ले जानेवाली केवल, बुद्धीन्द्रिया (मन, बुद्धि आदि) ही हैं, कर्मेन्द्रिया नही, अत साम्याचारी और मिथ्याचारी की परीक्षा उनकी वृत्तियो से ही हो सकती है, चौबीसो घटे कुछ समय तक उनके साथ रहने से ही उनकी ठीक पहचान नही हो सकती है। वे क्या कर्म करते हैं इसकी बनिस्वत किस भावना से कर्म करते है—यही अधिक देखने की बात है। वृत्तियो मे भोग की भावना है या त्याग-वैराग्य की, यह मुख्य कसौटी है। दिन भर कैसे विषयो की चर्चा करता है, कैसे लोगो के प्रति रुचि-अरुचि रखता है, क्या सम्मतिया देता है, अपने बारे मे गुप्तता अधिक रखता है या खुलावट, यह देखना चाहिए। यदि त्यागमय वृत्ति है, सज्जनो को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, दुर्जनो की अधिक निन्दा नही—उनके सुधार की चर्चा रहती है, भगवान, लोक-सेवा, परोपकार आदि सद्विषयो का मन्थन होता है, नीति, धर्म, सदाचार-पोषक सम्मतिया देता है, अपने को खली पुस्तक बना रखा है तो उसके ज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ होने की अधिक सभावना समझनी चाहिए।

ऊधो, मूढ चित्त ही, चित्त कहलाता है, शुद्ध चित्त सत्व। चित्त का दूसरा जन्म होता है, सत्व का नही। आत्म ज्ञानियो का मन अत्यन्त उपशम को प्राप्त होकर तुरीय दशा मे स्थित हो जाता है, जैसे कि बादल के बरसने पर मृगतृष्णा की नदी का जल। और धूप के पडने पर बरफ के कण विलीन हो जाते है। जीवन्मुक्तो का हृदय शुद्ध होकर दूसरे जन्म को उत्पन्न नही करता, जैसे भुना हुआ बीज। जीवन-मुक्त के शरीर मे वासना, कामना या चित्त नही रहता, वह सत्व हो जाता है। नित्य समभाव मे स्थित ज्ञानी चित्त-रहित हो जाता है। इसी स्थिति को पाने की विधि वेदो मे बताई है।

"शब्दब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध है। वह प्रणम्य, मनोमय और इन्द्रियमय—तीन प्रकार का है। समुद्र के समान अनन्तपार, गम्भीर और कठिनता से पार किये जाने योग्य है"॥३६॥

ऊधो, वेद को तुम शब्द-ब्रह्म ही समझो। शब्द-ब्रह्म[1] व परब्रह्म दोनो ही मेरी सनातन मूर्तिया है। प्रपच मे आत्मा व्याप्त है, और आत्मा मे प्रपच व्याप्त है, तथा इन दोनो मे कारण रूप से मैं व्याप्त हू और मुझ ही मे ये दोनो कल्पित हैं।

"मुझ अनन्त शक्ति और व्यापक ब्रह्म ने ही उसका विस्तार किया है। कमलनालवत सूक्ष्म तन्तु के समान वह पहले पहल प्राणियो के अन्तःकरण मे नाद-रूप से प्रकट होता है"॥३७॥

इस सूक्ष्म नाद का इतना बडा शब्द-विस्तार मैंने ही किया है। काष्ठ मे जैसे अग्नि छिपी रहती है, व अनुकूल अवसर पाकर वह धीरे-धीरे प्रदीप्त होती हुई भडक उठती है, वैसे ही मूल ॐ-नाद से सारी शब्द-सृष्टि बढी है। इसका निमित्त मैं स्वय हू। मूल वस्तु से जितने विकार हुए हैं, जो भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार बने हैं, उन सबका निमित्त मैं ही हू। इन सबका कर्त्ता होते हुए भी मैं स्वय अविकारी ही रहता हू। मेरी ब्रह्म-रूपता मे उससे बाधा नही पडती। चिन्मूर्ति योग-माया-रूपी मेरी शक्ति के बदौलत मैं उत्पत्ति-स्थिति-लक्ष्य सबका कर्त्ता होते हुए भी स्वय अकर्त्ता बना रहता हूँ। योग-माया या महामाया (या साख्य की भाषा मे प्रकृति) मेरी कार्यकारिणी शक्ति है। मेरे आदेश, प्रेरणा, स्फुरणा, सकेत, सान्निध्य से वह सारा काम करती है। इसकी सारी वास्तविक जिम्मेदारी मेरी है, इस

---

१. देखिये परिशिष्ट न० ३।

अर्थ मे मै उसके सब कार्यों का कर्त्ता हू, व प्रकृत कार्य खुद उसके द्वारा होता है, अत. मै अकर्त्ता हू और मुझे किसी विकार का स्पर्श नही हो सकता।

देखो, घोष-रूप मे जो मैं अति सूक्ष्म-नाद-मात्र था, वह वेद मे मै प्रणव-रूप मे परिणत हुआ। जो अपने अन्त करण मे इसका ध्यान करते है, उन्हे उसकी प्रतीति होती है। यह नाद कमल-नाल के तन्तु से भी सूक्ष्म-रूप मे अवगत होता है। कान बन्द करने पर जो नाद सुनाई पडता है वह वही है। इसीको योगी अनाहत-नाद कहते है। आघात से नाद शब्द उत्पन्न होता है। किन्तु यह नाद बिना ही आघात के होता रहता है, अत इसे अनाहत कहते है।

"जिस प्रकार मकडी अपने हृदय से मुख के द्वारा जाला उगलती है, उसी प्रकार सूक्ष्म नाद रूप उपादान कारण से युक्त वेद-मूर्ति एवं अमृतमय प्राणोपाधिक भगवान हिरण्यगर्भ स्पर्शादि वर्णो का सकल्प करनेवाले मन-रूप निमित्त कारण द्वारा हृदयाकाश से, हृदगत सूक्ष्म ॐकार से व्यक्त हुए—स्पर्श स्वर, उष्मा और अन्तःस्थ वर्णो से विभूषित हुई तथा उत्तरोत्तर चार-चार अधिक वर्णोवाले छन्दो के द्वारा विचित्र भाषाओ के रूप मे विस्तार को प्राप्त हुई नाना मार्गवाली अनन्त पार बृहती को स्वय रचते और अपने मे लीन कर लेते है" ॥३८-३९-४०॥

मकडी के हृदय मे जो अज्ञात अव्यक्त तन्तु रस-रूप मे रहता है वही उसके मुह से अत्यन्त सूक्ष्म आकार मे प्रकट होता है। ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म मे जो प्राण-रस है वह ॐकार होकर सूक्ष्म-नाद रूप से व्यक्त होता है। यह निर्गुण ब्रह्म जब सप्राण ॐकार हुआ तो उसका नाम 'हिरण्यगर्भ' हो गया। यह हिरण्यगर्भ इस सूक्ष्म प्राण-रूपी ॐ-नाद के द्वारा—उसे उपादान बनाकर—छन्दोमय वेद-मूर्ति निर्माण करता है। पहले वह उसके द्वारा मन शक्ति को जगाता है। अब यह मन शक्ति निमित्त कारण हो जाती है और हृदयाकाश मे 'क' से लेकर 'म' तक स्पर्श वर्णो की, 'अ' से लेकर 'ॐ' तक स्वरो की, 'ब' 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन उष्म तथा 'य', 'र', 'ल', 'व' इन अन्तस्थ वर्णो की उत्पत्ति करती है। इसी वर्णमाला से ससार की सारी भाषा, बोली उत्पन्न हुई व फैली है।

हमारे शरीर मे यह नाद सूक्ष्म ॐकार रूप से प्राण के साथ व्याप्त हो रहा है। यह अलौकिक है। मूलाधार चक्र से उसकी ऊर्ध्व गति होती है। तब वाचा अभिव्यक्त होती है। ॐकार की तीन मात्राए मिलाकर वाणी की उत्पत्ति होती है। परावाणी के उदर से पश्यन्ती, पश्यन्ती के उदर से मध्यमा व मध्यमा के उदर

से वैखरी का जन्म होता है। आधार-चक्र की 'वाचा' स्वाधिष्ठान मे चढकर 'पश्यन्ती' व मणिपूर से विशुद्ध चक्र तक के प्रदेश मे गूजकर 'मध्यमा' हो जाती है। वही मुख से हमारी साधारण वाणी के रूप मे प्रकट होकर 'वैखरी' बन जाती है। स्वर-वर्ण के रचना-भेद से वही मत्र, छन्द आदि वनती है। शव्द के उच्चारण-स्थान व ध्वनि के स्वरूप को परखकर ऋपियो ने सव शव्दो को स्वर व व्यजन वर्णों मे विभाजित किया है, जिससे वर्ण-माला वन गई। अनुस्वार, विसर्ग युक्त यही ५२ वर्ण की ५२ मातृका कहलाती है।

भाषा के गद्य व पद्य दो भेद हो जाते हैं। व्याकरण के नियमानुसार जो भाषा हम वोलते है वह गद्य व छन्द शास्त्र के नियमानुसार जो विविध छन्द, दोहे, सवैये आदि वनाते हैं वह पद्य कहलाती हैं। वेद छन्दोवद्ध हैं। उनके छन्द मन्त्र कहलाते हैं। जव लिखने की प्रथा नही थी तव छन्दो की रचना कर लेने से कण्ठाग्र कर लेने मे सुविधा होती थी। इसीसे प्राचीन समय मे छन्दोवद्ध ग्रन्थ लिखने का रिवाज अधिक था।

वेदो की भाषा पुरानी सस्कृत है। उसका नाम ही वैदिक भाषा पड गया है। साधारण सस्कृत 'लौकिक' कहलाती है। चार-चार अधिक वर्णों को जोडकर कई छन्द वनाये गए हैं। अव इन छन्दो व वोलियो की कोई सीमा नही रह गई है। इसी नाद से राग-रागिनियो का एक अलग विभाग हो गया है। वह भी व्याकरण व छन्द-शास्त्र की तरह वहुत विस्तृत है। इस तरह शव्द-ज्ञान के विस्तार का अव कोई अन्त नही रहा है। सारा साहित्य, वाग्मय, उसका एक अग मात्र होकर रह जाता है।

"इनमे कुछ छन्द ये हैं—गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, वृहती, पक्ति, त्रिष्टुप, जगती, अतिच्छन्दा, अत्यष्टि, अति जगती और विराट"॥४१॥

सव छन्दो का मुख्य अधिष्ठान गायत्री छन्द है। उसका पहला लक्षण इस प्रकार है—आठ-आठ अक्षर के तीन पद। प्रत्येक पद पर यति अर्थात् विराम है। इसे वेद का वीज समझो। इसीलिए इसे वेद-माता कहा है। इसमे सारा व्रह्म-ज्ञान निहित है। इसे परमानन्द का सार-सर्वस्व समझो।

जीव व शिव की एकता इससे सिद्ध होती है। इसमे व्रह्म का ध्यान और व्रह्म रूप हो जाने की प्रार्थना की गई है और इसलिए गायत्री जप और अनुष्ठान की वडी महिमा है।

गायत्री मे चार अक्षर जोडने मे उष्णिक् वनता है, उष्णिक् मे चार अक्षर जोडने से अनुष्टुप, अनुष्टुप मे चार जोडने से वृहती छद वनता है। इसी प्रकार क्रम से चार-चार अक्षर जोडने से पक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छदा, अत्यष्टि, अति जगती और विराट आदि छन्द वन जाते है।

"वह वृहती क्या विधान करती है, क्या वतलाती है और किसका अनुवाद करती हुई क्या विकल्प करती है? उसके इस मर्म को ससार में मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता"॥४२॥

इस प्रकार यह वैखरी वृहती अर्थात विस्तृत हो गई जो कि मूलत वेद-वाणी थी। यह कर्म-काण्ड मे विधि व जनो से क्या विधान करती है, उपासना-काण्ड मे मत्र वचनो से क्या वतलाती है, और ज्ञान-काण्ड मे किसका अनुवाद करती हुई निपेध के लिए क्या विकल्प करती है, उसके इस मर्म को ससार मे मेरे सिवा और कोई नही जानता, क्योंकि मनुष्य स्वार्थ-साधन मे, विषय-भोग मे, सकाम कर्मो मे इतने लिप्त हैं कि उनकी बुद्धि मे मेरा वास्तविक ज्ञान व हेतु सहसा नही आ सकता, फिर इसके लिए कोरा बुद्धि-वल या ज्ञान-वल काफी नही है, साधना-तप भी चाहिए। इसीसे मनुष्य की बुद्धि उसे जानने योग्य स्थिति प्राप्त करती है।

तप से बुद्धि शुद्ध व एकाग्र होती है और सूक्ष्म ज्ञान को जल्दी ग्रहण कर लेती है।

"वह मेरा ही विधान करती है, उपास्य रूप से। मेरा ही वर्णन करती है और आकाशादि रूप से मेरा ही आरोप कर फिर मेरा ही वाधा करती है। सम्पूर्ण वेद का यही अर्थ हे—वह मेरा आश्रय लेकर भेद को माया-मात्र बतलाता हुआ उसका निषेध करके अन्त मे शान्त हो जाता है"॥४३॥

सच तो यह है कि यह वेद-वाणी इन तीनो काण्डो के द्वारा मेरा ही प्रतिपादन करती है, मुझे ही पाने का उपाय व साधन वतलाती है। कर्म-काण्ड मे वह जो कर्मो का विधि-निपेध वताती है, सो इसलिए कि वुरे कर्मो से मनुष्य का मन हटे व शुभ कर्म मे लगे, जिससे उसका चित्त शुद्ध हो, वह निष्काम कर्म मे प्रवृत्त हो। जो पुरुप सव कर्म मुझे समर्पण करते है और जिनका समय मेरे ही कामो मे वीतता है वे यदि गृहस्थाश्रम मे भी रहे तो घर उनके वन्धन का कारण नही होता। मैं ज्ञान-रूप परमात्मा उनके हृदय मे नित्य-नया-सा भासता हूँ। मुझे पाकर पुरुप न मोह को प्राप्त होते है, न शोक को, न हर्ष को।

निष्काम कर्म से चित्त मे समता आती है, आत्म-भाव वढता है। चित्त शुद्ध होने से उसपर मेरे स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होने लगता है व चित्त सम होने से मेरा पद मिलता है। यह हुआ कर्म-काण्ड का उपयोग। अव उपासना-काण्ड या भक्तियोग की महिमा सुनो।

कर्म-काण्ड से चित्त शुद्ध तो हुआ, पर वह विषयो से छूटा नही। विषय-भोगो का चस्का लगा ही रहा और उनसे छूटने का सामर्थ्य स्वत साधक मे न हो तो उपासना के द्वारा चित्त को विषयो से हटाकर मुझमे लगाने की प्रेरणा व योजना की गई। उसमे मन्त्र व मूर्तियो की उपासना व मेरा सगुण अनुष्ठान बताया गया है, भिन्न-भिन्न शक्तियो या देवताओ के रूप मे मेरी ही उपासना बताई गई है, मेरे अनन्य भजन से रज, तम का नाश होकर सत्व-वृत्ति वढती है, श्रवण-कीर्तन मे अनुराग बढने से सब भूतो मे मद्भाव होने लगता है। यह गुणातीत अवस्था की ओर प्रस्थान है। उस दशा मे भज्य, भजक, भजन, पूज्य, पूजक, पूजन, साध्य, साधक, साधन यह सब भक्त स्वय ही होने लगता है। अव मैं भगवान और वह भक्त यह भेद नही रह जाता। बाहर के ये नाम-रूप-भेद बाहर ही रह गये। दोनो भीतर सच्चिदानन्द स्वरूप मे मिलकर एक हो गये। यह उपासना-काण्ड का उद्देश व उपयोग हुआ।[1]

---

१. भक्ति की महिमा एकनाथ महाराज इस प्रकार वताते हैं—

"भगवान का तो पहले नाम भी नहीं होता, भक्ति ही उनके नाम रूप-सब कुछ प्रतिष्ठित करके उन्हे देती है। भक्ति ही उन्हें नाना प्रकार के विलास भी अर्पण करती है। इस प्रकार भक्ति ने ही भगवान को लाकर वैकुण्ठ मे बैठाया है और भगवान बनाया है। भगवान न तो नर बने न नाहर। हा, भक्तो के वचन अलबत्ता उन्होंने सत्य किये। भक्त के लिए खम्भ मे भी प्रकट हुए, पत्थर की मूर्ति मे भी प्रत्यक्ष होते हैं।

"जो मैं हूं वही मेरी प्रतिमा है। उसमे कोई दूसरा धर्म नहीं है। उसमे मेरा ही वास है। मै सर्वत्र हू। पर जो भक्त नहीं है, उन्हे दिखाई नहीं देता। जल मे, थल मे, पत्थर मे, कहा नहीं हू? जिधर देखो उधर मैं-ही-मैं हू; पर अभक्तो को केवल शून्य दिखाई देता है।

"एकत्व के साथ सृष्टि को देखने से दृष्टि मे भगवान भर जाते हैं, द्वैत की

अब ज्ञान-काण्ड भी मेरा ही बोध करता है। ब्रह्म के चेतनाश का जो प्रतिबिम्ब माया मे पडता है वह 'तुम' या 'तू' शब्द से सबोधित होता है। यही जीव कहलाता है। इस तरह एक ही ब्रह्म के दो भाग हो गये। एक अपनेको कहता है—'मैं' व दूसरे को 'तू'। मैं कहनेवाला 'दृष्टा' हुआ, व 'तू' कहलानेवाला 'दृश्य'। 'मैं' ब्रह्म पदवाच्य व 'तू' जगत या जीव-पदवाच्य। माया सुप्त चैतन्य-पूर्ण ब्रह्म है, माया-युक्त ब्रह्म जीव है। माया-युक्त चैतन्य परमात्मा व माया-प्रतिबिंबित चैतन्य जीवात्मा कहलाता है। ब्रह्म या परमात्मा सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, अखण्ड ऐश्वर्य-सम्पन्न, 'कर्तुम्, अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' है। वह नित्य, मुक्त, स्वयभू है। उसकी सहज सत्ता अकुण्ठित है। वह सदा पूर्ण परमानन्द मे निमग्न है। वह 'तत्' शब्द से सबोधित होता है।[1]

भावना नही होती; ध्यान भगवान में ही लगा रहता है। वहा मै-तू या मेरा-तेरा कुछ भी नहीं रहता है, केवल भगवान ही, ध्यान में, मन में, अंतर जगत में बहिर्जगत मे भगवान ही भगवान दीखते हैं।"

श्रीरामकृष्ण परमहस कहते हैं—

"घड़े में जल भरकर छींके पर टाग दो, तो वह दो-तीन दिन में सूख जायगा। किन्तु उसी जल से भरे घड़े को गगा-जल में डुबाये रक्खो, तो कभी नहीं सूखेगा। इसी प्रकार जो नित्य ईश्वर में डूबा रहता है उसकी प्रेमा-भक्ति नहीं सूखती परन्तु दो-एक दिन की भक्ति से ही जो संतुष्ट तथा निश्चिन्त रहता है उसकी भक्ति उस घड़े के जल के समान दो दिन मे ही सूख जाती है।

"साधना की गति तीन प्रकार की होती है—पक्षी-गति, वानर-गति, चींटी-गति। पक्षी-गति—पक्षी पेड़ के एक फल को चोच मारता है, फल नीचे गिर पड़ता है परन्तु पक्षी उसे चोच से लेकर उड़ नहीं सकता। वानर-गति—बंदर फल को मुख में लेकर जैसे ही उछलता है वैसे ही फल गिर पडता है। चींटी-गति—चीटिया धीरे-धीरे अपने भोजन के पास जाती हैं, भोजन के पदार्थ को धीरे से मुंह मे लेती है और धीरे-धीरे ही उसे चखती हैं। इसी गति से साधना करना श्रेष्ठ कहलाता है।"

१. ब्रह्म का परिचय कराने या लक्षण बतानेवाले वचन उपनिषदो में भरे पड़े हैं:—

जीवात्मा की गति परमात्मा की ओर सहज रूप से है, वह उसे कभी नहीं भूलता न भूल सकता है। एक दूसरे से कितने ही जुदा क्यो न पड गये हो, भटक गये हो, परन्तु जीवात्मा परमात्मा को उसी तरह झट पहचान लेता है—जसे पत्नी बाल्य-अवस्था मे विदेश गये हुए किन्तु अब यौवन-सम्पन्न हुए पति को, बरसो निकल जाने पर भी, तुरन्त पहचान लेती है, क्योकि दोनो के स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। इसी तरह 'तू', 'मै', 'वह' इन शब्दो द्वारा दर्शित भेद को छोडकर जीव व शिव दोनो का ऐक्य मे समाधान करना ज्ञान-काण्ड का प्रयोजन है। मनुष्य की चित्त-वृत्तियो के (अर्थात अधिकार के) अनुसार ये तीन भिन्न-भिन्न काण्ड हैं, जो वास्तव मे मुझे पहचानने और मुझतक पहुचने का प्रयत्न करते है। भिन्न-भिन्न शब्द मे वे मुझ अभेद परमात्मा का ही प्रतिपादन करते है। कर्म-काण्ड का साराश कहू तो इतना ही कि कर्म के आदि, मध्य व अन्त मे मेरी ही भावना करना, कर्म कर्ता भी मुझीको मानना, क्रियाशक्ति भी मुझी को समझना व कर्म-फल दाम भी मुझी को मानना। इसी तरह उपासना-काण्ड का रहस्य सक्षेप मे यह है—मन्त्र, मूर्ति व मन्त्रार्थ सबको मेरा ही रूप समझना, पूज्य, पूजक, समस्त पूजा-विधि व पूजा सामग्री को मुझसे भिन्न न समझना चाहिए। देव ही देव की पूजा करता है, देव होकर ही देव की पूजा करनी चाहिए। यह वेद का निज बीज है जो आगमो मे भी बताया गया है। देव भी मैं ही हू, भक्त भी मैं ही हू, पूजोपचार भी मैं ही हू, मैं ही अपनेको पूजता हू—ऐसी भावना उपासना की परिपूर्णता है।

ज्ञान-काण्ड का सार यह है कि यह सारा ससार काल्पनिक है। अत वेद भी मायिक समझना चाहिए।[१]

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तैत्तिरीय०)

'विज्ञाननानन्द ब्रह्म' (बृहदा०')

'अशब्दमस्पर्श्यमरूपमव्यय तथा रस नित्यमगन्धवच्चयत् अनाद्यनन्त महत. पर ध्रुवम्. . '(कठ०)

१. अद्वैतवादियों के मतानुसार समस्त विश्व मे एक ही तत्व है; दो या बहुत से स्वतत्र और भिन्न सत्तावाले तत्त्व नहीं हैं। वह तत्व जड़ द्वैतवादियो के अनुसार, जड प्रकृति और चेतन द्वैतवादियो के अनुसार चेतन ब्रह्म है। ससार की जितनी वस्तुए हैं वे सब इसी एक तत्व के नाम-रूप हैं। 'योगवासिष्ठ' के अनुसार भी ससार

यहा वेद से अभिप्राय उसके मूलज्ञान से नही, वल्कि उसके शरीर, आकार-प्रकार, अक्षर, शव्द, छद आदि से है। जवतक ससार मे भेद की सत्ता है तभी तक वेद का महत्व है। जव साधक एकात्म भाव मे लीन हो गया तो फिर वेद भी वहा 'नेति'-'नेति' कहकर समाप्त हो गया। घडे का पानी जैसे नदी या समुद्र मे मिल कर एक हो जाता है वैसे ही वेद भी अद्वैत मे समा गया-जैसे आग लकडी को जला कर स्वय शान्त हो जाती है, वैसे ही वेद भी ज्ञान-काण्ड का निरूपण करके स्वय

के समस्त पदार्थ जो हमको चारो और दिखाई पडते है, चित्-मात्र ब्रह्म के ही अनंत नाम रूप है। यहापर कोई भी जड़ पदार्थ नहीं है, जो कुछ भी है वह चेतन आत्मा का ही परिमित, अस्थिर और परिवर्तनशील रूप विशेष है।

विचार करके देखा जाय तो हमको अपनी आत्मा अथवा मन, और उसके विकारो के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का ज्ञान कभी होता ही नहीं। बाह्य पदार्थ भी जवतक कि हमारे मन के संवेदनात्मक विकारो का रूप धारण करके हमारे अनुभव में नहीं आते, उनका ज्ञान हमको कभी नहीं हो सकता। हमारी सवेदनाएं और ज्ञान कहातक मनोमय है और कहातक पदार्थों के रूप को बतलाते हे, यह कहना सर्वथा असभव है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे वैयक्तिक चेतन मे सवेदन उत्पन्न करने के कुछ कारण व्यक्ति से बाहर के पदार्थ हो सकते है, परन्तु यह किसी प्रकार नही कहा जा सकता कि वे कारण स्वय चेतन अथवा चेतन की विकृतिया नहीं है। चेतन के विकारो को यदि समझना हो तो मन व उसकी कल्पनाओ को समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त हमारे अनुभव में और कोई चेतन की विकृति नहीं आती। यदि संसार मे चेतन आत्मा और उसकी विकृतियां (नाना नाम-रूपो) के सिवा कुछ भी नही है, तो यही कहना सत्य होगा कि ससार के सव पदार्थ आत्मा तथा मन की कल्पनाए ही है। इसके अतिरिक्त संसार मे ओर कोई पदार्थ नहीं है। चेतनाद्वैत को मनाने का यही परिणाम है।

भारत मे वौद्धो के विज्ञानवाद, पाश्चात्य देशो के वड़े-वडे तत्वज्ञ वर्कले, काण्ट, हेगल आदि ने इसी प्रकार के मत का समर्थन किया हे।

योगवासिष्ठकार की भाषा में "यह सारा ससार कल्पना मात्र है। मनन (मन के कार्य) के अतिरिक्त ससार कुछ नहीं है। तीनो जगत मन के मनन से ही निर्मित होते है। इस रूप (विषय) आलोक (सवेदन) मनस्कार (मन का विचार)

विराम को प्राप्त हो जाता है। वेद तो वही तक वर्णन कर सकता है जहातक द्वैत है। अद्वैत का वर्णन ही क्या हो व कौन करे ?

सत्ता (पदार्थ का तात्विक रूप) काल व क्रियावाले जगत को मन इस प्रकार वनाता व तोडता है जैसे कुम्हार घडे को। चित्त अपने भीतर इस सारे ससार को सकल्प के रूप मे रचता व समेटता है जैसे कि स्वप्न के पदार्थ को।

स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदिया—ये सव आत्मा के सकल्प से इस प्रकार वने हैं जैसे कि स्वप्न वनता है। जिस प्रकार जल मे धारा, कण, लहर, और फेन आदि रूप दिखाई पडते हैं उसी प्रकार यह सव विश्व चित्त का ही विचित्र विभव है। (आत्रेय, योगवासिष्ठ)

: २२ :

पुरुष-प्रकृति

श्री उद्धवजी बोले—"हे प्रभो, हे विश्वेश्वर, ऋषियो ने कितने तत्व गिनाये ? आपने तो अभी नौ, ग्यारह, पांच और तीन तत्व कहे हैं, जिन्हें कि हम सुन चुके हैं, किन्तु कोई छब्बीस, कोई पच्चीस, कोई सात, कोई नो, कोई छह, कोई चार, कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह तत्व बतलाते हैं। हे आयुष्मन, ऋषिगण जिस अभिप्राय से इतनी भिन्न-भिन्न संख्याएं बतलाते हैं, सो आप मुझसे कहिए" ॥१, २, ३॥

उद्धव ने अब यह अच्छी तरह समझ लिया कि सबकुछ ब्रह्म ही है, व मैं भी ब्रह्म हू। मुझमे व श्रीकृष्ण मे कोई भेद नही है। ससार मे तत्व दो या अनेक नही, बल्कि एक ही है। तब फिर उसके मन मे यह शका खडी हुई कि भिन्न-भिन्न विद्वान व ऋषि तत्व-सख्या भिन्न-भिन्न क्यो बताते है ? कोई २८, कोई २६, कोई कुछ और कोई कुछ। अत उसने श्रीकृष्ण से जानना चाहा—इस विभिन्नता का क्या कारण है।

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, इस विषय में ब्राह्मण लोग जो कुछ कहते हैं वह सभी ठीक है, क्योकि सब तत्व सब जगह अन्तर्भूत हैं। मेरी माया का आश्रय लेकर कहनेवालो के लिए, भला कौन बात कहना कठिन है" ॥४॥

श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम्हारी शका ठीक है। तत्व तो वास्तव मे एक ही है परन्तु जिसकी जैसी समझ मे आता है वैसा वह निरूपण करता है। यह जो समझ का फेर है वह तबतक नही जाता जबतक मनुष्य मेरी माया के चक्कर से नही छूट जाता। क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी, जबतक किसीके मन मे यह धारणा है कि जगत मे मूलभूत तत्व भिन्न-भिन्न है तबतक, समझ लो कि वह मेरी माया के ही फन्दे मे है। ऊपर-ऊपर देखने से बहुत गहराई तक भी भिन्नता ही मालूम होगी—

ठेठ अत तक जिसने खोज की है, व स्वत अनुभव किया है, उसने एक तत्व को पा लिया है।

"जैसा तुम कहते हो वह ठीक नहीं है; मैं जो कहता हू, वही यथार्थ है। इस प्रकार जगत के हेतु के विषय मे विवाद करनेवालो के उस वाद मे अति कठिनता से पार होने योग्य मेरी सत्यादि शक्तिया ही कारण हैं" ॥५॥

लेकिन कोरे पाण्डित्य या शास्त्राभिमान से जिनकी बुद्धि ग्रसित हो चुकी है वे अपनेको सत्य व दूसरे को झूठ बताकर बहुत वाद-विवाद करते व बढाते हैं। अनुभव से दोनो खाली होते हैं, अत इस विवाद का अत कही नही आ सकता। शास्त्रार्थ मे एक की हार व दूसरे की जीत भले ही हो ले, तत्वार्थ किसीके हाथ नही लगता। अत ससार के हेतु या मूल कारण के सम्बन्ध मे जो ऐसा विवाद खडा करते हैं, उसका कारण मेरी माया के तीन गुणो का प्रभाव ही है। जिसकी बुद्धि पर जिस गुण का प्रभाव हो जाता है वैसी ही उसकी समझ हो जाती है। जो तीनो गुणो से परे हो जाते हैं वे एकत्व या अद्वैत तत्व के सम्बन्ध मे शका नही उठाते।

"उन (शक्तियो) के क्षोभ से ही यह विकल्प-रूप प्रपच वादी-प्रतिवादियो के विवाद का स्थान हुआ है। शम और दम के स्थिर होने पर यह शान्त हो जाता है और उसके साथ ही वाद-विवाद भी निवृत्त हो जाता है" ॥६॥

इन गुणो या शक्तियो के ही क्षोभ से यह विकल्प-रूपी प्रपच, जिसमे स्वत वास्तविकता नही है, जो खुद असली नही है, दूसरी वस्तु के आश्रय से जिसके रूप का भान होने लगता है, विवाद का स्थान बन जाता है, लेकिन जब शम-दम आदि साधनो मे बुद्धि शुद्ध, स्थिर, सम व एकाग्र हो जाती है, तब ये विवाद शान्त हो जाते हैं। सूर्य के सदृश ज्ञान का प्रकाश उनके हृदय मे हो जाता है, जिसमे यह भेद रूपी अधकार तुरन्त तिरोहित हो जाता है।

"हे पुरुष-श्रेष्ठ, तत्वो के परस्पर मिले हुए होने के कारण वक्ता को जैसा बताना अभीष्ट है, उसके अनुसार कार्य-कारण भाव से अथवा न्यूनता-अधिकता के विचार से तत्वो की यह भिन्न-भिन्न संख्या है" ॥७॥

एक और बात भी है, ये तत्व आपस मे एक दूसरे से मिले रहते हैं, एक मे दूसरा तत्व पैदा होता है। कारण-रूप तत्व से कार्यरूप तत्व बनता है, अत वक्ता इन तत्वो के कार्य-कारण-भाव या न्यूनाधिकता के अनुसार अपनी समझ से उनकी सख्या जोडता व बताता है।

"कारण-तत्व अथवा कार्य-तत्व में एक-एक में दूसरे-दूसरे तत्व भी सम्मिलित दिखलाई देते हैं। इसलिए पूर्वापर-रूप से तत्वो की न्यूनाधिक संख्या चाहनेव ले वादियो में जिसने अपने मुख से जैसा कहा है, युक्ति-युक्त होने के कारण हम उसीको निश्चित मानकर स्वीकार कर लेते हैं" ॥८-९॥

देखो, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ। आकाश वायु का कारण व वायु आकाश का कार्य है। परन्तु वायु से अग्नि की उत्पत्ति होने के कारण वायु अग्नि का कारण और अग्नि वायु का कार्य हुआ। ऐसे ही और भूतो या तत्वो को समझो। सच पूछो तो ये कार्य व कारण भी एक दूसरे से भिन्न नही है। देखने मे दो, पर वास्तव मे एक ही है। सोने से भिन्न-भिन्न आभूषण बनते हैं, अत सोना कारण, व आभूषण कार्य हुए। परन्तु आभूषण सोने से भिन्न नही है। तन्तु मे सूत से कपडा बनता है। अत सूत कारण व कपडा कार्य हुआ, परन्तु वह सूत से भिन्न नही कहा जा सकता। शक्कर की अनेक मिठाइया, मिट्टी, पत्थर, लकडी की अनेक मूर्तिया, शक्कर, मिट्टी, लकडी पत्थर से जुदा नही कही जा सकती। इस तरह यह कार्य-कारण की एकता ब्रह्म व जगत पर भी लागू पडती है। ब्रह्म कारण है व जगत उसका कार्य है।

अत जो जितनी सख्या बताते हैं उसे मैं सही मान लेता हू। सख्याओ के भेद से वस्तु-भेद या तत्व-भेद तो होता नही, केवल सख्या-भेद होता है, जो कि ऊपरी व नगण्य है।

"अनादिकाल से अविद्या-ग्रस्त हुए पुरुष को स्वय ही आत्मज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसको ज्ञानोपदेश करने के लिए किसी अन्य तत्वज्ञानी की आवश्यकता है" ॥१०॥

पहले जो ९+११+५+३=२८ तत्व बताये है,वे इस प्रकार है—प्रकृति, पुरुष, महत, अहकार व पाच महाभूत ये ९ हुए। दस इन्द्रिया व ग्यारहवा मन मिलाकर ११ हुए। शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श ये पाच विषय, व सत्व, रज, तम ये तीन गुण हुए। इस तरह कुल २८ हुए। इनमे से तीन गुणो को घटा देते है तो २५ रह जाते है। इनमे से पुरुष-तत्व ईश्वर से पृथक होकर जीव-रूप हो जाता है। उसे मिलाने से २६ तत्व हो जाते है। या पुरुष को यदि जीवात्मा समझो तो प्रकृति व पुरुष दोनो के अधिष्ठान-रूपी सर्वज्ञ परमेश्वर नामक एक और तत्व हो जाता है। इस नवीन तत्व को मानने का कारण यह है कि यह जीव शरीराभिमानी होकर

ससार मे वध गया है। इसके कर्म-वन्धन इतने सख्त हो गये हैं, अहकार के प्रभाव से 'पुण्य-पाप' की राशियां इसने जोड रक्खी हैं और अपने असली रूप को इतना भूल गया है कि एकमात्र ज्ञान-दाता, सर्वज्ञ, ईश्वर ही उन्हे ढीला करने मे समर्थ हो सकता है। यो ससार मे ज्ञान-दान देना गुरु का काम है। परन्तु सद्‌गुरु भी तो ईश्वर-कृपा के विना नही मिलते। ससार मे जीव साधारणत ईश्वर से भिन्न अवस्था मे पाया या देखा जाता है। जीव नियम्य और ईश्वर नियता है। जीव अज्ञानी व् ईश्वर ज्ञान-दाता है। जीव परिच्छिन्न, परिमित, एकदेशी और ईश्वर सर्वथा, सर्वज्ञ, सर्वगत है। जीव दीन, हीन, अज्ञान, ईश्वर समर्थ, सर्वज्ञ। जीव दृढ कर्म-वन्वन से वधा हुआ, ईश्वर सव प्रकार के कर्मों से अलिप्त, निष्कर्म।[1] ऐसी दशा मे ईश्वर-कृपा से ही जीव को यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि उसकी यह जाहिरी भिन्नता वास्तविक नही है। ऐसे अज्ञानावृत जीव को आरभ मे कर्माचरण ही करना चाहिए। पहले स्वधर्मानुसार कर्म करे, फिर शुभ कर्म, सत् कर्म की प्रवृत्ति वढावे, फिर निष्काम कर्म का यत्न करे। सव कर्मों को ईश्वरार्पण करने से उनका वन्धन या दोष नही रह जाता, फिर वह कर्म जड नही हो सकता। इससे धीरे-धीरे कर्म, क्रिया, कर्म-फल-दाता, कर्म-प्रेरक, सबकुछ परमात्मा ही दीखने लगता है। यही जीव-शिव के ऐक्य की, जीव को अपनी वास्तविक स्थिति पा जाने की अवस्था है। इसीको जीव की सायुज्य मुक्ति कहते हैं। जीव तत्वत ईश्वर ही है, परन्तु वह ईश्वर से भिन्न रूप मे ससार मे पाया जाता है। अत उसे पृथक तत्व गिन लेना अनुचित नही है।[2]

"परन्तु क्योकि आत्मा और परमात्मा मे अणु-मात्र भी भेद नहीं है, किसी अन्य 'पुरुप की कल्पना करना भी सर्वथा व्यर्थ है और ज्ञान तो प्रवृत्ति के सत्व गुण का ही व्यापार है" ॥११॥

परन्तु चूकि आतमा व परमातमा[3] मे कोई भेद नही है, सहज स्वभाव से ही

---

१ 'कुलार्णवतन्त्र' मे जीव व शिव का भेद इस प्रकार वताया गया है—

"घृणा, लज्जा, भय, शका, जुगुप्सा केति पचमी।
कुल, शील, तथा जातिरष्टौ पाशा. प्रकीर्तिताः॥
पाशवद्धो भवेज्जीव. पाशयुक्त. सदाशिव ॥"

२. देखिये, परिशिष्ट नं० ४। 　३. देखिये परिशिष्ट नं० ५।

दोनो मे एकता है, अत दो की या इनमे किसी अन्य पुरुष की कल्पना करना व्यर्थ है। दर्पण मे जैसे हमारा प्रतिबिम्ब दीखता है, एक होते हुए भी हम दो दीखते हैं परन्तु क्या वास्तव मे हम दो होते हैं? वैसे ही जीव-शिव का भेद व ऐक्य है। जीव सदाशिव की ही अज्ञान प्रतिबिंबित मूर्ति है, शिव उसका द्रष्टा है। चेतनता मे दोनो की समानता हैं। जैसी हम चेष्टा करते है, वैसी ही प्रतिबिम्ब मे दिखाई देती है। अर्थात हमपर ही प्रतिबिंब अवलबित रहता है। उसी तरह सम्पूर्ण ईश्वर ही जीव मे लक्षित होता है। राख मे पडी चिनगारी की तरह शिव जीवावस्था को प्राप्त होकर पडा है। यद्यपि राख मे है, पर चिनगारी ने अपना अस्तित्व नही छोडा है। इसी तरह जीव शरीर से आच्छादित होने पर भी शिवत्व-चेतनत्व से खाली नही हुआ है।

तुम पूछोगे कि यदि जीव व शिव एक ही है, तो फिर एक मलिन व दूसरा शुद्ध, एक सदोष व दूसरा निर्दोष—ऐसा फर्क क्यो दीखता है? तो इसका कारण उसके माध्यम का दोष है। शिव व जीव दोनो स्वत शुद्ध है। स्फटिक के नीचे जैसा रग बिछा दोगे वैसा ही रग स्फटिक का दीखने लगता है। दर्पण मे दोष हो तो प्रतिबिंब भी ज्यो-का-त्यो नही उठता। इसी तरह जिस शरीर मे व जिन वासनाओ मे जीव लिप्त हो गया है उनके ससर्ग के कारण उसमे दोष दीख पडता है। वैसे जीव यदि अपनी शुद्ध व मूल अवस्था को पहचान ले व सदा याद रक्खे तो वह निर्दोष ही है। इस प्रकार दोनो मे परम ऐक्य होने से उनको अलहदा गिनना व्यर्थ है। अतः तत्व २६ नही, २५ ही मानना चाहिए।

अब एक शका रह जाती है। जीव व शिव की एकता को जान लेना ज्ञान कहलाता है। अत ज्ञान को भी एक स्वतन्त्र तत्व क्यो न माने? तो इसका समाधान यह है कि ज्ञान वास्तव मे कोई स्वतन्त्र तत्व नही है। वह प्रकृति का ही एक गुण है। सात्विक गुणो के उत्कर्ष का फल है। सत्वगुण की ही एक वृत्ति है। शुद्ध सत्व का ही नाम ज्ञान है। अत उसे पृथक नही गिनना चाहिए।

"तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। अत. संसार की स्थिति, सृष्टि और नाश के हेतु-भूत सत्व, रज और तम ये तीनो गुण प्रकृति के ही है, आत्मा के नहीं" ॥१२॥

यह तो कहना न होगा कि तीन गुण प्रकृति के है, पुरुष अर्थात आत्मा के नही हैं, क्योकि प्रकृति क्या है? तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। उत्पत्ति,

स्थिति, सहार ये इन तीन गुणो के कार्य हैं। रज से उत्पत्ति, सत्व से स्थिति व तमोगुण से सहार[1] होता है। परन्तु आत्मा इन गुणो से परे हे। अत परमात्मा गुणातीत कहलाता है। तो फिर जीव इन गुणो से ग्रस्त क्यो मालूम होता है? इसका कारण है जीव का अज्ञान, भ्रम। देखो, चन्द्रमा यो स्थिर हे, परन्तु वादल मे आ जाने से ऐसा मालूम होता है कि वह दौड रहा है, इसी तरह शरीर के कारण से जीवात्मा इन गुणो के चक्कर मे आ जाता है।

"सत्वगुण ज्ञान है रजोगुण कर्म और तमोगुण ही अज्ञान कहा जाता है। इन तीनो गुणों की विषमता का हेतु ही काल है और स्वभाव ही यह तत्व है" ॥१३॥

सत्वगुण ज्ञानमय है, रजोगुण कर्म-प्रवृत्तिमय है, तमोगुण मोह, आलस्य, अज्ञान-युक्त है। ये तीनों गुण प्रकृति मे सोये रहते है, जव समय आता है, अर्थात अनुकूल समय आने पर इन गुणो मे क्षोभ होता है और वे पृथक अपना प्रभाव वताने लगते है। यह समय या काल-पुरुष का ईक्षण अर्थात देखना है, ईश्वर की शक्ति विशिष्ट है, वास्तव मे दोनो एक ही है। प्रकृति या माया के स्वाभाविक स्फुरण का जो प्रथम कार्य है वही महत्तत्व है। प्रकृति का प्रथम निर्माण उसे समझो। इसीको सूत्र व प्रधान भी कहते हैं। यही स्वभाव कहलाता है। इस तरह ज्ञान, कर्म, अज्ञान ये प्रकृति के ही अग हुए। इन तीन गुणो को मिलाने से कुल २८ तत्व हो जाते हैं।

"मैंने पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये नौ तत्व कहे हैं। श्रोतृ, त्वचा, चक्षु, घ्राण और रसना ये पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं।

---

१ इसको प्रलय कहते हैं। प्रलय पाच प्रकार का है—दो पिण्ड मे व दो ब्रह्माण्ड मे मिलाकर चार व पाचवा विवेक-प्रलय। पिण्ड मे एक निद्रा-प्रलय व दूसरा मरण-प्रलय। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—यह त्रिमूर्ति जब निद्रित हो जाती है तव ब्रह्माण्ड का निद्रा-प्रलय है। जव ब्रह्माण्ड सकल्प मात्र रहकर तीनो मूर्तियो का अन्त होता है तव उसे ब्रह्म-प्रलय कहते हैं। निद्रा मे जागृति का क्षय होता है इसलिए निद्रा-प्रलय। देह से प्राण निकलकर कोरा शव रह जाता है, इसीको मृत्यु-प्रलय कहते हैं। पचभूत, प्रकृति, व ज्ञाता-रूप पुरुप (ईश्वर) का लय होकर जव शुद्ध स्वरूप स्थिति रह जाती है तो उसे विवेक-प्रलय कहते हैं।

तथा वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ ये पाच कर्मेन्द्रियां हैं। हे प्रिय, मन उभयेन्द्रिय रूप है" ॥१४-१५॥

पुरुप, प्रकृति, महत्तत्व, अहकार, आकाश[1], वायु तेज, जल, पृथ्वी—ये नौ तत्व मैने वताये है। इनके अलावा कान, चमडी या खाल, आख, नाक, जीभ ये पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा मुख, हाथ, पाव, गुदा, जननेन्द्रिय ये पाच कर्मेन्द्रिया है। मन उभयेन्द्रिय है। यह ज्ञान ग्रहण करने, आदेश देने व कर्म मे प्रेरणा करने का भी काम देता है। अत इसकी गिनती उभयेन्द्रिय मे की जाती है। पाच कर्मेन्द्रिया ज्ञानेन्द्रियो के अधीन है। उनके बिना वे विषय नही भोग सकती। दोनो का सबध अन्ध-पगु के जैसा है। कर्मेन्द्रिया अन्धी है, व ज्ञानेन्द्रिया पगु है। ज्ञानेन्द्रिया आखे है, कर्मेन्द्रिया पाव है। आखे रास्ता दिखाती है व पाव चलते हैं। मन दोनो प्रकार की इन्द्रियो का चालक है। अत इसे ग्यारहवी इन्द्रिय माना है।

"शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ज्ञानेन्द्रियो के विषय है तथा चलना, वोलना, मूत्र-त्याग, मल-त्याग और शिल्प ये पाच कर्मेन्द्रियो के व्यापार हैं" ॥१६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियो के विषय है। कान का विपय शब्द, त्वचा या खाल का विषय स्पर्श, आख का विपय रूप, जीभ का विषय रस व नाक का विषय गन्ध है। मनुष्य को सृष्टि का जो कुछ ज्ञान होता है वह उसकी इन्द्रियो के ही द्वारा। जिस विपय का ज्ञान जिस इन्द्रिय को होता है वह उसका विषय कहा जाता है। जैसे आख से पदार्थ का रूप देखा जा सकता है, गध नही ली जा सकती। अत रूप आख का विपय हुआ। इसी तरह और ज्ञानेन्द्रियो तथा उनके विपयो को समझना चाहिए।

ज्ञानेन्द्रियो के जैसे पाच विषय है वैसे ही कर्मेन्द्रियो के पाच व्यापार हैं, पाव का चलना, मुह का वोलना, जननेद्रिय का मूत्र-त्याग, गुदा का मल-त्याग, शिल्प-कारीगरी हाथ का व्यापार है।

"सृष्टि के आरम्भ मे इस जगत की कार्य-कारण रूपिणी प्रकृति ही अपने सत्वादि गुणो के द्वारा इन अवस्थाओ को धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो केवल उनका साक्षी वना रहता है" ॥१७॥

---

१. देखिये परिशिष्ट नं० ६।

इस तरह ७ कारण व १६ कार्य की मिलकर प्रकृति है। ७ कारण—महत्तत्व अहकार, व पचमहाभूत। १६ कार्य—११ इन्द्रिया व ५ विषय। अर्थात महत, अहकार व पच महाभूतो से ११ इन्द्रिया व उनके ५ विषय बने हैं। रजोगुण का आश्रय लेकर इस कार्य-कारण-मेल से प्रकृति सारी सृष्टि रचती है। सतोगुण के बल पर इसका पालन करती है और तमोगुण के आश्रय से सहार। परन्तु यदि पुरुप का ईक्षण, अवलोकन, दृष्टिपात न हो तो प्रकृति मे कोई क्रिया नही हो सकती। जैसी कछुई केवल अपने दृष्टिपात मात्र से अपने बच्चो का पालन करती है, जैसे सूर्यकान्त मणि को सूर्य-किरणो का स्पर्श होते ही आग जलने लगती है, जैसे प्रकाश के आश्रय-मात्र से पर्दे पर चल-चित्र दिखाये जाते हैं, वैसे ही पुरुष के अवलोकन मात्र से प्रकृति अपने कर्मों मे प्रवृत्त हो जाती है। सारी सृष्टि प्रकृति से ही उत्पन्न होती है, अत वह इसका आदि कारण हुई व प्रकृति पुरुष से प्रकाशित होती है, अत पुरुप महाकारण हुआ। प्रकृति व्यक्त होती है व पुरुष अव्यक्त रहता है। प्रकृति मे विकार होते हैं—बनाव-बिगाड होता रहता है। पुरुष विकार-रहित। प्रकृति गुणमयी, गुणयुक्त व पुरुप गुणातीत। प्रकृति स्वभावत चचल, पुरुष अव्यय के अर्थ मे अचल। प्रकृति बद्ध अत शबल—सोपाधिक, पुरुष बन्धमुक्त बन्धातीत। प्रकृति स्वभावत सदा शून्य, पुरुप केवल, चैतन्य, ज्ञानमय। प्रकृति का अन्त है, पुरुप अनन्त है। प्रकृति निरानद, विषय-मूलक, पुरुष पूर्ण परमानद और विषय-मूल-छेदक। इस तरह यह प्रकृति-पुरुष-भेद अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

"पुरुष के साक्षित्व से बल प्राप्त करके महत्तत्व आदि कारण तत्व परस्पर मिलकर विकार को प्राप्त होते हुए प्रकृति के आश्रय से इस ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं" ॥१८॥

पुरुप के ईक्षण से व साक्षित्व से बल प्राप्त करके महत अहकार आदि कारण तत्व परस्पर मिलकर विकार को प्राप्त होते हैं। व प्रकृति का आश्रय लेकर ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं।[1]

---

१. ब्रह्माण्ड—उपाधि के कारण व भास रूप होने से ही आकाश भूत गिना जाता है। आकाश=अवकाश भकाश=भासरूप अर्थात शून्य। आकाश भास-रूप व ब्रह्म निराभास। उपाधि-रहित आकाश ही ब्रह्म है।

"इस प्रकार सात ही तत्व माननेवालो के विचार से पांच तो आकाशादि पच-भूत, एक ज्ञान और एक इन दोनो का अधिष्ठान परमात्मा है। देह, इन्द्रिय, प्राण आदि तो इन भूतो से ही उत्पन्न होते हैं" ॥१९॥

इस प्रकार जो ७ तत्व मानते हैं उनके विचार से पाच तो आकाशादि भूत, एक ज्ञान और दूसरा इन दोनो का अधिष्ठान परमात्मा अर्थात जीव व शिव, साक्ष्य व साक्षी ये दो मिलकर ७ हो जाते है। देहेन्द्रिया प्राण आदि भूतो से ही उत्पन्न हुए है। अत उनकी वे अलग गणना नही करते। वे कहते है कि पाच भूत तो अचेतन है। वे स्वत सृष्टि नही बना सकते। अत उनको चेतना देनेवाला एक जीव और मानना चाहिए व उस जीव का जो दृष्टा, साक्षी है, उस परिपूर्ण ईश्वर को सातवा तत्व मानो।

"और छह ही तत्व बतलानेवालो के मत मे पाच भूत और छठा जीव भिन्न परमात्मा है। वह परमात्मा ही अपने से उत्पन्न हुए इन भूतो की रचना करके उनमें जीव रूप से स्थित हो गया है" ॥२०॥

जो छह तत्व मानते है उनके मतानुसार पाच भूत व एक परमात्मा ये छह हो जाते है। वे कहते है कि पाच भूतो की सृष्टि करके परमात्मा स्वय उनमे जीवरूप होकर उनको सचेतन करता है।

"जो लोग चार ही कारण तत्व बतलाते हैं उनके अनुसार तेज, जल और अन्न—ये आत्मा से उत्पन्न हुए है और उनसे अन्य सब कार्य-रूप पदार्थों की उत्पत्ति हुई हैं" ॥२१॥

जो चार तत्व मानते है उनका कहना है कि मूलभूत तो तीन है, अग्नि, आप व अवनि। इनके ही मेल से सब पदार्थ वनते है। इन्हीके बदौलत सृष्टि मे नाम, रूप, क्रिया दीख पडती है। इन स्थूल भूतो का चालक जीव या आत्मा चौथा तत्व है।

"सत्रह की गणना मे पच भूत, पंच तन्मात्रा, पच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन-सहित आत्मा—इस प्रकार कुल सत्रह तत्व हैं" ॥२२॥

"इसी प्रकार सोलह गिनाने मे पंचभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियां, मन, जीवात्मा और परमात्मा—यह तेरह माने हैं" ॥२३॥

जो सोलह गिनते हैं वे मन को आत्मा मे ही शामिल कर लेते है। उनका

कहना है कि आत्मा कहो या मन[1] दोनो एक ही बात है। दोनो मे जो भेद हमे दीख पडता है वह इतना ही कि मन चचल व आत्मा स्थिर है। परतु मन की चचलता वैसे ही है जैसे व्याख्यान देते हुए हाथ अपने-आप क्रिया करते रहते है। आत्मारूपी मनुष्य का मन, हाथ आदि अवयव-रूप है, या यो समझिए कि राजा सिंहासन पर स्थित है तब भी राजा है और वन मे शिकार खेलने गया हो तब भी राजा ही रहेगा हालाकि उस समय सिंहासन से च्युत है। या समुद्र शात है तब भी समुद्र ही है और क्षोभ पाकर हिलोरे लेने लगा तब भी समुद्र ही रहेगा, इसी तरह मन व आत्मा मे कोई भेद नही है। चचल आत्मा मन है व स्थिर मन आत्मा है। आत्म-साक्षात्कार से इसका ठीक अनुभव हो सकता है।

अब जो तेरह मानते हैं वे पाच इन्द्रिया, पाच महाभूत व ग्यारहवे मन के साथ जीव-शिव—जीवात्मा व परमात्मा को जोडकर १३ कर देते हैं।

"ग्यारह की सख्या मे आत्मा, पचभूत और पच ज्ञानेन्द्रिया, मानी गई हैं और नौ की सख्या मे आठ प्रकृतिया तथा पुरुष ये ९ माने गये हैं" ॥२४॥

जो २१ मानते हैं वे पाच भूत, पाच ज्ञानेन्द्रिया व आत्मा को मिलाकर ११ कहते है। उनकी दलील है कि जीव, शिव व मन ये तीनो वास्तव मे एक ही हैं जैसे आम मे रस, मिठास व सुगन्ध तीनो मिले रहते हैं, एक दूसरे से पृथक नही हो सकते। उसी तरह जीव, शिव, मन तीनो एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं, उनकी क्रिया के स्वरूप के अनुसार।

जो नौ तत्व मानते है वे प्रकृति, पुरुष, महत, अहकार, व पाच भूत मिलाकर नौ तत्व कर लेते हैं।

"इस प्रकार ऋषियो ने नाना प्रकार से तत्वो की गणना की है। युक्तियुक्त होने के कारण वे सभी उचित हैं। विद्वानो के लिए उसमे क्या बुराई है"? ॥२५॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न कारणो से ऋषियो ने नाना तत्वो की गणना की है। वे सभी युक्तियुक्त हैं। अत उन्हे मान लेने मे दोष नही है। इन सख्याओ की विभिन्नता से मूल सिद्धान्त मे अन्तर नही पडता। प्रकृति सविकार व पुरुष अविकार है, यह निर्विवाद है। पुरुष प्रकृति दोनो भिन्न हैं, फिर भी परस्पर सहायता से जगत बनाते व बिगाडते है।

---

१. देखिये, परिशिष्ट न० ७।

गोला-बारी करता है तो चारो ओर महामोह का अधकार छा जाता है। इस दुर्ग के आसपास नव द्वार है। एक-एक द्वार पर एक-एक तोप रक्खी हुई है, जिससे नाना विषय जोर का हमला करते है। इस देहाभिमान का सचालक मुख्यत एक मन ही है। उसने उसे अपना घर ही मान लिया है। यह सब प्रकृति के गुणो की लीला है। वे ससार मे भेद बुद्धि उत्पन्न कर देते है। भेद-बुद्धि तीन प्रकार की समझो—अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत। ये त्रिविध ताप है। मन के कारण जो ताप या दु ख होता है वह आध्यात्मिक, देवताओ अर्थात प्राकृतिक शक्तियो से जो ताप होता है वह आधिदैविक और भूतो से अर्थात जीवधारियो से जो कष्ट होता है वह भौतिक। देह, इन्द्रिय व प्राण के द्वारा सुख-दुखादि जो यातनाए होती हैं उन्हे या शारीरिक व्याधि व मानसिक आधि मिलकर आध्यात्मिक ताप होता है। भूत-मात्र के सयोग से सुख-दु ख होकर जो मनस्ताप होता है वह आधिभौतिक। भूत से मतलब यहा पचभूत और उनसे उत्पन्न सब जीव-जन्तु। पुण्य अथवा पाप-कर्म के अनुसार जो सुख-दु ख या स्वर्ग-नरक भोगने पडते है, वे आधि`विक ताप हैं। पहले दो से ये अधिक उग्र हैं।

इसी तरह सत्वगुण से अन्त करण, रजोगुण से इन्द्रिया, तमोगुण से महाभूत उत्पन्न होते है। ससार मे प्रकृति के यही त्रिविध विकार फैले हुए हैं। सकल्प रूपी महावृष्टि से वासना-रूपी जल सर्वत्र फैल जाता है, जिससे ससार मे सुख-दु ख की फसल पकती रहती है।

"जिस प्रकार चक्षु, इन्द्रिय, रूप और नेत्र-गोलक-गत सूर्य का अंश है, ये तीनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते है, किन्तु आकाश में जो सूर्य भगवान हैं वे स्वतःसिद्ध हैं; उसी प्रकार आत्मा, जो इनसे पृथक है और इनका आदि कारण है, अपने स्वयंसिद्ध प्रकाश से इन समस्त प्रकाशो का प्रकाशक है। इसी प्रकार त्वगादि, श्रवणादि, चक्षुरादि, जिह्वादि, नासिकादि और चित्तादि भी अध्यात्मादि भेद से तीन-तीन है"॥३१॥

आत्मा सब भूतो से पृथक है, बल्कि भूतमात्र का आश्रय या आदि कारण है। इसे एक उदाहरण से समझाता हू—देखो, हमारी आखे नाना प्रकार के रूपो को देखती है। सुन्दर सुरूप वस्तुओ को भी देखती हैं व कुरूप तथा असुन्दर को भी। कामिनी पुरुष पर अपने नेत्र-बाण से ही प्रथम प्रहार करती है। इस क्रिया मे तीन चीजे परस्पर मिली हुई है, तीन का परस्पर सहयोग होता है–एक आख, जिसे नेत्र

के ज्ञान या बुद्धि से नही जाना जाता। इसे इसीके द्वारा अपने हृदय मे देखना चाहिए। इसीसे इसको जानना, इसीसे इसको ग्रहण करना चाहिए। इसीकी कृपा से यह मिलता है।

इसी तरह दूसरी इन्द्रिया भी जैसे त्वचा, श्रवण, जिह्वा, नासिका, चित्त आदि भी अध्यात्मादि भेद से तीन-तीन प्रकार के है।

परन्तु आत्मा इन सबसे, सारी त्रिपुटियो से, अलिप्त है। त्वक् व घ्राणेन्द्रियो मे वह आत्मा चित्स्वरूप से अविकारी होकर रहता है। छूने व सूघने की क्रिया को सचालित करके वह उससे स्वतत्र रहता है (जैसे बिजली की बैट्री या स्विच)। रसनेन्द्रिय मे वह आत्मा स्वआनन्द पूर्ण रसातीत होकर रहता है। श्रवणेन्द्रिय मे शब्द के बीज-रूप मे, नि शब्द चेतना रूप मे, वह विकारहीन रहता है। नेत्रेन्द्रिय का निरूपण पहले हो ही चुका है। इसी तरह अतर-इन्द्रियो मे भी आत्मा उनके प्राण, जीवन या चैतन्य रूप मे रहता हुआ उनसे अलिप्त रहता है। त्वग्-इन्द्रिय मे वह सरस्वती शक्ति के महामौन रूप मे, हस्त इन्द्रिय मे क्रिया-शक्ति का निर्वाह करता हुआ अक्रिय रूप मे, पाद-इन्द्रिय मे गमन-शक्ति का निर्वाह करता हुआ निश्चलता रूप मे, गुदा-इन्द्रिय मे क्षार शक्ति का निर्वाह करता हुआ अक्षर रूप मे, शिश्नेन्द्रिय मे आनद-शक्ति का निर्वाह करता हुआ परमानद रूप मे अलिप्त रहता है।

"गुण-क्षोभ के कारण प्रकृति-मूलक महत से उत्पन्न हुआ यह अहंकार-रूप विकार वैकारिक, तामस, और ऐन्द्रियिका भेद से तीन प्रकार का है। यह अहंकार ही मोह और विकल्प-रूप भेद-भाव का मुख्य हेतु है"॥३२॥

वही एक आत्मा त्रिविध गुणो के क्षोभ से प्रकृति व फिर महत् तत्व, फिर अहकार-रूप मे उत्पन्न होकर सृष्टि-रूप मे व्याप्त हो गया है। सत्व गुण का मेल अहकार से होने पर मनादि अत करण चतुष्टय, राजस गुण का मेल होने पर ज्ञान-कर्मेन्द्रिया व तामस गुण का मेल होने से पचमहाभूत इस प्रकार सारा वैकारिक जगत बना है। आत्मा या परमात्मा मे गुण-क्षोभ से जो-जो विकार उत्पन्न हुए, वे सब मायिक अर्थात क्षणिक, अस्थिर, दिखने मात्र के लिए है। इस वैकारिक जगत से यह परमात्मा अलिप्त है। समुद्र मे जैसे तरग या फेन या बुदबुद रूपी विकार पैदा होने पर भी समुद्र से ये सब जुदा दिखाई देते हुए भी जैसे समुद्र इनसे स्वतत्र व अलिप्त रहता है, वैसे ही परमात्मा व जगत का सम्बन्ध समझो। समुद्र

परे हो जाता है तो निर्गुण कहलाता है। जो ज्ञानवान हैं, वे दोनो मे कोई भेद नही देखते, या दोनो के भेद का रहस्य जान लेते है। प्रत्यक्ष दो दीखते हुए भी उनकी मूलगत एकता उनकी समझ मे आ जाती है। तब वे देह-गेह, जगत से ममता छोड-कर परमात्मा से लौ लगाते है और उसीमे घुल-मिलकर एक हो जाते है। यह भेद-ज्ञान नही वास्तविक अज्ञान है, व एकता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

"आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, और अस्ति-नास्ति-रूप होनेवाला यह विवाद भेद-दृष्टि के कारण वर्तमान है। यह यद्यपि व्यर्थ है तथापि जबतक पुरुष अपने स्वरूप-भूत मुझसे विमुख रहता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता"॥३३॥

आत्मा तो शुद्ध ज्ञान-मय है। अज्ञान से वह जगत-रूप मे भासित होता है। जो इस जगत-प्रपच को सत्य मानते है, वे अज्ञानी व इसे मिथ्या मानकर जो परमात्मा को सत्य समझता है वह ज्ञानी है। अत यह भेदभाव अज्ञान-मूलक व अभेद ही वास्तविक ज्ञान है। आत्मा शुद्ध बुद्ध चेतन्य-स्वरूप है। इस भेद-दृष्टि से ही वह है, नही तो सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सत्य, मिथ्या, भाव, अभाव रूप प्रतीत होता है। लेकिन जैसे सूर्य के उदय होने पर तारागणो-सहित रजनी लुप्त हो जाती है वैसे ही चित् सूर्य-रूपी आत्मा का प्रकाश होने पर अपने समस्त विकारो-सहित प्रकृति तिरोहित हो जाती है व चारो ओर पूर्ण सच्चिदानन्द व्याप्त हो रहता है।

यह भेदभाव व्यर्थ, निरर्थक, मिथ्या है, विषयो व वस्तुओ का जो भान हमे होता है वह अज्ञान-जन्य है। इसी अज्ञान मे फसकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है। जब निज रूप का विस्मरण होने लगता है तो विषयो की ओर ध्यान जाने लगता है। विषय-लिप्त होने से नाना-प्रकार के कर्माचरण होने लगते है, जिससे जीव दिन-दिन बद्ध होकर सुख-दु ख, व जीवन-मरण के चक्कर मे पड जाता है। अत इस देहा-भिमान को नष्ट करना जरूरी है। जबतक मनुष्य स्वरूप-भूत मुझसे विमुख रहता है, अतस्थ मुझे देख नही लेता, तबतक यह अज्ञान नष्ट नही होता। वास्तव मे देहाभिमान ही अज्ञान है। शरीरादि मे जो 'मै-पन' का भान होता है, वही महा अज्ञान है, वही देहाभिमान है।

उद्धवजी बोले—"हे प्रभो, जो लोग आपसे विमुख है वे अपने कर्मो के द्वारा जिस प्रकार उच्च और नीच योनियो का ग्रहण और त्याग करते हैं सो सब आप मुझसे कहिए"॥३४॥

परे हो जाता है तो निर्गुण कहलाता है। जो ज्ञानवान हैं, वे दोनो मे कोई भेद नही देखते, या दोनो के भेद का रहस्य जान लेते है। प्रत्यक्ष दो दीखते हुए भी उनकी मूलगत एकता उनकी समझ मे आ जाती है। तब वे देह-गेह, जगत से ममता छोड-कर परमात्मा से लौ लगाते है और उसीमे घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। यह भेद-ज्ञान नही वास्तविक अज्ञान है, व एकता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

"आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, और अस्ति-नास्ति-रूप होनेवाला यह विवाद भेद-दृष्टि के कारण वर्तमान है। यह यद्यपि व्यर्थ है तथापि जबतक पुरुष अपने स्वरूप-भूत मुझसे विमुख रहता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता" ॥३३॥

आत्मा तो शुद्ध ज्ञान-मय है। अज्ञान से वह जगत-रूप मे भासित होता है। जो इस जगत-प्रपच को सत्य मानते हैं, वे अज्ञानी व इसे मिथ्या मानकर जो परमात्मा को सत्य समझता है वह ज्ञानी है। अत यह भेदभाव अज्ञान-मूलक व अभेद ही वास्तविक ज्ञान है। आत्मा शुद्ध बुद्ध चेतन्य-स्वरूप है। इस भेद-दृष्टि से ही वह है, नही तो सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, सत्य, मिथ्या, भाव, अभाव रूप प्रतीत होता है। लेकिन जैसे सूर्य के उदय होने पर तारागणो-सहित रजनी लुप्त हो जाती है वैसे ही चित् सूर्य-रूपी आत्मा का प्रकाश होने पर अपने समस्त विकारो-सहित प्रकृति तिरोहित हो जाती है व चारो ओर पूर्ण सच्चिदानन्द व्याप्त हो रहता है।

यह भेदभाव व्यर्थ, निरर्थक, मिथ्या है, विषयो व वस्तुओ का जो भान हमें होता है वह अज्ञान-जन्य है। इसी अज्ञान मे फसकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है। जब निज रूप का विस्मरण होने लगता है तो विषयो की ओर ध्यान जाने लगता है। विषय-लिप्त होने से नाना-प्रकार के कर्माचरण होने लगते हैं, जिससे जीव दिन-दिन बद्ध होकर सुख-दु ख, व जीवन-मरण के चक्कर मे पड जाता है। अत इस देहा-भिमान को नष्ट करना जरूरी है। जबतक मनुष्य स्वरूप-भूत मुझसे विमुख रहता है, अतस्थ मुझे देख नही लेता, तबतक यह अज्ञान नष्ट नही होता। वास्तव मे देहाभिमान ही अज्ञान है। शरीरादि मे जो 'मै-पन' का भान होता है, वही महा अज्ञान है, वही देहाभिमान है।

उद्धवजी बोले—"हे प्रभो, जो लोग आपसे विमुख है वे अपने कर्मों के द्वारा जिस प्रकार उच्च और नीच योनियो का ग्रहण और त्याग करते हैं सो सब आप मुझसे कहिए" ॥३४॥

को वापस समुद्र मे डुबो दो और उसके गले मे एक रस्सी बाधकर किनारे पर छोड दो। इस उदाहरण मे समुद्र परमात्मा है, घडे के भीतर का जल भी परमात्म-स्वरूप है, परन्तु घडे-रूप मिट्टी का आवरण दोनो को पृथक् किये हुए है। घट-युक्त जल जीवात्मा, समुद्र परमात्मा व घडे के गले की रस्सी उसकी वासना, या कर्म सस्कार है। घडे की मिट्टी के ससर्ग से घडे के अन्दर का जल कुछ मलिन हुआ। जल का एकत्व समुद्र से मिलकर घडे से सम्बन्ध स्थापित होने लगा। यह परमात्मा से दूर हटते जाकर जीवात्मा, बुद्ध, अणु व लिंग-देह बनने लगा। लिंग-देह का ही दूसरा नाम मन है। मलिन जीवात्मा बुद्ध, शुद्ध जीवात्मा परमात्मा है। कर्म-सस्कार या वासना-रूपी जो डोर किनारे पर पडी हुई है उसीसे खिचकर वह जीव-घट नाना आकार-प्रकार को प्राप्त होता रहता है। आत्मा मूल-रूप से स्वतत्र है, परन्तु देह मे अहकार, अहभावना उत्पन्न हो जाने से वह लिंग-देह रूप को प्राप्त होकर जन्म-मरण के फेरे काटता है।

"यह कर्माधीन मन देखे और कर्म-शास्त्रादि द्वारा सुने हुए विषयो का ध्यान करता हुआ उन्हींके लिए उद्यत रहता है और उनमे लीन हो जाता है, इससे उसकी पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है" ॥३७॥

मन कर्माधीन रहता है। मन के सकल्प-विकल्प जहा एक बार कार्यरूप मे परिणत हुए कि फिर मन कर्मो के अधीन हो जाता है। बहुत-सी चीजें देखता है, सुनता है, उपयोग करता है। इससे कुछ विषय उसके प्रिय हो जाते हैं व उन्हीमे वह तन्मय होने लगता है। अन्त समय मे भी उन्हीका ध्यान रहने से वैसा ही भावी जीवन पाता है। मन जिस विषय का ध्यान करता है तदाकार ही हो जाता है। उन विषयो का अतिध्यान होने व रहने से दूसरे विषयो की स्मृति नष्ट हो जाती है। यह एकाग्रता एक ओर जहा भावी जीवन निर्माण करती है तहा दूसरी ओर भूत जीवन का विस्मरण कराती है। इसीसे नया जन्म प्राप्त होने पर उसे पूर्व-स्मृति नही रहती।

"(अपने कर्मानुसार प्राप्त हुए देवादि देह-रूप) विषय मे अत्यन्त दृढ़ आस्था हो जाने से जीव अपने पूर्व देह का स्मरण नहीं करता, यही किसी कारण से देह की अत्यन्त विस्मृति ही उसकी मृत्यु है" ॥३८॥

"हे उदार उद्धव, प्राप्त हुए देहादि विषयो को अहंभाव द्वारा पूर्णतया स्वीकार कर लेना ही जीव का जन्म है, वास्तव मे जीव का कोई जन्म-मरण नहीं होता, ये जन्म आदि स्वप्न और मनोरथ के समान ही हैं" ॥३९॥

के हमलो से भयभीत, कही मलमूत्र मे पडा हुआ अनुभव करता है व भूल जाता है कि मैं तो अपने बिस्तरे पर पड़ा हुआ अमुक व्यक्ति हूं और सपना देख रहा हू। इसी तरह जब मनोरथ करने लगता है तो अपनी सुधबुध खो बैठता है। उस मनोरथ मे इतना तल्लीन हो जाता है कि अपनी वर्तमान व वास्तविक अवस्था को भूल जाता है। शादी होने, सुन्दरी युवती पत्नी मिलने, उससे एकान्त मे प्रेमालाप करने आदि के विचारो मे मनुष्य इतना डूब जाता है कि मानो वे मनोरथ प्रत्यक्ष सृष्टि की वस्तु हो। एक शरीर के जाग्रत काल मे भी जब मनुष्य को इतनी विस्मृति हो जाती है तो फिर नवीन शरीर प्राप्त होने पर वह विस्मृति अत्यन्त तीव्र व दृढ हो जाय तो क्या आश्चर्य है? यदि जन्म-मृत्यु के इस रहस्य को तुमने समझ लिया तो फिर अपनी अमरता का तुम्हे शीघ्र ही निश्चय हो जायगा, व मृत्यु का भय व भयकरता मन से मिट जायगी।

जन्म व मरण मे चेतना-रूप से जीव एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाता है। शरीरान्तर होता है, परन्तु चेतना दोनो अवस्थाओ मे अक्षुण्ण रहती है। चेतना का अक्षुण्ण रहना ही जीव या आत्मा की अमरता है। कितने ही जन्म-मरण होते रहे यह चेतना कायम ही रहती है। इस चेतना मे जीव के जो वासनादि सस्कार लिप्त हो जाते है इससे वह शरीर मे बद्धता प्राप्त कर लेती है और उन सस्कारो के घुल या पुछ जाने पर वह बधन से छूटकर मुक्त हो जाती है—वह व्यक्तिगत चेतना समष्टि-चैतन्य मे विलीन हो जाती है। यही मोक्ष है।

"जिस प्रकार स्वप्नादि में जीव असत पदार्थों का बनानेवाला होकर बाहर-भीतर के मिथ्या भेदो की रचना करता है उसी प्रकार इन्द्रियो के आश्रय-रूप इस मन की रचना से आत्मा मे उत्तम, मध्यम, अधम अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि विविध भेद न होने पर भासने लगते हैं, तथा वह आत्मा बाह्य व अभ्यंतर भेद का हेतु हो जाता है। (अर्थात बाह्य व आन्तरिक सुखादि का अनुभव करने लगता है" ॥४१॥

स्वप्न मे जीव जिन पदार्थो की कल्पना करता है वे असत होते हैं अर्थात उस समय उनकी प्रत्यक्ष सत्ता या स्थिति नही होती, केवल कल्पना रूप मे वे प्रत्यक्ष जैसे दीखते है। इन मिथ्या पदार्थो की रचना करने की ज़िम्मेदारी जीव पर है। ठीक इसी प्रकार हमारा यह मन, जो इन्द्रियो का आश्रय-रूप है, अपनी कल्पना से एक आत्मा मे, एक वस्तु मे, अनेक भेदो को निर्माण करता है। एक ही मूल वस्तु

जीवन मे जैसे फूलने-फलने का समय निश्चित होता है, प्रकृति के जीवन मे जैसे सर्दी, गरमी, वर्षा आदि ऋतुओ का नियमानुसार आवागमन होता है, यह सब काल के ही कारण है, काल का ही परिणाम है। जितने भी परिवर्तन प्रकृति मे या सृष्टि मे होते हैं उनका कारण काल है। काल की ही बदौलत हमे इन परिवर्तनो का भान होता है। काल का अर्थात समय का नाप न हो तो इन परिवर्तनो का बोध हमे किसी प्रकार नही हो सकता। काल के कारण हमारे मनोभावो मे भी परिवर्तन हो जाता है। बचपन मे जो माता दुलार से हमे चूमती है वही युवावस्था मे सकोच करने लगती है। ससार मे हम जो नित्य उत्पत्ति, विलय, बनाव व बिगाड की क्रिया देखते है उसका आधार काल ही है। कालकृत यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि सहसा ध्यान मे नही आता। बचपन कब आया व जवानी कब आई, कली कब फूल बनी व फूल कब फल बन गया व पक गया—इसका सहसा बोध नही होता, क्योकि परिवर्तन बहुत सूक्ष्म रूप से होते है।

"जिस प्रकार (परिणाम से) ज्योति की, (गति-भेद से) जल की, (पकने तक) फल की और (नष्ट होने तक) वृक्षादि की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। (परन्तु वे सूक्ष्म होने से प्रतीत नहीं होतीं)" ॥४३॥

इसके और भी उदाहरण देता हू। दीपक की ज्योति क्षण-क्षण मे नया परिणाम पाती है, उसके ज्योतिष्कण निरन्तर रूपान्तरित होते है, परन्तु वह हमे सतत एक-सी जलती हुई प्रतीत होती है। यमुना की धारा के जल-कण निरन्तर एक के बाद दूसरे आते, मिलते, बनते जाते है। परन्तु यह गति-भेद सहसा लक्ष्य मे नही आता। आम का फल पहले तुरशा, फिर खट्टा और बाद मे मीठा हो जाता है, परन्तु यह पहचान लेना कि कब तुरशा-खट्टा हुआ है और कब खट्टा-मीठा हुआ आसान बात नही है। वृक्षो व मनुष्यो के जीवन मे अवस्थान्तर होते है और होते रहते हैं। उनका जिक्र पहले कर ही चुका हू। इन सबका कारण काल है। काल के कारण समस्त प्राणियो की आयु व अवस्थाए बदलती रहती हैं, परन्तु सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नही होती।

"दीप-शिखा को 'यह वही दीपक है' और नदी-प्रवाह को 'यह वही जल है' ऐसा समझते हैं, उसी प्रकार आयु को वृथा खोने वाले पुरुषो का 'यह वही मनुष्य है' ऐसा कहना और समझना भूल ही है" ॥४४॥

यद्यपि ये परिवर्तन बहुत सूक्ष्म रूप से अलक्ष्य गति से होते रहते हैं तो भी हमे

अज्ञानी पुरुष समझता है कि 'मै जन्मा' व 'मैं मरा'। आत्मा तो अजन्मा है, उसके लिए मरण कैसा ? जन्म व मृत्यु शरीर की होती है। देखो, आग का जन्म कभी हुआ है ? कोई ऐसी जगह है जहा कह सकते हो कि अग्नि नही है ? वह अव्यक्त रूप से समस्त विश्व मे व्याप्त है। वायु व आकाश के एक-एक कण मे अग्नि समाया हुआ है। वह लकडी के सयोग से प्रकट हो जाता है। दो पत्थर टकराते है, दो लकडी एक दूसरे से रगड खाती है तो उनमे से आग प्रकट हो जाती है। परन्तु जब लकडी सुलगती है तब हम कहते है आग लगी व जब बुझ जाती है तब कहते है आग बुझ गई। वास्तव मे आग तो पहले से ही सब जगह मौजूद है, उसकी यह जन्म-मृत्यु केवल ऊपरी दृष्टि से ही सही है। काष्ठ का सहारा पाकर आग प्रकट हो जाती है व उसी का आकार धारण कर लेती है। इसी तरह आत्मा भी देह के सयोग से जन्म-मरण पाता है व देहानुसार आकार धारण करता प्रतीत होता है। यह भ्रान्ति है। यह सब बाह्य दृष्टि से ही सही है। भीतरी, आत्मिक दृष्टि से न आत्मा का जन्म होता है न मृत्यु, न कोई आकार है न प्रकार।

"गर्भ-प्रवेश, गर्भ-वृद्धि, जन्म, बाल्य, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़ावस्था, जरा व मृत्यु—ये नौ अवस्थाए शरीर की हैं" ॥४६॥

ऊधो, यह परिवर्तन शरीर की नौ अवस्थाओ मे प्रत्यक्ष है। १ गर्भ-प्रवेश, २ गर्भ-वृद्धि, ३ जन्म, ४ बाल्य, ५ कौमार, ६ यौवन, ७ प्रौढता, ८ जरा व ९ मृत्यु।

पिता के देह मे रेत-रूप रहकर उसमे से माता के रज मे मिलकर उसके गर्भ मे प्रवेश, यह पहली अवस्था हुई। इसे निषेक कहते है। जब जननी के उदर मे उस रेत व रज के मिश्रण से मास पिण्ड बना व प्रतिक्षण बढने लगा तो यह देह की दूसरी अवस्था हुई। माता के उदर से जब बच्चा बाहर आ गया तो इसे जन्म नामक तीसरी अवस्था कहते है। जब बच्चा माता का स्तन पान करता है, मा से ही चिपटा रहता है, रो-चिल्लाकर ही अपनी आवश्यकता व शिकायत प्रकट करता है, अज्ञानवश विवेकशून्य होकर मल-मूत्र मे लोटता रहता है, अपने भोले-भाले मुख व तोतली वाणी से माता-पिता को प्रमुदित करता है तो वह चौथी अवस्था हुई। अब इन्द्रियो मे चेतना आने लगी। किन्तु विषय व स्वार्थ-भावना उदय नही हुई, अभी खेल-कूद मे ही मन मस्त रहता है तो यह पाचवी कुमारावस्था कहलाती है। इसके बाद जवानी आई। इन्द्रिया ज़ोर मारने लगी। मै बुद्धिमान हू, मै सब समझता हू,

ऐसी अहन्ता सचार करने लगी। कामिनियो मे, ठाट-बाट मे, आनन्द-विलास मे रुचि बढने लगी, देह-गेह मे आसक्ति होने लगी, कीर्ति-प्रशसा, मान-सम्मान की चाह बढने लगी, विरोध, आलोचना, टीका, असह्य होने लगी। दीवानी जवानी की छठी अवस्था देह को प्राप्त हुई। चालीस साल तक यह कायम रही। चालीस से साठ तक प्रौढावस्था। इन्द्रिया शिथिल होने लगी, बदन मे झुरिया पडने लगी। उस काल मे क्षीणता का आरम्भ समझना चाहिए। यह सातवी उत्तरावस्था समझ लो। अब बुढापा आया। हाथ कापने लगे, दात एक-एक करके साथ छोडने लगे, आखे निस्तेज होने लगी, मुह पोपला हो गया, लार-थूक टपकने लगे। इसके बाद नवी व अन्तिम अवस्था है मृत्यु। जरा अर्थात बुढापे के बाद सुई के पीछे धागे की तरह मृत्यु लगी हुई ही रहती है। ऊधो, आश्चर्य तो यह है कि जरावस्था को पहुचने पर भी मनुष्य के मन से तृष्णा नही जाती। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।' जब चेतना-सहित प्राण निकल जाते है तो वही नवी अवस्था हुई। इन नौ अवस्थाओ मे आत्मा सदा अलिप्त रहता है। ये जो भिन्न-भिन्न विकार होते है ये शरीर से सम्बन्ध रखते है। आत्मा को ये छू तक नही जाते। सूर्य किसीसे कहने नही जाता कि तुम उठो, परन्तु उसके उदय होते ही सब उठकर अपने-अपने काम मे लग जाते है। फिर भी सूर्य उनके क्रिया-कलाप से अलिप्त रहता है। वैसे ही आत्मा भी शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ या विकारो का प्रेरक या प्रकाशक कारण होता हुआ भी उनसे भिन्न, अलिप्त दूर रहता है। आतशी शीशा जैसे सूर्य किरण को ग्रहण करके सामनेवाली चीज को जला देता है, परन्तु सूर्य-किरण अलिप्त रहती है। वैसे ही आत्मा को कर्मातीत समझो। आत्मा के चित् प्रकाश से मन प्रकाशित होकर शुभाशुभ कर्मो मे प्रवृत्त होता है। परन्तु आत्मा उन कर्मो मे कोई सरोकार नही रखता। ये सब विकार मन के खडे किये है। यह सारा

किर्म मन की माया है, आत्मा का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नही, जन्म-ह-वि, स्वर्ग-नरक-गमन, बन्ध-मोक्ष, लभयालदन, यह सब मन का ही खेल है, [illegible]ता है।

"[illegible] है पने मे भिन्न शरीर की इन मनोरथमयी उच्च और नीच अवस्थाओ को अन[illegible]मान-वश गुणो के सग से अपनी मान लेता है और यहीं-कहीं कभी (वियेक हो स मे) [illegible] कोई इन्हे छोड भी देता है" ॥४६॥

से जो है शरीर की भिन्न-भिन्न ऊच व नीच, अवस्थाए बतलाई गई है, वे वास्तव

मे मनोरथमयी है, कोरी मन की कल्पना है। जीव अज्ञानवश इन शारीरिक विकारो को अपना समझ लेता है। इसका कारण त्रिगुणो का प्रभाव है। जीवात्मा को शुद्ध स्फटिक-जैसा समझो। सत्व गुण को सफेद रग की, रजोगुण को लाल रग की, तमोगुण को काले रग की चीज़ समझो। इनमे से जिस रग की वस्तु पर स्फटिक रखोगे वैसा ही उसका रग दीखने लगेगा। सफेद पर सफेद, लाल पर लाल, और काले पर काला। परन्तु इससे स्फटिक सफेद लाल या काला नही हो जाता। परन्तु जव स्फटिक इन रगो के स्पर्श या ससर्ग से अपनेको लाल, काला, सफेद मानने लग जाता है तब इस विविधता, विभिन्नता, रगता का लेप उसपर चढ जाता है, आरोप उसपर हो जाता है व वह उनके प्रभाव से अलिप्त नही रह सकता। इसी तरह जीवात्मा जब इन गुणो मे अपनापन धारण कर लेता है तो वह अशुद्ध मन, देह-वद्ध, देहाभिमानी हो जाता है। घडे मे पानी स्थिर है तो चन्द्रबिम्ब स्थिर व अस्थिर है तो अस्थिर दीखता है। परन्तु इससे चन्द्रमा स्वय स्थिर या अस्थिर नही हो जाता। जल ससर्ग से स्थिर या अस्थिर भासता है। वैसे ही देह की ये सब अवस्थाए जीवात्मा से पृथक है। घडे के पानी मे काला रग मिला देने से काला दीखता है, परन्तु इससे वास्तविक सूर्य या चन्द्र-बिम्ब काला नही हो जाता। इसी तरह जीवात्मा गुण के ससर्ग से भेद-विकासमय दीखता है, देह की जो सुख-दु ख, पाप-पुण्य आदि अवस्थाए है वे जीव को तभी तक प्रभावित करती है जब तक जीव उनमे अपनापन, ममत्व, अहन्ता रखता है।

परन्तु जहा कही व जब कभी जीव को यह ज्ञान या विवेक हो जाता है कि अरे ये तो मेरी नही हैं शरीर की अवस्थाए या धर्म है, मैं तो इनसे जुदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हू, तो वह इनसे, इनके प्रभावो, परिणामो व फलो से, छूट भी जाता है, निज-बोध के द्वारा वह अपने जन्म-मरण व मन-बधन की बेडियो को काट डालता है।

"पिता को पुत्र के जन्म से व पुत्र को पिता की मृत्यु से अपने-अपने जन्म-मरण का अनुमान करना चाहिए। किन्तु इन जन्म-मरण रूपी धर्म का ज्ञाता इन दोनो धर्मों से युक्त है" ॥४८॥

जव किसी का पिता मर जाता है तो कहते है कि पिता का जीव निकल गया, प्राण-पखेरू उड गये। पर वे यह नही जानते कि जीव गया कहा ? इसी तरह जव पुत्र पैदा होता है तो कहते हैं एक नया जीव घर मे आया। वे नही जानते कि यह पुराना ही कोई जीव नये रूप मे आया है। पर असल तो पिता की मृत्य से पुत्र को

यह जानना चाहिए कि उसका आत्मा या जीव मरा नही है बल्कि नया शरीर धारण करने गया है। व पुत्र के जन्म से पिता को यह अनुमान कर लेना चाहिए कि कोई जीव कही से मरकर नये चोले मे आया है। यह नया या पुरानापन शरीर के साथ है न कि जीव या आत्मा के साथ। जीवात्मा जब एक चोला छोडता है तब भी यह जानता है कि मैने पुराना चोला छोड दिया, व नया चोला धारण करता है तब भी यह जानता है कि यह नया शरीर ग्रहण किया है। वह अपने जन्म-मरण का साक्षी व ज्ञाता है। अत देह के इन धर्मो से युक्त नही हो सकता।

"वृक्ष के बोने और काटने से जो उसकी उत्पत्ति और नाश को जाननेवाला है वह साक्षी पुरुष जैसे वृक्ष से भिन्न होता है वैसे ही इस शरीर का साक्षी (आत्मा) भी इस शरीर से भिन्न है"॥४९॥

वृक्ष बीज मे रहता है। बीज से अकुर, अकुर से कल्ले, फिर पत्ते, फिर तना फिर डालिया, कली, फूल, फल व बीज बनते है व पेड नाश को प्राप्त होता है। वृक्ष के इन सारे विकास को वृक्ष का रसरूप आत्मा देखता है। इसी तरह ब्रह्माण्ड-व्याप्त आत्मा भी उसके सब परिणामो का, विकास का, रूपान्तरो व स्थित्यन्तरो का साक्षी या दृष्टा है। वह एक तरह से उनसे पृथक व अलिप्त ही रहता है, यह स्पष्ट हो जाता है। आत्मा इस देह मे रहते हुए भी विदेही की तरह दृष्टारूप है। इससे भिन्न है। अत उसे ससार-बधन नही लग सकता।

"इस प्रकार के विवेक से रहित जो अज्ञानी पुरुष आत्मा को प्रकृति से पृथक उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता वह विषयो मे मोहित होकर जन्म-मरण-रूप ससार मे पडा रहता है"॥५०॥

किन्तु जो अज्ञानी पुरुष इस बात को नही जानता, प्रकृति मे पुरुष की भिन्नता को नही पहचानता, त्रिगुणो से जीवात्मा की पृथकता को अनुभव नही करता, वह ससार-बधन मे पडता है, विषयो मे आसक्त हो जाता है, सासारिक वस्तुओ के मोह मे पडकर जन्म-मरण के चक्कर काटता रहता है। विषय-भोग को ही वह पुरुषार्थ समझने लगता है और शुभाशुभ कर्मो मे लीन हो जाता है, जिससे फिर-फिर नई-नई योनिया प्राप्त करता है।

"अपने कर्मों के अनुसार आवागमन के चक्र मे भटकता हुआ वह अविवेकी जीव सात्त्विक कर्मों के सयोग से देव और ऋषि-योनियो मे, राजस कर्मो से असुर

और मनुष्य योनियो में तथा तामस कर्मों से भूत-प्रेत आदि तिर्यक योनियो मे जन्मता रहता है" ॥५१॥

अपने कर्मो के अनुसार आवागमन के चक्र से वह छूट नही पाता। सत्व, रज, तम, इन गुणो के प्रभाव से जो कर्म किये जाते है, अर्थात शुभ उद्देश से, राग-द्वेप से, या मोह व अज्ञान से जो कर्म किये जाते हैं वे क्रमश पुण्य, पाप-पुण्यमय, व पापमय फलो के उत्पादक होते है। सात्विक कर्मो से उत्तम देह व उत्तम गति प्राप्त होती है, देवर्पि, ब्रह्मर्षि आदि की योनिया या लोक प्राप्त होते है। रजोगुण के प्रभाव से जो कर्म किये जा सकते है उनसे भगवद्भक्त या असुर योनि प्राप्त होती है। राजस कर्मों को भी ब्रह्मार्पण करते है तो भगवान के भक्त, साधु, सत हो जाते हैं, जो उत्कर्ष व भोग चाहते है व पराक्रमी असुर होते है, जो रजोगुण के वल से स्वधर्माचरण करते है वे ब्राह्मण-वृत्ति के होते है। तमोगुण प्रेरित कर्म करने से भूत, प्रेत, पिशाच व तिर्यक अर्थात पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, पापाण आदि की योनिया प्राप्त करते है।

"जिस प्रकार नाचते और गाते हुओ को देखकर मनुष्य स्वयं भी तान तोड़ने लगता है उसी प्रकार बुद्धि के गुणों को देखकर आत्मा निष्क्रिय होकर भी उनका अनुकरण करने के लिए बाध्य हो जाता है" ॥५२॥

अव यदि यह पूछो कि अलिप्त आत्मा कर्मों के वधन मे कैसे पड जाता है, उनके फलो का भोक्ता कैसे हो जाता है, तो सुनो! जो आत्मा कर्मो से भिन्न है वह उनके फलो को क्यो भोगने लगा? तो ऊधो, जब कोई नाचने-गाने लगता है, या अभिनय करने लगता है तो देखनेवाला भी उस आनन्द मे मस्त होकर, उसी रग मे झूमने, ताल देने व भाव-भगी दिखाने लगता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव की वात है। इस प्रकार यह आत्मा भी जो कि केवल साक्षी, दृष्टा या दर्शक है, मन, वुद्धि अर्थात प्रकृति के गुणो की नाना लीलाओ का अनु-करण करने लगता है, व अपनेको भूलकर उन्हीमे अपनेको मिला देता है, मन वुद्धि के कर्म को जव आत्मा अपने कर्म समझने लगता है तव वह उनके फलो को भोगने के लिए भी मजवूर हो जाता है।

"जैसे जल के चलने से उसमें प्रतिबिम्बित वृक्ष भी चलते हुए मालूम पड़ते है, चारो ओर वेग से घुमाये हुए नेत्रो से पृथ्वी घूमती हुई-सी दिखलाई देती है तथा जैसे मनोरथो द्वारा कल्पित और स्वप्न मे देखे हुए विपयो का अनुभव मिथ्या

होता है, वैसे ही, हे दाशार्ह ! आत्मा का विषयानुभवरूप ससार मिथ्या ही है" ॥५३-५४॥

हे दाशार्ह ! आत्मा जिन विषयो का अनुभव करता है वे मिथ्या हैं, काल्पनिक व मायिक हैं। तो फिर वे सत्य क्यो दीखते है ? बच्चे को उसके गुडिया-गुड्डा भी सच्चे ही मालूम होते हैं। जल के किनारे का वृक्ष जल मे बहता हुआ दीखता है। कोई घुडसवार यदि जल मे अपनी परछाई देखे तो वह बहता हुआ दीखेगा। पृथ्वी पर चक्कर खाकर देखो तो पृथ्वी घूमती हुई दिखाई देती है। स्वप्नो के दृश्य सत्य मालूम होते हैं व मनोरथ-कल्पित विषय भी कई बार मानो सामने खडे दीखते हैं। यह जैसा भ्रम है, वैसा ही ससार का यह दृश्य, प्रपच वास्तव मे भ्रम है, इसको जीव जब सत्य मानने लगता है तो वह उसके विषयो मे नाना कर्मो मे व फिर उनके फल-भोगो मे फस जाता है। स्वप्न से जागने पर जैसे वह मिथ्या मालूम होता है, वैसे ही मनुष्य का जब अहकार छूट जाता है, अपनी अहता के कारण भासित द्वैध या द्वैत निकल जाता है तब उसे ससार मिथ्या मालूम होता है, व आत्मा मे उसकी गति व स्थिति होने लगती है।

"अत (वस्तुत) पदार्थों के विद्यमान न रहने पर भी विषयो का चिन्तन करते रहने के कारण ससार की निवृत्ति नहीं होती, जैसे स्वप्न में (वास्तविक विपत्ति का सर्वथा अभाव होने पर भी) अनिष्ट की प्रतीति होती है" ॥५५॥

जब ससार तत्वत मिथ्या है तो फिर साधन-भजन-पूजन आदि की क्या आवश्यकता है ? श्रवण, मनन, चिन्तन, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, सब फिजूल ही है। ऐसी शका उठना स्वाभाविक है। तो उसका उत्तर यह है कि विषयो का दिन-रात चिन्तन करते रहने से मन विषयाकार ही बन जाता है। मिथ्या विषयो के चिन्तन से जीव तन्मय हो रहता है। अपने असली शुद्ध-बुद्ध रूप को भूलकर शरीर व ससार को ही अपना असली रूप मानने लगता है। उसका रग उस पर इतना पक्का चढ जाता है कि फिर सहसा निकलना कठिन होता है। उस रग को मिटाने या धोने के लिए ही बार-बार चिन्तन, मनन, ध्यान आदि साधनो की जरूरत है। उनके द्वारा वह अपने असली रूप को समझने व उसमे स्थित रहने का प्रयत्न व अभ्यास करता है, जिससे धीरे-धीरे वह असली रूप को पा जाता है। जब तक जागृति नही होती, तब तक स्वप्नगत विपत्ति सत्य ही मालूम होती

है। इसी तरह जबतक विवेक व ज्ञान के द्वारा जीव यह नही अनुभव कर लेता कि मेरा शुद्ध रूप आत्मा है, यह शरीर या ससार या इसके विषय सत्य ही मालूम होते हैं। लेकिन कोरे मुह से 'ससार मिथ्या है' ऐसा करने से उसका वधन नही टूट जाता। जन्म, मरण, अहन्ता, ममता को तोडने के लिए विवेक के साथ वैराग्य का होना बहुत आवश्यक है। विवेक से सार व असार, सत्य व मिथ्या का वोध होता है, इसका सबध बुद्धि से है। परन्तु वैराग्य का सबध वृत्ति से है। जबतक वृत्ति विषय-भोगो से नही हटती तव तक वास्तविक बधन नही टूट सकता। अतः साधनो की परम आवश्यकता है।

"इसलिए हे उद्धव! इन असत इन्द्रियो से विषयो को मत भोगो, इस संपूर्ण संसार-भ्रम को आत्म-स्वरूप के अज्ञान से ही भासित समझो"॥५६॥

अत उद्धव, तुम विषयो मे आसक्त न होओ। यह आसक्ति ही परमार्थ-प्राप्ति मे बडी बाधा है। सवसे वडा भव-रोग अगर कोई है तो यही है। 'विष' से 'विषय' मे एक अक्षर अधिक ही है। विष तो एक ही दफा मारता है, परन्तु विषय तो प्रतिदिन व पुन-पुन मारते है। जबतक विषयो से छूटने के लिए ऐसी व्याकुलता नही होती, जैसे वाघ के मुह फँसी गाय को होती है तवतक विपय-भोगो से छुटकारा कठिन है। अनुताप व वैराग्य ही इसका मुख्य उपाय है। अव-तक विपय-भोगो के चक्कर मे रहे, इस वात पर अनुताप और अब भूलकर भी विषय-भोगो मे न पडेगे—यह निश्चय वैराग्य है। लेकिन ऐसे अनुताप व वैराग्य के विचार भी ईश्वर कृपा के विना नही आते। आत्म-स्वरूप के सवध मे मनुष्य जो अज्ञान है उसीसे, यह ससार-सवध कायम रहता है। अत इस अज्ञान को मिटाने के लिए तुम कमर कस लो। विवेक व वैराग्य से आत्मप्राप्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म का फल भोगना वाकी रह जाता है। लेकिन आत्मज्ञान व आत्मस्थिति के वाद वह फल-भोग कष्टदायी व वोझ-रूप नही रहता। उसका तीखापन, कटुता, कष्ट हलका हो जाता है व चित्त को शान्ति मिल जाती है।

"असाधु पुरुष तिरस्कार करें, अपमान करें, हँसे, निन्दा करें, मारें, बांधें, आजीविका से अलग कर दें, ऊपर थूक दें, अथवा मूत्र-त्याग करें, इस प्रकार अज्ञा-नियो द्वारा अनेक प्रकार से विचलित किये जाने पर भी अपने आत्यन्तिक श्रेय की इच्छा रखनेवाले पुरुष को इन सम्पूर्ण कठिनाइयो में पड़ने पर भी स्वयं ही अपना

उद्धार करना चाहिए। (अर्थात भगवद् भजन मे लगे रहकर क्रोधादि के वशीभूत न होना चाहिए)" ॥५७-५८॥

आत्मसिद्धि की पहचान है चित्त की शान्ति। जिसका चित्त सब अवस्थाओ मे शान्त रहता है समझो उसे आत्म-लाभ हुआ है। प्रारब्धानुसार दु स के अनेक कारण पैदा होगे। दुष्ट, दुर्जन तिरस्कार, अपमान, उपहास, निन्दा करेगे, मारेंगे, बाधेंगे, आजीविका छीन लेंगे, थूकेंगे, मल-मूत्र फेक देंगे, जेल, दण्ड आदि नाना त्रास देगे, परन्तु इन अनेक कठिनाइयो को आत्म-साधक शान्तिपूर्वक सह लेगा व इनमे पार हो जायगा। न उनपर क्रोध करेगा, न प्रतिहिंसा या दुर्भाव मन मे पैदा होने देगा। कायिक, वाचिक, व मानसिक त्रिविध तापो को सहते हुए अपना मार्ग काटते ही जाना चाहिए। वह विवेक के बल पर ऐसा विचार करेगा कि जो मुझे गाली देते हैं वे अपनी जीभ बिगाडते है, जो मेरा अपमान करते हैं वे अपनी हीन सस्कृति का परिचय देते है, जो मुझे कष्ट देते है वे अपनी पशुता का प्रदर्शन करते हैं, मैं इसके लिए अपमानित या त्रस्त क्यो अनुभव करू? जो निन्दा करते हैं वे तो उल्टी मेरी भलाई ही करते हैं। ये मेरे लिए माता से भी अधिक है। माता ने तो अपने हाथो से केवल मेरे शरीर का ही मल धोया है पर ये तो मन का, भीतर का भी मैल धो डालना चाहते है। अत मेरे लिए वन्दनीय है। थूकने व मल-मूत्र फेकने पर वह यह सोचेगा कि मेरे शरीर मे भी तो आखिर थूक, मूत्र आदि ही हैं। देह से उत्पन्न वस्तु ही तो देह पर डाली है, अत मैं क्यो क्रोध करू? क्यो अपनी शान्ति खोऊ? यदि कैद कर दें, जेल मे डाल दे तो वह विचार करेगा कि यह जीवात्मा भी तो शरीर के कैदखाने मे ही है। यह बडी लम्बी जेल-यात्रा जब मैं सहन कर रहा हू तो इस तात्कालिक जेल-यात्रा के लिए मैं क्यो किसीको बुरा कहू व अपने चित्त की समता खोऊ? जब विवेक-पूर्वक वह ऐसी अचल शाति धारण कर लेता है, तो ऊधो, चारो मुक्तिया लेकर मैं उसकी भेंट के लिए दौड जाता हू। वैराग्य, योग, ज्ञान व ध्यान के फलस्वरूप ही ऐसी शान्ति मनुष्य को प्राप्त होती है। अत ऊधो, तुम ससार के तमाम द्वन्द्वो को सहन करके ऐसी शाति साध लो जिससे परिपूर्ण ब्रह्म का लाभ हो जाय।

उद्धव जी बोले—"हे वक्ताओ मे श्रेष्ठ! दुष्ट पुरुषो के अपमान आदि करने पर विचलित न होना मुझे तो बड़ा कठिन जान पडता है, जिस प्रकार यह मेरी बुद्धि मे भली-भाति आ जाय आप उसी प्रकार समझाकर कहिए। हे विश्वात्मन्!

जो आपके ही धर्मों में निरत है, और आपके चरणो के आश्रित होकर शान्त चित्त हो गये हैं, उनको छोड़कर अन्य विवेकी पुरुषो के लिए भी मै इसे कठिन ही समझता हूं। क्योंकि मानव प्रकृति बड़ी ही बलवती है"॥५९-६०॥

उद्धव, आप तो सब वक्ताओ मे श्रेष्ठ है। आपने शाति रखने व दुष्टो के द्वारा सताये जाने पर भी विचलित न होने का जो उपदेश दिया वह मुझे शिरोधार्य तो है, परन्तु इसका पालन बहुत कठिन मालूम होता है। सब प्रकार के द्वन्द्वो को समचित्त से सहन करना कोई मामूली बात नही है। बडे-बडे तपस्वी, ऋषि-मुनि भी जब क्रोध के शिकार हो जाते है तो साधारण लोगो की फिर क्या कथा? देखिए, कपिल महामुनि ने क्रोध के वशीभूत होकर सगरपुत्रो को भस्म कर डाला। नारद ने कुबेर-पुत्रो को वृक्ष-योनि मे डाल दिया। दुर्वासा मुनि का क्रोध तो प्रसिद्ध ही है। शृगी ऋषि ने भी, मरा साप गले मे डालने पर कोप करके शाप दे दिया। जब ज्ञानी मनियो की यह दशा है तो औरो की क्या गिनती? अच्छा, सनकादि मुनियो की शाति तो आदर्श मानी जाती है न? परन्तु उन्होंने भी क्षुब्ध होकर जय-विजय को शाप दे ही डाला। अत जब यह प्रकृति साधु-जनो को भी डिगा देती है तो फिर हम जैसे पामरो का क्या हाल हो सकता है? यह तो एकमात्र आपकी कृपा व अनुग्रह से भले ही सभव हो सके। आपके अनन्य भक्त ही, जो अपनेको आपको समर्पित कर चुके है, व आपके बताये मार्ग पर चलते है, वे तो भले ही इस शाति को प्राप्त कर सकें। मुझे और सब बातें तो सरल मालूम होती हैं, परन्तु यह सहनशीलता, द्वन्द्वो को खामोश होकर सह लेना, बडा ही कठिन मालूम होता है। अत ऐसी विधि से समझाइये कि जिससे मुझे यह आसान मालूम होने लगे।

: २३ :

तितिक्षु ब्राह्मण

[ब्रह्मज्ञान या निर्वाण-स्थिति-रूप शांति के संबंध में उद्धव ने जो प्रश्न किया उसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने शांति व निवृत्ति का निरूपण अगले अध्यायों में किया है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि दुर्जनों के द्वारा सताये जाने पर भी, मन के क्षुब्ध होने के जबरदस्त अवसर आने पर भी, मन को कैसे शान्त व क्षमाशील रक्खा जा सकता है। 'भिक्षु गीत' के द्वारा इसका उपाय बतलाया गया है। फिर चौबीसवें अध्याय में मनोजय का कारण व प्रकृति जय का निरूपण करके पच्चीसवें में त्रिगुण निरूपण किया गया है। छब्बीसवें अध्याय में ऐल-गीत के द्वारा कठोर विरक्ति का उदाहरण पेश किया है। मन, प्रकृति, गुण व विषय इस प्रकार चारों बातों का समाधान अगले चारों अध्यायों में किया गया है।]

श्री शुकदेवजी बोले—"हे राजन्! भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ उद्धवजी के इस प्रकार प्रार्थना करने पर, जिनके पराक्रम श्रवण करने योग्य हैं, वे यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र अपने सेवक के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए कहने लगे" ॥१॥

शुकदेवजी ने कहा—उद्धव भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ था। चाहे कोई कैसे ही उच्चकुल में जन्म क्यों न ले, द्विज ही क्यों न हो, जबतक वह अपना जीवन भगवान के अर्पण नहीं कर देता, तबतक उसे निष्फल ही समझो। जैसे आम के पेड़ पर यदि बांदा लग जाय तो वह फलवान होने पर भी निष्फल हो जाता है, वैसे ही भजन के बिना उत्तम लोक या कुल भी व्यर्थ हो जाता है। उद्धव का जन्म उत्तम यादव-कुल में हुआ था। यादव-सभा का सदस्य रहते हुए भी वह कभी भगवान को भूल नहीं गया। राज्य, वैभव, संपत्ति आदि के रहते हुए भी, सद्-गुणी, सुशील, सुन्दर, अनुकूल, पतिव्रता पत्नी के मिलने पर भी जो भगवान को नहीं भूलता, उनका आश्रय नहीं छोड़ता, वही सच्चा भगवद्भक्त है। उद्धव

ऐसे ही श्रेष्ठ भक्तो मे था। अत उसका यह प्रश्न श्रीकृष्ण को बडा प्रिय लगा। वह उसकी प्रशसा करने लगे व उसे शाति का पूर्ण अधिकारी मानकर अवन्तिपुर के एक भिक्षु की कथा सुनाने लगे।

श्री भगवान बोले—"हे बृहस्पतिजी के शिष्य उद्धव! इस संसार में ऐसे साधुपुरुष प्रायः नहीं मिलते, जो दुर्जनों के दुर्वाक्यबाणो से विद्ध होने पर अपने-आपको संभाल सकें" ॥२॥

श्री भगवान ने कहा—ऊधो, तुमने यह सत्य ही कहा है कि दुर्जनो के कुवचन या अपमान को सहने का सामर्थ्य बहुत कम लोगो मे देखा जाता है। तुम परम ब्रह्मज्ञानी देवगुरु बृहस्पति के शिष्य हो, अत शाति का मर्म तुम जल्दी समझ जाओगे व उसका पालन भी आसानी से कर सकोगे। सच पूछो तो जो दुर्जनो द्वारा की गई निन्दा, अवज्ञा, अवहेलना और अपमान को शातिपूर्वक सह लेता है, उसे दूसरा ईश्वर ही समझो। जो भूत-मात्र मे अपनी आत्मा को देखता है, इस आत्म-स्थिति मे जो दृढ हो गया है, वही सुखपूर्वक दुर्जनो के आघात सहने मे सफल हो पाता है। जो यह अनुभव करता है कि यह सारा जगत मै ही हू, उसके प्रति कितने ही उपद्रव किये जाय, उसे क्रोध नही आ सकता, न उद्वेग ही हो सकता है। अपने हाथ की थपेड यदि अपने ही शरीर को लग जाय तो क्या हमे अपने हाथ पर क्रोध आवेगा? इसी तरह जो चराचर मे निजात्मता को अनुभव करता है, वह ऐसे अवसरो पर शाति ही रखेगा। ऐसे शाति-मूर्ति जन को ही सच्चा साधु समझो, वही दूसरो के अपराध क्षमा कर सकता है।

"मर्म-वेधी बाणो से विद्ध होकर भी मनुष्य ऐसा पीडित नहीं होता जैसाकि उसे दुष्टजनो के वचन रूपी बाण पीड़ा पहुचाते हैं" ॥३॥

तीव्र विष-बुझे बाण भी मनुष्य के हृदय को उस तरह घायल व व्याकुल नही कर सकते जैसे दुष्टो व दुर्जनो के वाग्बाण करते है। लोहे के बाण से तो उतना ही अग व्यथित होता है जहा वह लगता है, किन्तु वाग्बाण तो सात पीढियो तक का कलेजा छेद डालते है। लौह-बाण की व्यथा तो जडी-बूटी आदि के लेपादि से चली जाती है, परन्तु वाग्बाण का जख्म जिन्दगी-भर कायम रहता है। मर्मभेदी निन्दा-रूपी वाग्बाण तो अन्त करण को इस तरह छेद देते है कि सारे शरीर मे आग भडक उठती है। दुर्जनो की ऐसी दुष्क्रियाओ, अपमानो को शातिपूर्वक सहना मामूली आदमी का काम नही है।

"हे उद्धव! इस प्रसग मे एक अति पवित्र प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है, उसका मै तुमसे वर्णन करता हू; खूब सावधान होकर सुनो" ॥४॥

इनके आदर्श या उदाहरण के तौर पर मैं तुम्हे एक ब्राह्मण का इतिहास सुनाता हू। यह शाति-प्राप्ति के लिए गगा-स्नान जैसा काम देगा।

"किसी भिक्षु ने दुर्जनो द्वारा सताये जाने पर उसे धैर्यपूर्वक, अपने कर्मो के फलस्वरूप से स्मरण करते हुए, जो कुछ कहा था, वह इसमे बतलाया गया है" ॥५॥

एक सन्यासी था, जिसे दुर्जनो ने बहुत सताया, परन्तु उसने उन सबको बडी क्षमाशीलता के साथ सहा। उसने यही माना कि ये मेरे पिछले दुष्ट कर्मो का ही फल है, जो कि मुझे प्रसन्नता से सहना चाहिए। यदि शरीर, वस्त्र, घर या मन का मैल दूर हो रहा हो तो उससे जो क्रोध कर बैठे, उसे मूर्ख या आत्मघाती ही कहना होगा। लोग जिन्हे दुर्जन कहते थे, वह सन्यासी उन्हें स्वजन समझता था। कहता था कि इनके व्यवहार से तो मेरे दोषो का परिहार ही होता है। जब कोई मुह के सामने ही कुवाक्य कहकर निन्दा करता तो वह कहता कि ईश्वर का मुझपर बडा अनुग्रह हुआ, जिससे मेरे पाप सहज ही कट रहे है। ऐसा समझ वह मन मे सुखी व सतुष्ट हो रहता।

"उज्जयिनी पुरी मे एक ब्राह्मण रहता था, जो अपनी सम्पत्ति के कारण बहुत बडा धनाढ्य था। वह कृषि-वाणिज्य आदि व्यवसाय करता था और अत्यन्त कृपण, कामी, लोभी और बडा क्रोधी था" ॥६॥

मालव देश मे अवन्ती नामक एक नगरी है जिसे आजकल उज्जैन कहते है। उसमें एक ब्राह्मण रहता था। कृषि-व्यापार के द्वारा वह अपनी गुजर करता था। उससे मुनाफे से वह मालामाल हो गया था। परन्तु बडा कजूस था। खुद अच्छा भोजन भी नही करता था, सो भी पेट भर नही, स्त्री, पुत्र, दास-दासी भी अच्छा भरपेट अन्न नही पाते थे। न वह नित्य नैमित्तिक कर्म करता था, न देव-ब्राह्मण व अतिथि-पूजा, न कोई धर्म-कर्म। कौडी के लोभ से नाना प्रकार के कुकर्म किया करता था। इस तरह वह बडा कृपण, लोभी, कामी और क्रोधी हो गया था।

"उसने जाति-भाइयो और अतिथियो का वाणीमात्र से भी सत्कार नही किया और धर्म-कर्म से रहित घर मे निवास करते हुए उसने अपने शरीर को भी सामयिक सुखो से वचित कर रखा था" ॥७॥

जाति-भाइयो और अतिथियो का वह वाणी से भी सत्कार नही करता था।

उसके दुष्ट वचनो को सुनकर साधु-सन्यासी ऐसे भाग जाते जैसे गोबर को देखकर राजहस। अतिथि उसके द्वार पर झाकते तक नही थे। पितर बेचारे निराश बैठे रहते। घर मे न चिडियो को दाना मिलता न चूहो को। जब वह खुद ही न अच्छा खाता था, न पहनता था, तो फिर दूसरो की क्या कथा ?

"उस दुष्ट स्वभाववाले और कृपण ब्राह्मण के पुत्र, बन्धु, स्त्री, कन्या और नौकर-चाकर भी उससे दुखी रहने के कारण द्रोह करते थे और कभी उसका हित-साधन नहीं करते थे" ॥८॥

यहातक कि उसके दु शील को देखकर खुद उसके पुत्र, बन्धु, स्त्री, कन्या, नौकर-चाकर भी उससे दुखी रहते थे। वे उसका द्रोह करते थे। जो अपने धर्म, कुल, शील की मर्यादा छोड देता है, व धन-लोभ से कुकर्म पर उतारू हो जाता है, उसे दु शील कहते है। उसका नाम ही कदर्यु पड गया था। ऐसे व्यक्ति के लिए स्वजन भी विरोधी व शत्रु हो जाते है व वे शुभ के बजाय अशुभ चाहने लगते है।

"इस प्रकार यक्ष के समान धन की रखवाली रखने वाले, दान और भोग से रहित होने के कारण दोनो लोकों से पतित उस ब्राह्मण से पंचयज्ञ के भागी देव-गण कुपित हुए" ॥९॥

उसने केवल सचित करने के लिए ही किसी यक्ष या भूत-प्रेत की तरह धन-सम्पत्ति जुटा रक्खी थी। जब अपने ही सुख-भोग मे वह खर्च नही करता था, तो उसका इस लोक का सुख तो समाप्त ही हो चुका था। वह स्वधर्म-कर्म या मत्र यज्ञादि भी नही करता था, इससे परलोक भी चला गया। वह "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट " हो गया। ब्राह्मण शरीर पाकर भी, कृपणता के कारण, वह दोनो लोको से भ्रष्ट हो गया था। इससे उसपर देवगण बहुत कुपित हुए।

"हे अति उदार उद्धव, देवताओ का अपमान करने से उसका पूर्व पुण्य क्षीण हो गया तथा उसका अत्यन्त प्रयास और परिश्रम से संचित केवल पीड़ा देनेवाला सारा धन भी नष्ट हो गया" ॥१०॥

तब उसके पूर्व पुण्य क्षीण होने लगे। उसके वैभव का सूर्य अस्त होकर अब अधर्म और दुख का घोर अधकार छा गया। पचविधि यज्ञ मूर्तियो को वह सतुष्ट नही कर सका। अत. उसका विनाश भी पचधा—पाच तरह से होने लगा। भाई-बन्धु, चोर, राजा, आग और रोग इन पाच मार्गो से उसकी धन-सम्पत्ति नष्ट होने लगी। धन जहा सत्कर्म मे नही लगता वहा उसका क्षय अनिवार्य है।

धन की तीन गतिया होती है—दान, भोग, नाश। जो धन न दान देने मे काम आता है, न भोग मे, वह तीसरी गति को ही प्राप्त होता है। जब बडो का सम्मान न हो, जब पच महायज्ञ न हो, जब गुरु के प्रति अभिमान रक्खा जाता हो, वही क्षय का कारण समझना चाहिए। जब दूसरो का द्वेष होने लगे, निन्दा की जाने लगे, धन का घमण्ड आने लगे, तो समझो कि अब क्षय के दिन आ गये।

"उस ब्राह्मण का कुछ धन तो उसके कुटुम्बियो ने छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ दैव और काल से नष्ट हो गया और कुछ राजा तथा अन्य मनुष्यो के कारण नष्ट हो गया" ॥११॥

उसका कुछ धन तो उसके स्त्री-पुत्रो ने मिलकर छीन लिया, कुछ गोत्रजो ने हडप लिया, जबर्दस्ती उठाकर व लेकर हिस्सा-बाँट कर लिया, कुछ चोर चुरा ले गये, कुछ आग मे जल गया, पाला, वृष्टि से सड गया, कुछ धरती मे दबा रह गया और रहा-सहा राजा ने जब्त कर लिया।

"इस प्रकार धन के नष्ट हो जाने पर धर्म एव उपभोग से रहित और स्वजनो से तिरस्कृत उस ब्राह्मण को बडी भारी चिन्ता हुई" ॥१२॥

जब उसका वह सारा धन-ऐश्वर्य, दरिद्री के स्वप्न ही तरह उड गया, पहले के इष्ट-मित्र सगे-सबंधी सब विमुख हो गये, प्रत्यक्ष मुह पर निंदा, उपहास धिक्कार करने लगे, तब वह बडी विपत्ति मे पड गया। अब तो भीख भी मागे नही मिलने लगी। इस प्रकार स्वजनो से भी तिरस्कृत होकर उसे बडी चिन्ता हो गई। अब उसके दु ख का कोई ठिकाना नही रहा।

"धन के नाश से जो सन्तप्त और क्षीण है तथा आसुओ की बाढ़ के कारण जिसका गला भर आया है, ऐसे उस ब्राह्मण को दीर्घ काल तक चिन्ता करते-करते महान वैराग्य उत्पन्न हुआ" ॥१३॥

अब तो उसे बडा खेद होने लगा। धन तो चला गया पर पूर्व वैभव की स्मृति उसे रह-रहकर दुख देने लगी। मानो हजारो बिच्छुओ ने एक साथ डक मारा हो। साप के फण पर काटा लग जाने से जैसा तडपता है, या जल से अलग हो जाने पर मछली जैसे विकल होती है, ऐसी ही उसकी दशा हो गई। शोक-वेग से आसुओ की झडी लगती व कभी-कभी बेहोश भी हो जाता। बीच-बीच मे पश्चात्ताप होने लगता। अरे मै कैसा भाग्यहीन हुआ। दुष्ट विधाता ने यह क्या मेरे भाग्य मे लिख दिया। अभी तो जो कुछ भोग रहा हू, सो ठीक ही है, आगे न जाने क्या-क्या

दु ख भोगना बदा है। जब मैंने अबतक कोई शुभ कर्म नही किया, अपने किसी कर्तव्य का पालन नही किया है, बल्कि मदाध होकर कुकर्म ही किये है, तो फिर इनका कुफल मुझे भोगना ही पडेगा। ऐसी दशा मे, हे परमात्मा, हे नारायण, हे गोविन्द, अब तेरे सिवा मेरा कोई सहारा, त्राता नही है। मुझ असहाय की बाँह पकडो, व दु ख के अग्नि-समुद्र से मुझे निकालो। तुमने प्रह्लाद, अम्बरीष, परीक्षित की जैसे रक्षा की वैसे ही अब मेरी बारी है। अहल्या, अजामील, गज, गणिका, का दौडकर जैसे उद्धार किया था, मेरा भी उद्धार करो। अच्छा ही हुआ जो मेरा यह सब धन-धाम आदि जलकर भस्म हो गया।

"वह (मन ही मन) कहने लगा—ओहो, खेद है कि मैंने व्यर्थ ही इतने दिन अपने शरीर को सन्तप्त किया। जिस धन के लिए मैंने इतना कष्ट उठाया, वह न धर्म ही में लगा न काम (भोग) में ही" ॥१४॥

अरे, मैंने इतने दिन व्यर्थ ही धन-लोभ मे नष्ट कर दिये। ब्राह्मण देह पाकर भी, जो मोक्ष-सिद्ध के काम मे आनी चाहिए थी, मुझ अभागे ने उसे उलटा अधम योनि का द्वार बना दिया। धन को मैंने न तो भले कामो मे ही लगाया न खुद ही सुख-चैन, आमोद-प्रमोद मे खर्च किया। बडे प्रयत्न से जो धन मैंने सग्रह किया था, उसे आखिर अपने दु ख का कारण ही मैंने बना डाला। अब मैं न घर का ही रहा, न घाट का। मोक्ष-सुख तो एक तरफ रहा अब मुझे नरक-यातना भोगे बिना छुटकारा नही है। उत्तम देह पाकर भी अन्त को अनुताप और पश्चात्ताप ही पल्ले पडा। यह धन न धर्म ही के काम आया, न भोग ही के। ऐसे पश्चात्ताप से उसके मन मे वैराग्य का भाव पैदा हो गया। धन-लोभी को सारे दु खो का भण्डार ही समझना चाहिए। धन के गुलाम से बढकर पामर कोई नही।

"कृपण पुरुषों के लिए धन प्रायः सुख का साधन नहीं होता। इस लोक में तो वह उनके चित्त को संताप करने के लिए होता है और मरने पर उनके नरक का कारण होता है" ॥१५॥

धन-लोभी को ससार मे कदापि सुख नही प्राप्त हो सकता। धन की रक्षा करने मे उसे बहुत चिन्ता व श्रम उठाना पडता है। उसे जाते देख प्राण निकलने लगते है। धन आते समय बडे कष्ट से आता है, उसकी रक्षा मे बडा कलह छिडता है, फिर उसके नाश से हृदय फटने लगता है। इस तरह धन लोभी को ससार मे कष्ट व दु ख के सिवा कुछ हाथ मे नही आता। फिर धन-लोभ से अधर्म व अनीति

मे जो प्रवृत्ति होती है उससे परलोक मे नरक व दुःख का भोग। जो मुझ-जैसा कृपण है, उसे उत्तरोत्तर दुःख ही भोगना पडता है। सुख-सुविधा उसके नसीब मे नही हो सकती। जहा लोभ है वहा स्वप्न मे भी सुख नही मिल सकता। 'लोभ मूलानि पापानि।'

"जिस प्रकार थोड़ा-सा भी कोढ सर्वांग सुन्दर स्वरूप को विगाड़ देता है, उसी प्रकार तनिक-सा भी लोभ, यशस्वियो के शुद्ध यश को और गुणवानो के प्रशसनीय गुणो को नष्ट कर देता है" ॥१६॥

जिन्होने महत्कर्मो से विपुल यश सपादन किया हो वे यदि थोडा भी लोभ रखकर उसके वदले मे कुछ पाना चाहे तो उनका यश मिट्टी मे मिल जाता है। कन्यादान करने से सारा कुल पवित्र हो जाता है, परन्तु लोभ-वश उसके लिए या वदले मे थोडा भी धन लेने से अधःपात हो जाता है। वडा दान देकर भी दाता यदि उससे थोडा भी धन उपार्जन करना चाहे तो वह उसके लिए दूषण और लाछन हो जाता है। वेद-शास्त्रो के व अनेक विद्याओ के पण्डित होकर जो धन लोभ से लोगो को छलते या ज्ञानाभिमान मे दूसरो को तुच्छ समझते है, नाना कुतर्क, विवाद फैलाते है, वे निन्दा व उपहास के पात्र हो जाते हैं। यशस्वियो व गुणियो का जब यह हाल हो जाता है तो धन-लोभ से मामूली आदमियो की क्या कथा? लोभ शुद्ध को अशुद्ध कर देता है। जहा लोभ है, वहा निन्दा तो जाहिर ही है। देखो, कोई कुल-शीलवान सुकुमार राजकुमार यदि सर्वांग सुन्दर हो तो भी यदि नाक पर उसे जरा भी सफेद दाग हो जाय तो उसका रूप विगड जाता है व लोग नाक-भौं सिकोडने लगते है, इसी प्रकार थोडे-से भी धन-लोभ से मनुष्यो के वडे-से-वडे गुण नष्ट हो जाते है।

"धन के उपार्जन मे और उपार्जन कर लेने पर उसकी वृद्धि, रक्षा एव व्यय करने मे तथा उसके नाश और उपभोग मे मनुष्य को निरतर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पडता है" ॥१७॥

पहले तो धन जोडने मे कष्ट करना पडता है, फिर उसे वढाने मे कष्ट। अपार धन हो जाय तो भी लोभ उसे कम मानता है। धन के लिए जितना भगीरथ प्रयत्न किया जाता है वही यदि परमार्थ, परोपकार, सेवा-कार्यो के लिए किया जाय, तो मनुष्य ईश्वर के निकट पहुंच सकता है। फिर कष्ट से जोडे धन को वटोर कर रखने की वडी चिन्ता उठानी पडती है। दिन-रात मन मे धुक-धुकी लगी रहती है

कि कोई उठा न ले जाय, चुरा न ले जाय, माँगने न आ जाय। स्त्री हो, पुत्र हो या माता हो, धन-लोभी का सहसा किसी पर विश्वास नही होता। अपने सिवा दूसरो का उसे भरोसा नही होता। आदि मध्य और अन्त तीनो दशाओ मे धन अपाय का हेतु होता है। इस प्रकार धन के उपार्जन मे और उपार्जन कर लेने पर उसकी वृद्धि, रक्षा एव व्यय करने मे तथा उसके नाश और उपभोग मे मनुष्य को निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता व भ्रम का ही सामना करना पडता है।

"चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, होड़ और व्यसन---ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्य को धन के कारण से ही होते है। इसलिए कल्याण की इच्छावाला पुरुष इस अर्थरूप अनर्थ का दूर से ही त्याग कर दे" ॥१८-१९॥

ऊधो, एक नही, पन्द्रह अनर्थ धन के कारण होते है। चोरी, हिंसा, मिथ्या भाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहकार, भेद बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, स्त्री, जुआ व मद्य का व्यसन। मनुष्य सहसा इनको समझ नही पाता, अत धन के चक्कर मे रहता है। ये पन्द्रह भी मोटे-मोटे उदाहरण है। वैसे तो धन ससार मे सब तरह अनर्थों का कारण है---'अर्थमनर्थंभावय नित्य'---जहा धन नही वहा चोर का डर नही। जिसके पास धन नही उससे चोर उलटा भय खाते है। जहा धन है, वहा चोरी निश्चित समझो। साधु-सन्यासी तक धन को देखकर ललचा जाते है, तो फिर चोरो की क्या कथा? फिर धन हिंसा का स्थान है। धन के लिए मनुष्य और तो ठीक अपने पिता, पुत्र, पत्नी, इष्ट-मित्र तक की जान ले डालता है। बेटी बाप को जहर दे देती है, पुत्र पत्नी को लेकर बाप-मा से अलग हो जाता है। पति-पत्नी मे खट-पट हो जाती है, बाप-बेटो मे लडाई झगडे हो जाते है। जो माता अपने पेट मे नौ महीने रखती है, उसका भी घात पुत्र धन के लिए कर सकता है। झूठ बोलने की जरूरत मनुष्य को मुख्यत धन के ही कारण होती है। सुख-भोग व स्वार्थ-सिद्धि के तमाम साधनो मे धन ही मुख्य है। मनुष्य को झूठ बोलने के अवसर मुख्य-स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही आते है। धन के कारण बेटा बाप से, पति पत्नी से व मित्र मित्र से झूठ बोल जाते है। धनोपार्जन मे भी झूठ से बहुत काम लिया जाता है। मामूली व्यापारी ही नही, धन के लिए बडे-बडे पण्डित व ज्ञानी कहलानेवाले भी झूठ बोलते देखे जाते है। झूठी सिद्धिया बतलाते है झूठी व्यवस्था, व झूठे प्रमाण-पत्र दे देते है। जिनके पास धन नही है, उन्हे असत्य बोलने

की जरूरत ही नही रहती। जहा धन होता है वहा पाखण्ड भी रहता ही है। पाखण्ड असत्य का ही एक रूप है। वस्तु के असली रूप को छिपाकर और कुछ बताना पाखण्ड है। धन के खातिर अपनेको हरिभक्त बताना, बडे देश-सेवी, समाज-सेवी बताना, भजन, प्रार्थना, ध्यान या ऊपरी वेश-भूषा का ढोग करना, तिलक लगाना, खादी-टोपी पहन लेना ये सब पाखड के लक्षण है। धन या दक्षिणा के लोभ से झूठी दीक्षा देना गुरु का दम्भ है, समर्थ शिष्य की आवभगत करना, दीन, हीन, असहाय की उपेक्षा करना, गुरु का दम्भ है। इसी तरह अपनी नेतागीरी पुजवाने के लिए अनुयायियो का झुण्ड इकट्ठा करना नेताओ का दम्भ है। शिष्य का गुरु के व अनुयायी का नेता के बाह्याचार की नकल करके ज्ञानी या बडा बनने का ढोग करना महा पाखण्ड है। अपने धन का या ज्ञान का सूक्ष्म अभिमान रखकर बडो की अवहेलना या उपेक्षा करना भी दम्भ का ही लक्षण है। जो भीतर से खोखले है, ज्ञान-ध्यान, सिद्धान्त कुछ नही जानते, न मानते ही हैं, फिर भी ऊपर की खाना-पुरी पूरी कर देते है, उन्हे पाखण्डी समझो। परद्रव्य, परान्न, पर-दारा का हरण करने के लिए अपने को सन्त, महात्मा, महापुरुष बतलाना घोर पाखण्ड है।

कामवासना की पूर्ति धन के बिना नही हो सकती, उसी प्रकार जहा धन है, वहा काम-भोग का प्रभाव हुए बिना नही रह सकता। यदि धन का उपयोग दान मे नही किया जाता तो विषय-भोग मे, कामवासना की पूर्ति मे, उसे खर्च करने की सूझती है। धन का सहारा न हो तो काम अपनी सीमा को सहसा नही छोड सकता। काम-भोग के प्रभाव से फिर मनुष्य नाना अधर्मो व कुकर्मो मे प्रवृत्त होता है।

काम-पूर्ति मे बाधा पडने से क्रोध उत्पन्न होता है। जहा क्रोध का सचार एक बार हुआ कि जप, तप, निष्ठा, नेम सब भस्म हो जाते है। धन-प्राप्ति मे कही रुकावट हुई या धन-व्यय मे किसीने बाधा डाली कि क्रोध हो जाता है।

जहा धन है वहा गर्व तो मौजूद ही समझो। धन-मद से मनुष्य अपने सगे माता-पिता की भी परवाह नही करता, तो फिर औरो की तो बात ही क्या? साधु-सन्यासी, देश-राष्ट्र, समाज-नेता उनकी भी उपेक्षा, उपहास व तिरस्कार करता है तो फिर दूसरो की क्या कथा? धन व ज्ञान के गर्व मे मनुष्य गुरु, नेता, बडे-बूढो को भी मूर्ख समझने लगता है। उनके गुणो की ओर से आखे मूदकर उनके अवगुण ही देखना व गिनना रहता है। फिर गर्व का एक लक्षण यह भी है कि किसीका गुण सुना तो सहसा विश्वास नही होता, अवगुण सुनते ही विश्वास होने

लगता है। क्योकि धनी व्यक्ति के पास ज्यादाचार समाज मे पाया जाता है, उसका लगा रहता है, इसीसे उनकी ऐसी वृत्ति बन जाती है। धनहीन पुरुष के घर मे खुद श्रेष्ठ को सम्मान कैसा व वृद्धो की प्रतिष्ठा कैसी ? " को उसकी निर्धनता के लिए

धन का गर्व होने से अहन्ता बढ जाती है। मनुष्य आसपास मडराती रहती है। समझता ही नही। मेरे पास बहुत धन है, इस ज्ञान व मो धनी पुरुषो के आसपास होती है। अत 'मेरे बराबर ससार मे बडा या श्रेष्ठ कौन हो सबिना एक कदम आगे हो गई। अहन्ता से उद्दण्डता आती है। विवेक, विचार, नम्रता, ।
दाक्षिण्य नष्ट होने लगता है। फिर वह पापान्न का, योग्यायोग्य काघो पुरुष अपनी रखता। जिसकी धन मे आसक्ति हो जाती है, उसे न लोक-लाज, न ईश्वे ही त्याग रहता है, न वह अपना-पराया देखता है, न धर्म-कर्म की परवाह करता है। गता है, की निंदा, बुराई, हँसी, उपहास न केवल खुद सुनता है बल्कि करता भी है। ार्थी यदि धन के साथ कही जवानी दिवानी मिल गई तो समझो, करेला व नीम चढा ! गे वह पथ-कुपथ नही देखता, कुल-शील का विचार नही करता, सुबह-शाम नही देखता। धन-मद, मद्य-मद से भी बढकर है। मद्य-मद तो थोडे समय के बाद उतर जाता है, परन्तु धन-मद तो मरण आने पर भी सहसा नही उतरता। अनर्थ करते हुए भी वह अनर्थ का ज्ञान नही होने देता। मद्य पीने वाले का लोग तिरस्कार करते है, परन्तु धनी की उलटे खुशामद की जाती है। जिसने मद्य पिया उसके सुधरने की फिर भी गुजाइश है, किन्तु धनोन्माद तो खुशामद से इतना फूल जाता है कि उसके उद्धार की कल्पना व आशा करना कठिन है।

धन से भेद-भाव बढता है। माता, पिता, पत्नी से छिपा करके रक्खा जाता है। जहा धन है वहा भाई-बन्धुओ मे आपस मे झगडे होते है। खून-खराबी तक हो जाती है। मित्र-मित्र का प्राण लेने पर उतारू हो जाते है।

भेद ही नही धन अन्त को वैर बाधने पर मजबूर कर देता है। बाप-बेटे मे, पति-पत्नी मे, मा-बेटी मे, भाई-बहन मे ससुर-जवाई मे, गुरु-शिष्य मे, मित्र-मित्र मे यह धन विरोध व कलह खडा कर देता है। साधु-सन्तो, महन्तो, ब्राह्मणो, देश-समाज-सेवको व सस्थाओ के सचालको मे धन के कारण झगडे, मुकदमेबाजी, पार्टीबन्दी होती है, तो फिर अपढ-गवारो मे कलह हो जाय तो क्या आश्चर्य है ! धनाभिमानी गुरु से अबोला लेता है, जिनकी कृपा से मनुष्य भव-बन्धन को तोडने

की जरूरत ही नहीं रहती। ज ऐसा कोई नही है जिससे धनी पुरुष का कोई
पाखण्ड असत्य का ही एँक रू
वताना पाखण्ड है। धन विश्वास नही कर सकता। खुद पिता-माता-पत्नी पर
समाज-सेवी वताना, रता है। जो पिता परमेश्वर के तुल्य है, उसपर पुत्र, जो
तिलक लगाना, खादी मा है, विश्वास नही रखता। जो पत्नी, अपनी अर्वागिनी ही
के लोभ से झूठी न-प्राण सब पति को अर्पण कर दिये हैं, उससे भी मन की वात
दीन, हीन, अन्तार मे अविश्वास के दो ही कारण मुख्य हैं--एक धन, दूसरा स्त्री।
पुजवाने के मन मोहित हो गया है वह किसीका विश्वास नही कर सकता। इस
का गुरु ने के साथ जव अभिमान का मेल हो जाता है तो फिर अनर्थ का कोई
का ठा नही। एक ओर अविश्वास दूसरे के नजदीक हमे नही जाने देता, व दूसरी
व र अभिमान दूसरो को हमारे नजदीक नही आने देता। तो वह मनुष्य समार मे अपने-आप सवसे वहिष्कृत हो जाता है। उसका प्रेम, स्नेह, धर्म-भाव सब नष्ट हो जाता है। दूसरो पर अविश्वास करते-करते खुद अपने पर से भी विश्वास उड जाता है। आत्मविश्वास चले जाने के मानी है आस्तिकता--ईश्वर-विश्वास का चला जाना। जो अपने पर विश्वास कर सकता है वही ईश्वर पर भी विश्वास रख सकता है। हमारा ही तो विस्तृत, व्यापक, समष्टिगत रूप ईश्वर है। अविश्वास से मन मे विकार पैदा होता है, अर्थात जहा जो कल्पना या विचार नही करना, नही मानना चाहिए, वहा वह होने लगता है। जिसके मन मे सदा अविश्वास रहता है वह सदा दूसरो के दोष ही देखा करता है, इससे उसकी वृत्ति सात्विक नही होने पाती।

वहुत विद्या या वहुत धन जहा होता है, वहा स्पर्धा अवश्य होती है। विद्वानो मे ही नही, गुरु-शिष्य, नेता-अनुयायी, सेनापति व सिपाही मे भी परस्पर स्पर्धा देखी जाती है। फिर धन मे स्पर्धा हो तो कौन वडी वात है? एक का धन देखकर दूसरे को धनी वनने की इच्छा होती है, व यही आगे चलकर ईर्ष्या व मत्सर का रूप धारण कर लेती है। जवतक दूसरे से आगे निकल जाने की इच्छा है तवतक तो स्पर्धा है, जव दूसरे को पीछे धकेलकर या गिराकर भी आगे निकलने की इच्छा होती है तव वह ईर्ष्या या मत्सर कहलाती है।

स्त्री, मद्य व जुआ ये तीनो एक ही शरीर के विभिन्न अवयव है, जो दुर्व्यसन कहलाते है। धन इन तीनो का एक भाग वहाना है। निर्धन मनुष्य की ओर स्त्रिया

आख उठाकर भी नही देखती। जितना व्यभिचार समाज मे पाया जाता है, उसका मुख्य साधन व कई अशो मे कारण भी धन ही है। धनहीन पुरुष के घर मे खुद पति-पत्नी मे भी कलह देखा जाता है, व स्त्री पति को उसकी निर्धनता के लिए कोसती है। पर धनीमानी को देखकर स्त्रिया उनके आसपास मडराती रहती है। निर्धन पुरुष के बस मे खुद अपनी स्त्री भी नही रह पाती, तो धनी पुरुषो के आसपास स्त्रिया चक्कर काटती रहती हैं; जुआ व शराब तो धन के बिना एक कदम आगे नही चल सकते।

कम-से-कम ये पन्द्रह अनर्थ धन के मैंने तुम्हे बताये। अत. जो पुरुष अपनी कल्याण की इच्छा रखता है, उसे इस अर्थ-रूप महा अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिए। जैसे चीटी आग के पास नही जाती, खटमल तेल से दूर भागता है, आग मे नमक पडने से जैसे वह तडतड करके बाहर निकल जाता है, वैसे ही श्रेयार्थी को धन-सग्रह से दूर रहना चाहिए। अगर अर्थ-सग्रह या सचय करना ही पडे तो परोपकार के लिए भले ही करे, अपने लिए तो हरगिज नही।

"भाई, बन्धु, स्त्री माता-पिता, तथा सुहृद जो स्नेह-बंधन से बंधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं वे सबके-सब एक कोड़ी (२०) कौड़ी के कारण अलग-अलग होकर तुरंत ही शत्रु हो जाते है" ॥२०॥

इस तरह एक फूटी कौडी भी, भाई, बन्धु, स्त्री, माता-पिता तथा सुहृदो मे जो एक स्नेह बन्धन से बधे रहते है, उनको एक दूसरे से अलग-अलग कर देती है। उसके लोभ से वे एक दूसरे के महान शत्रु हो जाते है।

"ये समस्त संबंधी थोडे से ही धन के कारण क्षुब्ध और अत्यन्त क्रोधवश हो जाते है तथा तुरंत एक-दूसरे को छोड देते हैं और डाहपूर्वक सम्पूर्ण स्नेह को भूलकर एक-दूसरे का सर्वनाश कर डालते हैं" ॥२१॥

देखो, ये इतने बडे स्नेह-सबधी भी थोडे-से धन के कारण क्षुब्ध व क्रोधित हो जाते हैं। सारा ज्ञान-विवेक नष्ट हो जाता है और एक-दूसरे को त्याग देते है। द्रोह व मत्सर करने लगते है व अन्त को सारा स्नेह भूलकर एक-दूसरे का घात करते हुए अपना सर्वनाश कर लेते है।

"जो इस देव-दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर और इससे भी उत्तम ब्राह्मण होकर इसका अनादर करके अपने परम स्वार्थ (मोक्ष) का नाश करते है, वे महा नीच गति को प्राप्त होते है" ॥२२॥

विप्र ने कहा—देखो मैंने यह देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाया, देवता भी जिस योनि मे जन्म लेने के लिए तरसते रहते हैं, वह मनुष्य-योनि मुझे मिली। जिसमे भी द्विज व द्विजो मे अग्रणी ब्राह्मण जाति मे मेरा जन्म हुआ। उसमे भी उत्तम कुल पाया। अत जिस शरीर के द्वारा मुझे चारो प्रकार की मुक्ति पाने के योग्य सुकृत करना चाहिए था, साधन-भजन, परोपकार, दीन-दुखी की सेवा मे समय लगाना चाहिए था, सो न करके मैंने उलटा पाप ही हर तरह कमाया। यहा तक कि प्रतिष्ठा, यश व कीर्ति भी मैंने प्राप्त नही की। इसमे सन्देह नही कि जो मनुष्य इस नर शरीर का निरादर करके अपने श्रेय की हानि करते हैं, वे महाअधर्मी हैं व अवमता को ही प्राप्त होते हैं।

"स्वर्ग और अपवर्ग के द्वार-रूप इस मनुष्य-देह को पाकर कौन मनुष्य अनर्थों के इस आश्रयवन मे आसक्ति करेगा" ॥२३॥

यह मनुष्य-शरीर ही ऐसा है जिसमे मनुष्य स्वर्ग व मोक्ष को पा सकता है, क्योकि बुद्धि व ज्ञान का अधिकारी यही है। बुद्धि से शुभ कर्मो मे प्रवृत्ति होती है, जिससे स्वर्गादि पुण्य-लोक या स्थिति प्राप्त होती है। इसे ऐहिक या भौतिक सुख की सर्वोच्च अवस्था समझना चाहिए। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति करके मोक्ष को, सब प्रकार के दु खो की निवृत्ति को, साधता है। फिर ब्राह्मण तो मोक्ष के सबसे पहिले अधिकारी होते हैं, क्योकि उनका जीवन तो शुरू से ही सात्विक होता है। उनके द्वारा दूसरो को स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो फिर खुद उनके लिए तो मोक्ष हस्तामलकवत ही समझना चाहिये। जिस ब्राह्मण ने एषणात्रय को (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा—मनुष्य इन्ही तीन पुत्र, धन व कीर्ति की इच्छा से बहुत-से सासारिक कर्म कर रहा है) छोड दिया है, मुक्ति उनकी दासी होकर सदैव उनके सामने हाथ व वे खडी रहती है। ऐसा सामर्थ्य व पद जिन ब्राह्मणो का है उनके कुल मे जन्म लेकर यदि मै धन-लोभ मे पड गया व इस अनर्थ रूप वन मे आसक्त हो गया तो फिर अब मेरे पतन का क्या ठिकाना रहा ?

"जो मनुष्य देव, ऋषि पितृगण, भूतगण, जातिवाले, कुटुम्बी और उस धन के अन्य भागियो को अपना धन बाटकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वय ही उसे भोगता है, वह यक्ष के समान धन की रक्षा करनेवाला कृपण पुरुष अवश्य ही अधोगति को प्राप्त होता है" ॥२४॥

मनुष्य यदि धन जोडे ही तो श्रेष्ठ बात यह है कि वह उसे धर्म-कार्य, परोपकार

सेवा-योजनाओ मे लगाये, देव-ऋषि, पितृगण, भूतगण, जातिवाले कुटुम्बी, आदि की सेवा-सहायता-पूजा मे लगावे। सबसे उत्तम है भगवान के अर्पण करना, अर्थात ईश्वर को समर्पण करके उसे भगवान की सम्पत्ति मानना व अपने को उसका महज रक्षक समझकर उसका उपयोग करना। या उसे समाज, राष्ट्र-सेवा के विविध कार्यों व आयोजनो मे लगाना। ऋषि ऊचे दरजे का प्राण-तत्व है, पहुचे हुए विद्वानो को, ईश्वर-दर्शियो को भी ऋषि कहते है। ऋषियो की सख्या, ऋषि-वृत्ति बढाना, ऋषियो द्वारा परिचालित सचालित सस्थाओ को, उनके रचे ग्रथ आदि को, उनके शिष्यो को, तरह-तरह से सहायता देना ऋषि-सेवा है। साधु-सन्तो, साधको, विद्यार्थियो के निर्वाह व उन्नति मे इसी तरह पितरो की स्मृति मे उनके अच्छे-अच्छे गुणो, सस्कारी सस्थाओ आदि को चलाने मे खर्च करना, पितृ-सेवा है। प्राणि-मात्र के हित-साधन मे, पशुओ के अस्पताल, शिक्षण, नस्ल-सुधार, अच्छा घास-दाना आदि विविध कार्यों मे धन लगाना भूत-सेवा है। प्राकृतिक बलो की खोज करने, उन्हे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जीव-मात्र के हित मे लगाना भी भूत-सेवा है। कुटुम्ब-सेवा-कार्य भी यह है कि पहले कुटुम्बियो को खिला-पिलाकर, उनके लिए समान, सुख व उन्नति के साधन सुलभ कर, फिर अपने लिए उस धन का उपयोग करना। जाति-सेवा का अर्थ है जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए दिल खोलकर धन व्यय करना, दीन, अनाथ, अन्धे, लगडे, लूले, बीमार, निराश्रित, असहाय, पीडित, पतित-दलित लोगो की उन्नति मे विशेष रूप से भाग लेना। जो इन कामो मे धन नही लगाते हैं, न खुद ही उसका उपभोग करते है, वे मानो यक्ष या प्रेत की तरह केवल धन को बटोरते मात्र है, जिसके फलस्वरूप वे अधोगति को प्राप्त होते है।

"मुझ उत्तम की अवस्था और बल-पुरुषार्थ, जिनसे कि विवेकी लोक-सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, धन-सचय की व्यर्थ चेष्टा मे नष्ट हो गये हैं। अब मै वृद्ध हो गया, क्या साधन करूंगा?" ॥२५॥

लेकिन मै तो धन के अभिमान मे उन्नत बन गया, धन कमाते-कमाते सारी जवानी बीत गई। परन्तु धन की हाय-हाय नही मिटी। जिस बल व पुरुषार्थ से विवेकी पुरुष अपना हित-साधन करते हैं, दूसरो की सेवा व उपकार करते है, उसी को मैंने धन-सग्रह मे लगाकर अपना सर्वनाश कर लिया। अब मैं बूढा हो चला क्या व कैसे अपना श्रेय साधूगा?

"विवेकी पुरुष धन की व्यर्थ तृष्णा से निरतर क्यो सन्तप्त होते है ? निश्चय ही यह ससार किसी की माया से अत्यत मोहित हो रहा है।" ॥२६॥

जब कि यह अर्थ इतने अनर्थ का हेतु है तब जो विवेकी, समझदार, ज्ञानवान समझे जाते है वे क्यो इस धन-तृष्णा से निरतर सन्तप्त रहते है। अर्थ को अनर्थ कहनेवाले ही जब अर्थार्थी देखे जाते है तब कहना पडता है कि यह ईश्वर की माया बडी विचित्र है। इसने ज्ञानी, पडितो को भी मोहित कर रक्खा है। सच पूछो तो यह सारा ससार ही किसीकी माया से विमोहित है।

मनुष्य देह नश्वर है। इसे काल के गाल मे पडा हुआ ही समझो। कब मौत आ जायगी, इसका ठिकाना नही, तब फिर मनुष्य ऐसे कर्म क्यो करे जो उसे फिर-फिर जन्म-मरण के चक्कर मे डालते है। मनुष्य जो कर्म कामना, वासना या भोगेच्छा से करता है उनसे उसे इस जन्म मे नाना दुख भोगने पडते है, व मृत्यु के पश्चात फिर जन्म लेना पडता है, अत ऐसे काम्य कर्मो से, उन कर्मो के साधन-स्वरूप उस धन से, या धन देनेवाले देवताओ की पूजा-उपासना से, कृपा से या ऐसी कामना-वासनाओ से लाभ ही क्या है ? काल के गाल मे फसे हुए मनुष्य का सुख-भोग के लिए नाना उद्योग वैसे ही व्यर्थ व हास्यास्पद है जैसे कि साप के मुह मे फसे हुए मेढक का मच्छर या मक्खी की ताक मे रहना, या उनपर झपटने का व्यर्थ प्रयास करना। परन्तु खेद है कि सज्ञान व विवेकी पुरुष भी काम्य कर्मो के चक्कर मे पडे देखे जाते है। तब मुझ-जैसे काम-मूढ की इतनी दुर्गति हो तो क्या आश्चर्य है ?

"अवश्य ही सर्व देवमय भगवान हरि मुझपर प्रसन्न हुए है, जिससे मै इस दशा को प्राप्त हुआ और ससार-सागर से अपनेको तारने के लिए मुझे यह नौका-रूपी निर्वेद हुआ है" ॥२८॥

लेकिन अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझपर भगवान का अनुग्रह हुआ है, क्योकि मुझे अपने पूर्व-जीवन पर मन मे बडा ही पश्चात्ताप व ग्लानि हो रही है। मुझे अब उस जीवन से घृणा हो गई है व सुख-भोग से जी ऊब गया है। ऐसा मालूम होता है, मुझ अभागे का भाग्य पलट रहा है। मेरा हृदय अधराग से परिपूर्ण था, उसमे अब विवेक-वैराग्य का तेज छिटकने लगा है, अब मुझे ऐसा भासित होता है कि विवेक ही मनुष्य की वास्तविक आखे है, व वैराग्य ही सच्चा ऐश्वर्य है, विवेक के बिना वैराग्य अन्धा है व वैराग्य के बिना विवेक पगु है। भगवान

ने ये दोनो जुडे फल एक ही साथ मेरे हृदय मे पैदा कर दिये है। भगवान की यह रीति ही है कि वह भक्त का चित्त अपनी ओर आकर्षित करने के लिए पहले उसका वित्त हरण करते हैं। वित्त त्याग के द्वारा उसे सूचित करते है व फिर विवेक-युक्त वैराग्य प्रदान करते हैं। यही कारण है जो उसने मेरा धन-रूपी पाप नष्ट करके मेरे हृदय मे ज्ञान-रूपी दीप का प्रकाश फैलाया है। यह वैराग्य तो मुझे ससार-सागर से तारने के लिए नाव का काम दे रहा है। अत अब मुझे विघ्न-बाधाओ की व कष्टो की चिन्ता न रही। जब खुद भगवान ही मुझपर कृपालु हुए है तो बेचारे विघ्नो व कष्टो की क्या मजाल जो मुझे आख उठाकर भी देख सके। देखो, धन-क्षय रूपी यह दु ख भगवान की कृपा से मेरे लिए अब सुखमय हो रहा है।

"अतः अब यदि आयु शेष रही तो अपने समस्त धर्म-साधनो में सावधान और चित्त में संतुष्ट रह मैं शेष समय मे तपस्या द्वारा अपने शरीर को सुखा डालूंगा" ॥२९॥

अत अब भी क्या बिगडा है? जितना भी जीवन बाकी है, उसमे अब मैं ससार की आशा, तृष्णा, भोग-विलास आदि के भावो को छोडकर भगवान के ही मार्ग पर चलूगा। सेवा, तप, शाति, सहन-शीलता की ओर अग्रसर होऊगा। यद्यपि शरीर मेरा बूढा हो चला है, परन्तु चित्त तो मेरा विवेक-वैराग्य-रूपी भगवत-प्रसाद मे फिर तरोताजा हो रहा है। अब यो समझो कि मैंने पुराना चोला ही छोड दिया। अब यह कोई दूसरा ही कदर्यु है—इसे अब भिक्षुक होना है। अब मैं ऐसी सावधानी रक्खूंगा कि कभी सुख-भोग, मोह, आसक्ति, पाप, तृष्णा मुझे फंसाने न पावे। इस अभावमय जीवन मे ही अपने चित्त को सब तरह सन्तुष्ट रखूगा। घोर तप से अपने सब पिछले दुष्कर्मो को भस्म कर डालूगा।

"तीनो लोक के नायक देवगण मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें। राजा खट्वाग ने एक मुहूर्त भर मे ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया था" ॥३०॥

अतएव हे देवगण, जो आप तीनो लोको के नायक है और समस्त इन्द्रियो के अधिष्ठाता है, मुझे इन्द्रिय-जय मे सफलता दे। जब वह त्रिभुवनो का स्वामी, अनत कोटि ब्रह्माण्ड-नायक कर्तु, अकर्तुं, अन्यथा कर्तु षड्-गुणैश्वर्य सपन्न भगवान खुद ही मुझपर अनुग्रहकारी हुए है तो फिर उसकी शक्ति या विभूतिरूप समस्त देवता क्यो न मेरी सहायता करेगे। राजा खट्वाग ने जब दो क्षण मे ही

परम सिद्धि—मोक्ष प्राप्त कर ली थी, तो मेरे जीवन के तो अभी बहुत दिन शेष हैं।

श्री भगवान् बोले—"वह अवन्ति-देश-वासी ब्राह्मण-श्रेष्ठ मन मे इस प्रकार निश्चय करके अपने हृदय की अहन्ता ममता-रूप ग्रंथियो को त्याग कर शान्त और मौन भिक्षु (सन्यासी) हो गया" ॥३१॥

श्री भगवान् ने कहा कि तब वह उज्जैन का ब्राह्मण ऐसा निश्चय करके अपनी साधना मे प्रवृत्त हो गया। अपने तपोबल से वह, जो अधम ब्राह्मण था, द्विजोत्तम हो गया। उसने कहा अपने दुखो का कारण मैं स्वय हू। काम, लोभ व धनाभिमान के कारण मुझे इतना दु ख सहना पड़ा। स्त्री-पुत्र, जाति-बन्धुओ ने मुझे उसी कारण छोड़ दिया। इसका मुख्य कारण मेरा धन-लोभ व देहाभिमान ही है। अत आज से अब उन्हे साष्टाग नमस्कार। अबतक तो सभी—पुत्रादि ने मुझे छोड दिया था, अब आपसे ही मैं उन्हे प्रणाम करता हू। अब तुमसे मेरा सबध वैसा ही रहेगा, जैसाकि चन्द्र का चन्द्र-बिम्ब मे है। शरीर का जो सबध छाया से है वैसा ही हमसे रहेगा। जवानी जैसे एक अवस्था के बाद शरीर को छोड़कर चली जाती है, वैसे ही तुमसे मैं अब सर्वथा अलग हो गया। या वसन्त जैसे वनश्री को छोडकर चला जाता है, वैसे ही मैंने तुम लोगो से अपनी सारी अहन्ता-ममता त्याग दी। ऐसा विचार करके वह जल मे कमल की तरह निर्लिप्त होकर रहने लगा। यो ही कहो न कि शान्त-चित्त सन्यासी हो गया, व अधिकाश मौन ही रहने लगा। काम क्रोध, अभिमान सब छोड दिया।

"मन, इन्द्रिय। और प्राणो का सयम करके वह सब ओर से अनासक्त हो पृथ्वी तल पर विचरने लगा। केवल भिक्षा के लिए ही अलक्षित भाव से अपनी उत्तमता प्रकट न करते हुए नगर या ग्राम मे जाता था" ॥३२॥

इस तरह अपने मन, इद्रिय व प्राणो का सयम करने के लिए वह सब ओर से अनासक्त हो पृथ्वीतल पर विचरने लगा। निर्वाह के लिए उसने भिक्षा का ही आधार ग्रहण किया। भिक्षा के लिए भी इस तरह जाना कि किसीको उसका आना-जाना सहसा न मालूम होना, खटकता नहीं। अपनी उत्तमता का किसी को पता नहीं लगे, इस तरह वह नगर व ग्राम मे भिक्षा के लिए जाता था। पहले जहा दिखावा प्रधान था, वहा अब छिपाव मुख्य हो गया। मनुष्य के पास जब पूजी थोडी होती है तो उसको दिखावा प्रिय होता है, जब अधिक हो जाती है तो

छिपाव। दिखावा इसलिए करना पडता है कि कही लोग टुटपूजिया न समझ ले। छिपावा इसलिए रखना पडता है कि लोग आदर, खुशामद न करने लगे, उनके मन मे ईर्ष्या-द्वेष न पैदा हो।

"हे भद्र, उस वृद्ध अवधूत भिक्षुक को देखकर कितने ही दुष्ट लोग उसका नाना प्रकार से अपमान करके उसे तग करते थे"॥३३॥

अब यह अवधूत-सा रहने लगा, घूमते-फिरते वह फिर उज्जैन आ पहुचा। उसका यह वेश देखकर उन लोगो को बडा आश्चर्य हुआ, जिन्होने उसका पूर्व जीवन देखा था। वे कहते—अरे यह वही कदर्यु ब्राह्मण है। अब—"घर सम्पत्ति नासी, मूड मुडाय भये सन्यासी"। वे एक दूसरे की ओर इशारा कर-करके उसकी दिल्लगी करने लगे। तरह-तरह का उपद्रव करने पर भी उसने उन लोगो पर किसी प्रकार क्रोध नही किया। लोगो ने उसकी जीविका का एकमात्र सहारा भिक्षा भी बन्द कर दी। बराबर अपमान करते, फिर भी वह उनका सम्मान ही करता था।

किसी भी परिस्थिति मे जिसके मन मे बिल्कुल क्षोभ न हो, सबको धीरज के साथ सहन कर ले, उसीके पास शाति है, ऐसा समझना चाहिए।

"कोई उसका दण्ड छीन लेता, कोई पात्र, और कमण्डल उठा ले जाता। कोई आसन, कोई अक्ष-माला, कोई कंथा और कोई उसके वस्त्र ले भागता"॥३४॥

वे तरह-तरह से उसे सताते। कोई उसको आस-पास घेरकर खडे हो जाते, व नमस्कार के बहाने उसको छू लेते। कोई उसका नाम, सप्रदाय, कब सन्यास लिया, किस गुरु से दीक्षा ली, आदि प्रश्न करके हैरान करते। कोई जन्मस्थान, पूर्व-आश्रम, पूर्व कर्म के बारे मे पूछते थे, तो कोई काम-काज व्यापार-धन्धे का हाल पूछते। कोई पूछता कि अभी कुछ पैसा-टका बाकी रख छोडा है या बिलकुल ही सन्यासी हो गये। कोई कहता, अरे भाई, इसको न छेडो—अब वेचारा कगाल हो गया है। इसका वैराग्य सच्चा है। बनावटी सन्यासी नही है। कोई कहता, अजी पूरा ढोगी है। इतना धन था तो अब कहा चला गया ? इसने त्रिदण्ड धारण करके लोगो को ठगने का और नया तरीका निकाला है। कोई कहता यह जो कई सतह की कथा है, इस सबमे अशर्फी भरी रक्खी है। कोई कमण्डलु खीच लेता, कोई दण्ड पकड लेता, कोई माला वस्त्रादि छीन लेता, कोई कहता—इसकी तरफ मेरा पुराना कर्ज बाकी निकलता है, अव आज पकड मे आया है। परन्तु इतना करने पर भी उसका मौन भग न होता व अपना धीरज नही छोडता।

"फिर उन्हे दिखलाते हुए देने लगते और पुन. उस मुनि से उन्हे छीन लेते। भिक्षा मांगकर जब वह बाहर नदी तट पर भोजन करने बैठता तो वे पापी लोग उसके ऊपर पेशाब कर देते और थूक देते। वह मौनी था इसलिए उससे कुछ बुलवाने की चेष्टा करते और उसपर भी यदि वह न बोलता तो उसे पीटते" ॥३५-३६॥

कोई छीने वस्त्र फिर से लौटाता तो कोई दूसरा फिर उनको छीन ले जाता। कोई कहता यह तो बडा शठ है, इसे जितना दण्ड दिया जाय, उतना ही पुण्य समझो। जब इस तरह कपडे छीन लिये जाते तो वह सन्यासी फिर भिक्षा मागने चला जाता और नदी तट पर जाकर भोजन करने लगता। तब भी वे लोग उसका पिण्ड नही छोडते थे। कहते थे यह सन्यासी तो वही कदर्यु नामक अपने ही गाव का ब्राह्मण है। हमे ठगने यहा फिर आया है। कोई उसका मौन तुडवाने के नाना उपाय करते, उसके कान मे चीख मारते, परन्तु वह शात ही रहता। जब वह खाने बैठता तो वे दुष्ट लोग उसपर थूक देते, पेशाब भी कर देते। इतने पर भी उसकी शान्ति भग नहीं होती थी, वह सारे उपद्रवो को चुपचाप बरदाश्त कर लेता था, जिस स्थिति मे वह स्थित था उसको जरा भी डावाडोल न होने देता था, तब वे उसे पीटने भी लगते थे।

"कोई-कोई 'यह चोर है', ऐसा कहकर उसको डाटते और कोई 'पकडो, बाधो' ऐसा कहकर उसको रस्सी से बाधते" ॥३७॥

कोई कहते यह चोर है, भिक्षा के बहाने चोरी करने की ताक मे रहता है। अत बाधो-बांधो कह कर उसे रस्सी से बांध देते थे।

"कोई निरादर-पूर्वक इस प्रकार कटु वाक्य कहकर उसकी निन्दा करते कि देखो यह दुष्ट अब कैसा धर्म का ढोग बनाये हुए है। धन नष्ट हो गया और घरवालो ने इसे घर से निकाल दिया है, तो अब इसने यह वृत्ति ग्रहण करली है" ॥३८॥

जो उसका पूर्व-जीवन जानते थे वे उसका निरादर करने के साथ कहते कि यह तो वही कदर्यु है। जब सब धन-सम्पत्ति चली गई तो कैसा धर्म का ढोंग बना रखा है। जब खाने को भी न रहा, स्वजनो ने भी छोड दिया, तब इसने सन्यासी का खूब हठवेश बनाया है। देखो तो, इसे अपने को सन्यासी कहलाते लाज भी नही आ रही। लोग समझते है, यह साधु है, पर यह तो बहुरूपिया है—'उदर निमित्त बहु कृतवेश।'

"देखो तो पर्वतराज के समान यह कैसा मोटा मुष्टण्डा अटल धैर्यवाला है। बगुलो के समान पक्का ढोंग रचकर यह गुपचुप अपना सब काम बना लेता है। इस प्रकार कहकर कोई उस ब्राह्मण की हँसी करता, कोई उसपर अधोवायु छोड़ता, और कोई तोता-मैना आदि पालतू पक्षियो की भाति उसको पकड बाध कर घर में बन्द कर देता" ॥३९-४०॥

देखो, हम इसे इतना सताते है, पर यह कैसा ढीठ व निर्लज्ज है कि मेरु के समान अचल होकर बैठा है। टस-से-मस नही होता। फिर मौन भी कैसा वगुले की तरह धारण कर रक्खा है! सरोवर पर जब श्री रामचन्द्रजी पहुँचे तो वहा बगुलो की पक्ति को देखकर मुग्ध हो गये। उन्होने लक्ष्मण से कहा, देखो तो यहा के बगुले भी बडे धार्मिक है। कैसे ध्यान लगाये बैठे है। इसपर एक मछली ने कहा—'आप तो सज्जन है, अत इन्हे बडा भक्त समझते है, पर हम इनके पड़ौसी है। पडौसी ही पडौसी की गत को जान सकते है। जिन्हे आप बड़ा धार्मिक कहते हैं, उन्होने तो एक-एक करके हमारे सारे कुल को खतम कर दिया है।' इसी तरह यह बगुला भगत बनकर हम लोगो को खाने आया है। इस तरह उसको तरह-तरह से सताने पर भी उसकी शाति भग न होती थी। कोई उसकी हँसी उडाते, नाक मे चूना लगा देते, मुह पर कालिख पोत देते, उसकी नाक के पास जाकर पाद देते, जिससे सारे बदन मे बदबू फैल जाती, परन्तु वह निज स्थिति से तिल-मात्र भी नही डिगता था। तब लोग साकल लेकर आते और जैसे हिरन, कुत्ते, तोता-मैना आदि पालतू पशु-पक्षियो को बाधकर रखते है, उसी तरह बाध देते थे। इस विडम्बना को देखकर सन्यासी कुपित होने के बजाय मन-ही-मन हँसता। वह अपने मन को समझाता कि प्रारब्ध के अनुसार यह देह-दण्ड मिल रहा है, नही तो इनकी मुझसे कौन-सी दुश्मनी है? अत मुझे इनपर क्रोध न करना चाहिए। यही नही, बल्कि ऐसी कोई भी बात न करनी चाहिए जिससे उलटा इनका चित्त दुखे। मेरी शाति, व मेरी साधुता की आखिर प्रतीति भी इन्हे कैसी होगी। इन्होने तो मेरा पूर्व जीवन देखा है अत ये मुझे बनावटी व ढोगी समझे तो कौन आश्चर्य? मुझे अनुद्विग्न रहकर सब तरह क्षमा व शाति का परिचय देकर इन्हे विश्वास करा देना है कि मैं तो अब सचमुच ही साधु हू।

"इस प्रकार भौतिक, दैविक और दैहिक दुःख जैसे-जैसे उसपर पड़ते उन सबको वह अपना अवश्य भोक्तव्य प्रारब्ध समझकर रहता" ॥४१॥

मनुष्य के कर्म तीन भागो मे बंट जाते हैं। पहले किये हुए कर्म सचित कहलाते हैं, जिनका फल-भोग आरम हो गया है, वह प्रारब्ध व जो किये जा रहे हैं, उन्हे क्रियमाण कहते हैं। उनके प्रभाव से कोई भी नही बच सकता। चाहे राजा हो, चाहे रक। इसी तरह दु ख भी तीन तरह के होते हैं—भौतिक, दैविक व दैहिक। पचभूत पृथ्वी-जल आदि द्वारा जो पीडा पहुचती है वह भौतिक। दैवी शक्तियो से जो दु ख आ पडते है वे दैविक और ज्वर, खासी आदि को दैहिक कष्ट कहते है। इन त्रिविध दु खो का कारण मनुष्य का प्रारब्ध होता है, अत अपने दु खो के लिए जो दूसरो को जिम्मेदार ठहराता है, उसे महामूर्ख समझो। प्रारब्ध कर्म के भोगो से हरि-हर भी नही छूट सके तो फिर औरो की क्या कथा ?

"तथा धर्म से गिरानेवाले उन अधर्मी लोगो से पीडित होने पर वह अपने धर्म मे सात्त्विक धैर्यपूर्वक स्थिर रहकर इस गाथा को गाया करता था" ॥४२॥

इस तरह वह सात्विक धृति को धारण करके दुर्जनो के उपद्रवो व उपहासो को सहन करता रहा। उसने उनसे सताये जाने पर भी अपना धर्म व अपनी निष्ठा को नही छोडा व मस्त होकर नीचे लिखी गाथा गाया करता था, जिनमे उसके मन को अपूर्व शाति व सुख मिलता था। इसमे मनुष्य के लिए शाति व सुख की कुजी बताई गई है। इसके गान व मनन से मनुष्य सहज ही द्वन्द्वो से छूट जाता है और सहज शात स्थिति को प्राप्त होता है।

ब्राह्मण कहता है—"ये स्वजन, देवगण, आत्मा, ग्रह, कर्म और काल आदि कोई भी मेरे सुख-दु ख के कारण नहीं है, इसका कारण तो एकमात्र मन को ही बतलाया जाता है, जो कि इस ससार-चक्र को निरन्तर चलाया करता है" ॥४३॥

यह जो दु ख मुझे हो रहा है और पहले जो सुख मैं पा रहा था, उसका कारण और कोई नही, स्वय मै—मेरा मन ही है। पूर्व जीवन मे मेरे मन ने ही अनेक वस्तुए बटोरी थी, जिनमे वह सुख मानता था। अब वे वस्तुए—वह परिस्थिति चली गई, बदल गई, जिससे दु ख की अनुभूति हो सकती है, परन्तु अब मेरे मन की दशा बदल गई है। मैं समझ गया हू कि सुख वस्तुओ मे, विषयो मे नही, अपने अन्दर है, अपने मन मे है। इसलिए प्रकटत दु खपूर्ण अवस्था होते हुए भी मै उसमे सुख अनुभव करने का प्रयत्न करता हू। सो अपने सुख-दु ख का कोई और बाहरी कारण नही, मनुष्य का अपना मन ही है।

कई लोग मानते है कि कोई दूसरा मनुष्य उनके सुख-दु ख का कारण है। पर यह पूरी तरह सच नही। दूसरा व्यक्ति उसका निमित्त हो सकता है, मूल कारण नही। मूल कारण तो हम स्वय ही है। हम जो फल पाते है, सुख-दु ख भोगते है, क्या वे केवल हमारे ही कर्म के फल होते है? हमारे माता-पिता, वन्धु, पुत्र, कलत्र, परिवार, इष्ट-मित्र, सगे-साथी आदि के कर्मो का प्रभाव हमारे जीवन पर नही पडता? यदि किसी बदमाश ने हमारे घर मे आग लगा दी तो उसके इस कर्म का फल मुझे नही भुगतना पडा? हो सकता है कि यह मेरे ही किसी अज्ञात या सुप्त कर्म का फल आज मुझे मिला हो, परन्तु प्रत्यक्ष तो उसीका कर्म है जो आज ही मुझे भोगना पडा। परन्तु इसे हम निमित्त कहेंगे। किन्तु हम ऐकान्तिक रूप से यह नही मान सकते कि मनुष्य सिर्फ अपने ही कर्म का फल पाता है, दूसरे का नही। वल्कि सच तो यह मालूम होता है कि हम सब परस्पर एक दूसरे के कर्म-फलो के भागी होते हैं। फिर चाहे उन्हे आप निमित्त कह लीजिए, चाहे प्रत्यक्ष।

किन्तु कदर्यु ब्राह्मण के मन की स्थिति अब ऐसी वन गई थी—वह अन्तर मे इतना पैठता चला गया था कि उसका मन ही नही होता था कि वह अपने दु ख का भागी अपने सिवा किसी और को माने या समझे। इस मान्यता से ही उसे दूसरो के दिये अनेक विघ्न-दु ख सहन करने की शक्ति मिलती थी। जब मनुष्य अपने कर्म का जिम्मेदार अपनेको ही मानेगा तो वह दूसरो को क्यो बुरा-भला कहेगा। खुद अपनेको ही कोसेगा। यही दशा इस ब्राह्मण की हो रही है। उसे अब यह महसूस होने लगा कि पहले मैंने जो लोगो को सताया था, उनके साथ दुर्व्यवहार किया था, उसीका यह फल मुझे मिल रहा है, तो दूसरो के प्रति सहनशीलता तथा अपने प्रति कठोरता उसके मन मे होने लगी। यह सब परिशोध की प्रक्रिया है। जवतक मनुष्य अपने कष्टो व दु खो का जिम्मेदार दूसरो को ठहराता है तवतक वह उनसे शिकायत रखता है, लडता है और खुद को वरी समझता है। फल यह होता है कि दूसरे उसे मूर्ख, अज्ञानी, घमण्डी, समझते है और समय पडने पर कठोर व्यवहार भी करते है, जिनसे उसे दु ख व कष्ट होता है। परन्तु जैसे ही मनुष्य समझने लगता है कि मेरा दु ख मेरी ही क्रिया का फल है, तो वह दूसरो के प्रति सहनशील, उदार, क्षमाशील होने लगता है और अपने प्रति की गई उनकी कठोरता उसे वाजिब व उचित लगने लगती है। वह मानने लगता है वे जो कह रहे है वह

न्याय ही है। ऐसा ही मानसिक धरातल ब्राह्मण का हो गया था, जो अब भिक्षु के रूप मे रहने लगा था।

कुछ लोग समझते है कि देवी-देवताओ के कोप से यह दु ख आता है, पर यह भी ठीक नही। देवी-देवताओ को अपने-आप तो किसीसे खुश और किसीसे नाराज होने का कारण नहीं। जब मनुष्य ही बिना किसी कारण के सहसा किसीसे खुश या नाराज नही होता तो देवता तो फिर उससे ऊची श्रेणी के है। वे क्यो अकारण किसी को कष्ट देने लगे ? अलबत्ता हमारे कर्मो का ही लेखा-जोखा वे रखते है और समय-समय पर उसका फल, सुख या दु ख के रूप मे, देते रहते है। देवी-देवताओ मे मनुष्य से अधिक अद्‌भुत, अपूर्व शक्तिया मानी गई है। देवी-देवता भी आखिर क्या है ? एक परमेश्वर की भिन्न-भिन्न अनेक शक्तियो के नाम है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन सबसे बडे देवता है। ये भगवान की ही तीन महान शक्तियो के ही नाम-रूप है। सृजन-शक्ति को ब्रह्मा, पालन-शक्ति को विष्णु और सहार या विघटन-शक्ति को महेश कहा है। ये पुल्लिगी नाम है—स्त्रीलिगी नाम है सरस्वती, लक्ष्मी, काली। भक्त भगवान को अपनी रुचि और भावना के अनुसार पुरुष या नारी रूप मे देखता है और उसीके अनुसार जो नाम-रूप उसे प्रिय, इष्ट होते है उन्हीको अपना लेता है। पुल्लिगी देव और स्त्रीलिगी देवी कहलाती है।

ये देवी-देवता मनुष्यो को उसके कर्म के अनुसार ही फल देते है। अपनी तरफ से कुछ मिलाते नही है, लेकिन मनुष्य नासमझी मे उनको निमित्त या कर्ता मान लेता है। इससे वह वास्तव मे सुख की राह नही पकड सकता। जब वह अपने दु ख-सुख का कारण अपने मे ही खोज लेता है तो उसे एक प्रकार की शाति, समाधान मिलता है और खुद दु ख को भी सुख का ही एक रूप मानने लगता है।

ब्राह्मण ने कहा कि यह शरीर भी मेरे सुख-दुख का कारण नही। कुछ लोग कहते है—यह शरीर, इसकी इन्द्रिया ही तो कर्म करती है। अत सुख-दु ख की जिम्मेदारी शरीर-इन्द्रियो पर है। परन्तु कदर्यु समझ गया कि शरीर या इन्द्रिया स्वय कुछ करने-कराते नही। अगर प्राण इनमे नही है तो ये बेकार है। प्राण-विहीन मुर्दा क्या कुछ करेगा ? फिर केवल प्राण होने से ही काम नही चलता। प्राण शरीर को सचालित मात्र करता है। उससे हाथ, पाव, नाक आदि चलने, काम करने लगते है—एक यत्र की तरह बिना सोचे-समझे। मनुष्य मनुष्य जो कहलाता है सो केवल प्राण-शक्ति के कारण नही, बल्कि मन-बुद्धि के कारण।

मन प्राण को प्रेरणा देता है तब प्राण-शक्ति से शरीर मे रुधिर दौडने लगता है और इन्द्रिया वेग से काम करने लगती ह। इसी मन मे अच्छा-बुरा सोचने और समझने की ताकत है, जिसे वुद्धि कहते है। यह वुद्धि ही अच्छे-बुरे कर्म का निर्णय करती है। तो फिर केवल शरीर हमारे सुख-दु ख का कारण कैसे हुआ ?

कुछ कहते है—भाई क्या करे ग्रह-दशा का फेर है। ग्रहो मे बडी शक्ति है, इसमे कोई शक नही। आकाशस्थ कुछ ज्योति-पिण्ड ग्रह कहलाते हैं, कुछ नक्षत्र। उनकी ज्योतियो का—किरणो का प्रभाव जगत पर और इसलिए मानव-मात्र पर पडता है, इससे कोई इन्कार नही कर सकता। सूर्य और चन्द्रमा के उदय-अस्त और यात्रा का प्रभाव हमपर स्पष्ट प्रतीत होता है। दिन-रात और उनके प्रभाव के लिए अलग से प्रमाण देने की जरूरत नही है।

हम जिस भावना से जो कर्म करते है, उसका प्रभाव वायुमण्डल मे, आकाश मे रहता है। सृष्टि के सूक्ष्म परमाणु उन्हे ग्रहण करते रहते है और इन ज्योति-पिण्डो तक पहुचाते रहते है। इधर इन ज्योति-पिण्डो के प्रभाव हम तक पहुँचते रहते है। इस प्रकार हमारे और ज्योति-पिण्डो के बीच परस्पर प्रभावो और परिणामो का यह आदान-प्रदान चलता रहता है। इसी रूप मे उनसे हमारा सबध और सम्पर्क सतत बना रहता है। तो हम एकान्तिक रूप से अपने सुख-दुखो अर्थात् कर्म-फलो का जिम्मेदार उन ग्रहो को नही मान सकते है। बल्कि यो कहना होगा कि हम अपने शरीर-मन की गुण-धर्मानुसार शक्ति या प्रभाव उनसे खीचते, पाते या ग्रहण करते है। अलग-अलग वस्तुओ, मनुष्यो पर इन ग्रहो का, इनकी शक्तियो का अलग-अलग प्रभाव क्यो पडता है ? सूर्य की अनेक किरणो का एक-सा ही प्रभाव सारे ससार पर, उसकी वस्तुओ और प्राणियो पर क्यो नही पडता ? जिस वस्तु या प्राणी मे जो अपना गुण-धर्म होता है, इसीके अनुसार वह विश्व की या ब्रह्माण्ड की इन शक्तियो से प्रभाव ग्रहण करता है। यह प्रत्यक्ष प्रकट है। हमने अपने अन्दर जो गुण-धर्म पाये हैं, जिन्हे हमने सचित किया है, क्या उनके लिए हम उत्तरदायी नही है ? अत प्रधान रूप से यही कहना होगा कि ग्रह हमारे कर्मों के जिम्मेदार नही है। वे बहुताश मे हमारे कर्मों के अनुसार ही हमे फल प्रदान करते है। और हमारे कर्मों से ही उनके प्रभावो मे परिवर्तन भी होता है। सो हम जो कुछ हैं, वह महज ग्रह-कर्म के कारण नही, मुख्यत स्वकर्म के कारण है।

कोई कहते है—यह तो समय का फेर है।

"नारायण सुख दुख उभय
भ्रमत फिरत दिन रात।
बिन बुलाय ज्यो आ रहे
बिना कहे त्यो जात॥"

तो फिर क्यो चिन्ता-फिकर मे पडते है? सुख-दुख अपने-आप बिना बुलाए, भगवान की रचना के अनुसार आते-जाते रहते है। जैसे आते है, वैसे ही चले जाते है। मन की शाति के लिए वैसे यह भाव और हमारा आचार अच्छा है। परन्तु सच पूछा जाय तो समय या काल भी क्या है। एक काम और दूसरे काम के बीच का जो अवकाश है, जन्म और मृत्यु के बीच की जो यात्रा है, वही तो काल है न? सृष्टि के उत्पन्न होने और प्रलय के बीच की जो अवस्था है वही तो काल है न? जन्म, बचपन, जवानी, बुढापा, मृत्यु—ये अवस्थाए ही तो काल है न? केवल मृत्यु ही 'काल' नही है। ये अवस्थाए सृष्टि-नियम के अनुसार आती-जाती है। ये प्राणि-मात्र, मनुष्य-मात्र पर लागू होती है। सभीपर इनका प्रभाव पडता है। फिर किसीपर कम और किसीपर ज्यादा क्यो? बसन्त मे लताए-वृक्ष फूलते है। क्या सब मनुष्यो पर उसका एक-सा प्रभाव पडता है? एक नव-विवाहित दम्पती जिस चाव, रुचि, आकाक्षा, मधुरता और प्यार से बसन्त के कुसुमित लता-पौधो को देखता है, क्या जिसके घर मे युवा व्यक्ति की मौत हो गई है, वह भी उसी दृष्टि से देखता है? बसन्त वही है, पर प्रभाव दोनो पर जुदा-जुदा है। यह भिन्न कर्मो और उनसे उत्पन्न परिस्थितियो का प्रभाव है, न कि स्वतत्र रूप से काल का। अत काल को भी पूर्ण रूप से हम मनुष्य के सुख-दुख का कारण नही मान सकते। ऐसा निश्चय भिक्षु ब्राह्मण के मन मे हो गया। तब फिर कौन इसका जिम्मेदार ठहरता है? भिक्षु मान गया कि स्वय मै, जो सर्वदा मन से सचालित हू वही, इसका जिम्मेदार हू। मेरे शरीर को ही नही, सारे ससार को यही मन सचालित करता है। जैसे एक व्यक्ति को उसका मन सचालित करता है, वैसे ही इस जगत को सृष्टि या परमेश्वर का महामन सचालित करता है। यह सारा ससार-चक्र मन ही का खेल है। विश्व-मन से उसके सकल्प से ही यह सृष्टि बनती-बिगडती रहती है। सृष्टि स्वय भी विश्व या परमात्मा के मन का सकल्प ही है। अत जो कुछ है, वह मन ही है वही हमारे सुख-दुख का जनक है।

"यह अति बलवान मन ही गुणो की वृत्तियो को उत्पन्न करता है। उन्ही-

से सात्विक, राजस और तामस नाना प्रकार के कर्म होते है तथा उन कर्मों के अनुकूल ही जीव की विविध गतियां होती हैं" ॥४४॥

"चेष्टा करनेवाले मन के साथ उसके नियन्ता-रूप से वर्तमान होने पर भी यह आत्मा निरीह (निष्क्रिय) है। यह हिरण्यमय (विद्या-शक्ति-प्रधान) और मुझ जीव का सखा है तथा अलुप्त ज्ञान से केवल देखता रहता है। यह अपने द्योतक मन को ग्रहण कर नाना प्रकार के भोग भोगता हुआ गुणो (कर्मों) के सग से बधा रहता है" ॥४५॥

भिक्षु फिर मन की महिमा बखानता है। मन बहुत ही बलवान है। वह केवल शरीर और इन्द्रियो को सचालित ही नही करता, उनमे इतना वेग भर देता है कि सभाले नही सभलता। सारे शरीर को यहासे वहातक झकझोर देता है। विषय सामने न हो तब भी मन से उनकी सृष्टि करता रहता है। सफेदा आम या अगूर सामने या हाथ मे नही है, फिर भी मन से वह उनका स्वाद ले लेता है। विषय के प्रत्यक्ष होने की जरूरत नही है। वह मन मे विषयो की खुद ही सृष्टि भी कर लेता है। जिन कारणो को लेकर विषयो का निर्माण होता है, उनकी भी सृष्टि वह करता रहता है। नारी को लेकर भोग का या शृगार का विषय निर्मित हुआ तो यह मन अनेक सुन्दरी, सम्मोहनी नारियो का सर्जन कल्पना से और कल्पना मे कर लेता है, ऐसा अपार शक्तिशाली है। फिर यदि विषय आ गया तो वृत्ति को उसके अनुकूल बना लेता है। मन को उसमे ऐसा रमा लेता है कि मालूम नही पडता कि मन विषय-वृत्तियो से अलग है। तीनो एक रस हो जाते है।

जब वृत्ति इतनी तन्मय हो गई तो फिर कर्म की इयत्ता ही कैसे रहेगी। वृत्ति के अनुसार नाना प्रकार के कर्म होते हैं। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ सभी प्रकार के। सात्विक, राजस, तामस के प्रकार और भेद की न सीमा रहती है न अन्तर। मन की कल्पनाओ का कोई पार है? अनन्त कल्पनाए, अनन्त कर्म और अनन्त ही उनके फल, एव अनन्त ही सुख-दु ख। तालाब मे एक ककरी फेको तो उसमे से अनन्त लहरिया पैदा होती हैं। यदि अनन्त ककरिया फेकी जाय तो फिर लहरो का हिसाब कौन लगा सकेगा? यही हाल मन की शक्ति और विविधता का है। इसीसे जीवन की विविध गतिया होती है।

पहले मन के सुख-दुख का कारण बताया, फिर उसकी शक्ति का वर्णन किया। विविध व्यापार बताया। अब मन का मूल स्वरूप आत्म-रूप बताते है। कहते

है—समस्त चेष्टाएं मन का ही खेल हैं और मन भी आखिर क्या है? आत्मा की ही एक अभिव्यक्ति, एक रूप, एक अंग है। आत्मा से जुड़ा हुआ है, पर आत्मा निष्क्रिय, मन सक्रिय है। आत्मा को एक जल-प्रवाह, जल-धारा समझिए। यह कई भागों में बंट गई, ऐसा मानिये जैसे—

अ	व	क
'अ' तक आत्मा	'व' तक जल	'क' तक वर्फ

'अ' को 'व' का सूक्ष्म, अव्यक्त रूप समझिए। अर्थात जल बनने से पहले जो सूक्ष्म परमाणु बिखरे हुए थे, जो आंखों से दिखाई नहीं देते थे, उनके सम्मिश्रण से जब जल बना तो वह व्यक्त हुआ। अर्थात सूक्ष्म आत्मा मन बन गया। जल में गति आई। मन चंचल हुआ—संकल्प-विकल्प करने लगा। यह आत्मा की ही लकीर या धारा का आगे का विकसित अंग हुआ। आत्मा दिखाई नहीं देता, मन के कुछ लक्षण प्रकट हुए, जिससे उसका भास (प्रतीति) अनुभव होने लगा। बीज में कल्ले निकले ऐसा समझिए। कल्ला बीज में छुपा हुआ था—नजर नहीं आता था, अब सामने आ गया।

जल के बाद 'व' से 'क' तक वर्फ जमा। यह भी जल ही है—जल तरल था, यह घन बन गया। जल और बर्फ के परमाणु एक ही हैं, सिर्फ तापमान के फेर में एक तरल रह गया, दूसरा जम गया। तापमान, ज्यादा करने से बरफ फिर जल बन जाता है। इस तरह मन के आगे बुद्धि का विकास होता है। मन तरल-चंचल है। बुद्धि स्थिर, जमी हुई है। मन की उछल-कूद का कोई हिसाब नहीं। बुद्धि का एक नियम है—वह मन की चंचलता में से, संकल्प-विकल्प में से, एक निर्णय करती है। उसका एक माप है, उससे वह अच्छे-बुरे का, उचित-अनुचित का, न्याय-अन्याय का कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करती है। इससे मनुष्य का आगे का मार्ग निश्चित, संतोषप्रद हो जाता है। मन की आगे बुद्धि है। मन अन्धा है, बुद्धि देखकर चलती है। यहांतक हमने तीन शब्दों पर—आत्मा, मन, बुद्धि पर विचार किया। यों देखने में ये अलग-अलग हैं, पर वास्तव में एक ही जलधारा के अवस्था-भेद से तीन नाम हैं। एक ही आत्मा मन, बुद्धि के रूप में विविध दिखाई देता है। एक ही स्फटिक में तीन रंग, एक सूर्य में सात रंग जैसे दिखाई देते हैं।

साधारण तौर पर हम जल को सक्रिय, उसके सूक्ष्म रूप को निष्क्रिय कहेगे। इसी तरह आत्मा अक्रिय, अलिप्त और मन सक्रिय माना जाता है। सूक्ष्म और स्थूल दो भेद मान लिये। चेतन और जड दो विभाग हो गये। सूक्ष्म-चेतन को निष्क्रिय सत्तामात्र और स्थूल जड प्रकृति को क्रियावान मानते है। वास्तव मे सब ही आत्मा—चेतन के स्थूल रूप है। आत्मा ज्ञान-शक्ति प्रधान है। आत्मा चेतन है, उसे कैसे पहचाने? चेतन वह जिसमे, हलचल हो, चलन-वलन हो। यह जीवन का, शक्ति का चिह्न है। उसमे ज्ञान का भी आधिक्य माना जाता है। वह सव कुछ जानता है। ज्ञान का आदि स्रोत, मूल है। ससार मे ज्ञान कहा से आया? मूल चेतन तत्व आत्मा मे यदि उसकी स्थिति गुप्त, सुप्त या लुप्त नही है तो स्थूल विश्व मे वह कहाँ से आ गई? अत वह ज्ञान शक्ति-प्रधान है। मै, जो जीव हू, उसका सनातन साक्षी है। सहसाथी भी है। सखा है, अभिन्न है। आत्मा जव आकार या शरीर मे बध जाता है तो जीव कहलाता है। वह अपने अन्तः-प्रज्ञान से सबकुछ देखता रहता है। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति मन के द्वारा ही होती है। आत्मा की स्थूल अभिव्यक्ति का पहला साधन मन ही है। आत्मा जब मन-रूप होता है तो विषयो के सम्पर्क मे आकर उनका भोगी बन बैठता है। इस तरह कर्म मे लीन होता है। अति लीनता से आसक्ति के पाश मे बध जाता है।

"दान, स्व-धर्म (वर्णाश्रम धर्म) नियम, यम, वेदाध्ययन कर्म एवं शुभ व्रत इन सबका अन्तिम फल मनोनिग्रह ही है और निग्रह ही मन का परम योग है" ॥४६॥

तो इस महान शक्तिशाली मन से कैसे काम लें? इसका क्या करे? शक्ति एकाग्रता मे है। बिखरी हुई क्रियाए जब एकाग्र, एकत्र होती हैं या की जाती हैं तो उनमे वेग, बल बढ जाता है। पानी एकत्र होकर छूटता है तो वेग से बहता है। यह हमारे दैनिक अनुभव की बात है।

अत. मन को एकाग्र करना आवश्यक है। पर एकाग्र किसमे, कहा किया जाय? अच्छाई मे या बुराई मे? सभी कहेगे, अच्छाई मे, अच्छे कामो मे। श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि दान, धर्म, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ व्रत—ये वे अच्छे काम है जिनमे मन को लगाना चाहिए। समय-समय पर युगधर्म के अनुरूप अच्छे, आवश्यक उपयोगी कामो का रूप, व्याख्या बदलती रहती है। श्रीकृष्ण के समय मे या भागवत की रचना के समय मे पूर्वोक्त काम अच्छे और समाज के लिए आवश्यक समझे जाते थे, अतः उन्होने

इन्हींकी ओर संकेत किया। आज की, समय की, युग की आवश्यकता को देख-कर हम नये कार्यों का प्रतिपादन कर सकते हैं। बापू—गांधीजी के बताये रचनात्मक कार्य या विकास-कार्यक्रम में मन को एकाग्र किया जा सकता है। मन का एकाग्र होना, समाहित होना जरूरी है। यह परम योग है। भिक्षु ब्राह्मण ने यह अन्तिम निर्णय अपने लिए कर लिया था। और मन को साधने में लग गया था। अब वह समाहित चित्त की महिमा बताता है।

"जिसका मन शान्त और समाहित है, बतलाओ उसको दान, आदि कर्मों की क्या आवश्यकता है? और जिसका मन असंयत होने कारण (आलस्य तथा विषय वासनादि से) नष्ट हो रहा है, उसको इन दान आदि शुभ कर्मों से लाभ ही क्या है?" ॥४७॥

ये जो दान आदि कर्म ऊपर बताये हैं, इनमें मन शुद्ध होता है। जो कर्म अपने लाभ—स्वार्थ के लिए किये जाते हैं, उनमें स्वार्थसिद्धि के साथ-साथ स्वार्थ भाव भी बढ़ता है। जब स्वार्थ बढ़ता है तो दूसरों के हित या लाभ दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। यहीं से दोष, अशुद्धि, बुराई की शुरुआत हुई। लेकिन जब स्वार्थ साधने में इस बात का सदैव ध्यान रखते है कि इससे दूसरों के स्वार्थ में बाधा तो नहीं पड़ी, दूसरे को कष्ट देकर तो हम अपना स्वार्थ नहीं साध रहे हैं? तो हमारा स्वार्थ अपनी सीमाओं में रहता है। लेकिन अक्सर मनुष्य इस सीमा को भूल जाता है। इसलिए दान की व्यवस्था की गई है। जो कुछ उसने अधिक पा लिया है, अपनी आवश्यकताओं से अधिक है, उसे दान कर देना चाहिए। लेने के बजाय देने की ही वृत्ति बना लेनी चाहिए। यह सोचना चाहिए कि आखिर जो हमें मिला है, वह आया कहां से? समाज से और सृष्टि से ही हमें मिला है न? क्या समाज या सृष्टि हमारी बपौती है? हमने कमाकर या बनाकर रख दी है? न जाने किन-किन के हाथ, शक्ति, साधन इनके निर्माण में लगे हैं। हम उन सबके उपकृत—आभारी हैं। दान इस आभार प्रदर्शन का ही एक उत्तम रूप है। जब यों सोचते हैं तो मन के स्वार्थ आदि विकार छूटने लगते हैं। उसमें शांति, स्थिरता, समता पैदा होने लगती है। दूसरी सब बातों से मन को हटाकर जब हम एक ही वस्तु में लगाते हैं तो अपने-आप उनके दूसरे विचार कम आते हैं। और इसलिए कर्म भी कम होते हैं। तो हम जो भी कर्म करते हैं उनमें शक्ति, बल और आवेग आ जाता है, और जब एक ही वस्तु में मन लगाता है तो फिर भगवान में ही क्यों न लगाये?

ससार की प्रत्येक वस्तु एकागी, अपूर्ण है। एक खूबी उसमे मिलेगी तो एक कमी। क्योकि एक सम्पूर्ण परम वस्तु या तत्व के ये बिखरे हुए भाग है। अत' सब अपूर्ण है। सो अपूर्ण मे मन लगाने से अपूर्ण की ही प्राप्ति होगी। उसीमे हम तन्मय होगे—उसीका सुख लाभ होगा। यह अधूरा लाभ, सिद्धि हुई जो पूर्ण और अखिल की दृष्टि या अपेक्षा से कम, सहायक होती है। अत हम सम्पूर्ण मे ही जिसे हम भगवान या परमेश्वर कहते हैं, मन क्यो न लगावे ? इससे हमे सभी वस्तुओ, भावो, गुणो की प्राप्ति—सिद्धि लाभ होगा, परमपद मे हमारी स्थिति होगी। इस विधि से हमे समस्त सत्कर्मो का मानो फल मिल जाता है। जब सम्पूर्ण परमात्मा को पा लिया तो अब और क्या बाकी रहा ? और जब मन को यह सतोष मिल जाता है कि मुझे अब और कुछ करना शेष नही है, तो वह इतना निर्द्वन्द्व, निश्चित, शान्त, समाहित, अक्षय, सन्तुष्ट, सुखी रह सकता है—इसकी सहसा कल्पना नही हो सकती है। परमात्मा की अनन्तता, सपूर्णता की तरह वह सुख-सिद्धि भी अनन्त और सम्पूर्ण होगी। इसी स्थिति को मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दो से अभिव्यक्त किया गया है। इसके विपरीत जिसने अपना मन पूर्ण मे नही, अपूर्ण मे लगाया या किसी मे भी नही लगाया, कोई दान आदि सत्कर्म नहीं किया, वह उस घोडे की तरह निष्फल रहा जो दिन भर जगल के चारो ओर दौडता रहा और सवार को न जाने कहा फेंककर थका-मादा बेहाल घर लौटता है।

"अन्य देवगण (इद्रिया भी) मन के ही वश में है। मन उनमें से किसी के वशीभूत नहीं है। यह बलवान से भी बलवान, अति भयंकर देव है। जो इसको अपने वश मे कर लेता है वही देवदेव (इन्द्रियो को जीतनेवाला) है" ॥४८॥

शरीर, इन्द्रिया और मन सब एक दूसरे से सबधित है, परस्पर प्रभाव डालते है। जीवात्मा मन के माध्यम से इन्द्रियो से—शरीर से काम लेता है। यदि मन, शरीर, इन्द्रिया न हो तो कोरा चेतन आत्मा कुछ नही कर सकता। अत यदि मन, शरीर, इन्द्रियाँ अशुद्ध, अस्वस्थ, अशक्त हो तो जीव या आत्मा का कार्य भी उसी अश मे कम या अपूर्ण रहेगा। इस तरह मन आदि जीव के कार्यक्रम को प्रभावित करते है। जीव का प्रथम साधन मन है, जो शरीर और इन्द्रियो से कही बलवान है। यह हमे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए कहते है कि इन्द्रियो की किसी कमी के कारण उसके काम और प्रभाव मे कमी भले ही आ जाय, पर जब मन प्रक्षुब्ध होता है—वह किसी भयकर देव से कम नही होता। न आगा देखता है,

न पीछा। न बलात्कार मे हिचकता है, न खून मे, न अपना ही सर्वनाश करने मे। अत जो उसे वश मे कर लेता है, उसीको देव कहना चाहिए। वही सचमुच मे इन्द्रियो का विजेता होता है। इन्द्रियो का दमन करने से मन वश मे नही होता। इन्द्रिया अलबत्ते निर्बल हो जाती है, जिसे हम भूल से इन्द्रिय-जय मान लेते है। निर्बल इन्द्रियो मे मन पूरा काम नही ले सकता—अत निराश होकर थक जाता है। इसे मनोजय नही कह सकते है। मन को थकाने मे इन्द्रिय-दमन सहायक जरूर होता है—फिर थके मन को आप वश मे करना चाहते है तो कुछ अश तक यह उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार हम एक हाथी को खाई मे गिराकर कमजोर करके वश मे करना चाहते है। ऐसा वश मे किया हुआ हाथी जैसे छोटे-से लोहे के टुकडे अकुश से डरता है और फिर शराब पिलाकर, मदोन्मत्त करके उसे लडाई के लिए आगे खदेडना पडता है, वैसे ही मन की दशा हो जाती है। क्या इस प्रक्रिया को हम स्वस्थ कहेगे ?

अत इन्द्रियो को भूखा मारकर नही बल्कि स्वस्थ, सात्विक खुराक देकर मन को निर्बल नही, सात्विक बनाने का उपाय करना चाहिए। इस तरह शरीर और इन्द्रियो को सात्विक बनाकर मन को समाहित करने से जहा मन का बल और शक्ति क्षीण नही होती है, उसका दुरुपयोग भी रुक जाता है। यह दुहेरा लाभ होता है। इसीको इन्द्रिय-जय या मनोजय कह सकते है।

"इस दुर्जय, असह्य वेग और मर्मभेदी शत्रु को न जीतकर कितने ही मूढ लोग इस ससार मे अन्य मनुष्यो के साथ व्यर्थ कलह करके उन्हे अपना मित्र, शत्रु, अथवा उदासीन बना लेते है" ॥४९॥

"इस मनोमात्र देह मे अन्ध-बुद्धि लोग ममता और अहन्ता से 'यह मैं हूँ' और 'यह दूसरा है' इस प्रकार का भेद-भ्रम करके अनन्त अज्ञान अधकार मे पडे भटकते रहते है" ॥५०॥

"यदि कोई मनुष्य सुख-दु ख का हेतु हो भी तो उसमे आत्मा का क्या सबध ? वह सुख-दु ख तो पृथ्वी के विकार भूत (अपने और दूसरो के) देहो को ही होता है। यदि कोई (भोजनादि के समय) अपने ही दातो से अपनी जीभ काटले तो उस वेदना के लिए किसपर कोप करें ?" ॥५१॥

अब यहा मन के कृष्ण-पक्ष का वर्णन करते है। मन एक महान शक्ति है, जिसे अच्छे काम मे भी लगा सकते है, बुरे मे भी लगा सकते है। वह घनिष्ठ मित्र

का भी काम दे सकता है और महान शत्रु का भी। वह तै[illegible] है [illegible] मोड दो उधर ही दौड पडता है। यदि इसे विवेक के आधीन नहीं [illegible] तो [illegible] शत्रु वन कर ऐसा आक्रमण करता है कि रोके नही रुकता, केवल वाहरी शरीर को ही नही झकझोरता, वल्कि भीतरी मर्मस्थलो को भी वेध देता है। ऐसे तीखे और कटु वचन सुनाता है कि घोर मानसिक वेदना होती है। ऐसे जघन्य कृत्य करता है कि अपने-आप पर घृणा और ग्लानि होने लगती है। अत सदैव इसे मित्र वनाए रखने, विवेक-विचार के अधीन रखने का ही प्रयत्न करना चाहिए। समझदार लोग ऐसा ही करते हैं और करेगे। किन्तु जो इसपर ध्यान नही देते उन्हे मूर्ख ही कहना होगा। मन को खुला-छुट्टा छोडकर वे दूसरो से व्यर्थ ही झगडा-वखेडा मोल लेते है। इस तरह यह हमारा मन ही दूसरो को हमारा मित्र, शत्रु या उदासीन वनाने का कारण होता है।

मनुष्य दो तरह से कर्म मे प्रेरित होता है, एक तो सहज प्रेरणा से, सस्कारगत स्फूर्ति से, अन्त ऊर्मि से, दूसरे, वुद्धि-ज्ञान-पूर्वक। सदा-सर्वदा वुद्धि-विवेक के द्वारा कर्म करनेवाले थोडे और विशिष्ट लोग होते है। साधारण मनुष्य मे न इतनी वुद्धि होती है और न वे सदैव वुद्धि से ही काम लेते हैं। नाना विकारो मे भूले रहते है और प्राय उन्हीके प्रभाव से जीवन मे अनेक कर्म करते है। जो सुकर्म और कुकर्म दोनो प्रकार के होते हैं। वुद्धि का काम मन को प्रकाश देना है। कर्त्तव्य-मार्ग दिखाना है। सत् और असत् का वोध कराना है। साधारण मनुष्य अपनेको 'मैं' और 'मेरा' मे खोया रखता है। वुद्धिमान मनुष्य 'मैं' और 'पर' के भेद को दूर करता है। या तो मैं को इतना वडा, विस्तृत, विशाल, व्यापक वना लेता है कि 'पर' जैसा कुछ रह नही जाता, या 'पर' को इतना सकुचित, सीमित वना लेता है कि वह 'मैं' मे समा जाता है। या तो सव कुछ 'मैं' ही रह जाता है, या सव कुछ 'पर' ही हो जाता है। दोनो शव्द अलग रहते है, पर उनका अर्थ एक ही हो जाना है—जैसे 'शून्य' और 'पूर्ण' शव्द भिन्न-भिन्न है, परन्तु अर्थ एक ही है। किन्तु जव तक मनुष्य यह 'स्वय' 'पर' का भेद मिटा नही पाता, तव तक वह एक प्रकार मे भ्रम और अन्धकार के ही पथ पर चलता है। और इसलिए सुख-दुख के झोके खाता रहता है। वुद्धि का परिणाम ज्ञान है और ज्ञान का अर्थ है 'स्व'-'पर' को दो नही समझना, एक ही मानना, एक ही सिक्के के दो पहलू मानना। इस ज्ञान के आश्रय मे हमे अपने मन को एकाग्र और समाहित करना चाहिए।

भिक्षु ने मन को ही सुख-दुख का कारण माना है। परन्तु दलील के लिए कहता है—अच्छा मनुष्य को ही, उसके शरीरादिक को ही, सुख-दुख का कारण माने, तो उससे आत्मा का क्या सम्बन्ध? देह को आत्मा से भिन्न कहकर यह समझाने का, अंकित करने का प्रयत्न किया है कि यदि मनुष्य या मानव-शरीर को सुख-दुख हो भी, तो आत्मा पर उसका क्या प्रभाव? आत्मा उससे क्यों परेशान हो? शरीर सुख-दुख भुगत कर रह जायगा। शरीर मिट्टी से बना है, जबकि आत्मा चेतन-तत्व से। जो हमे सुख-दुख पहुचाता है, वह भी एक शरीर ही है, उसका आत्मा इस व्यापार से अलिप्त ही रहता है। अत शरीर के कर्मों का प्रभाव शरीर पर पडता है, शरीर तक सीमित रहता है। आत्मा उससे परे, अछूता रह जाता है। भोजन आदि के समय यदि दात से हमारी जीभ कट जाती है तो हम किसपर क्रोध करेंगे? उसका जिम्मेदार कौन है? दात और जीभ दोनो शरीर के—मुख के अग है।

वैसे, मूल मे तो आत्मा ही मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियो आदि के रूप मे प्रकट, अभिव्यक्त या प्रकाशित हुआ है। इनमे से कोई एक-दूसरे से अलग नही है, न हो सकते है, सब एक ही शृखला मे बधे हुए है। फिर भी अपनेको सुख-दुख के आघात से बचाने के लिए, उनके प्रभावो से अलिप्त रखने के लिए, यह मानना अच्छा है कि आत्मा शरीर से भिन्न और अलिप्त है। जिसमे चेतन प्रत्यक्ष दीखता है उसे आत्मा और जिसमे चेतन सुप्त है, गुप्त है उसे जड शरीर कहकर यह अभ्यास कराया जाता है कि सुख-दुख शरीर तक पहुच कर ही रह जाते है, अधिक-से-अधिक मन को प्रभावित करते हैं—वहीतक जबतक बुद्धि का प्रभाव लक्षित नही होता। बुद्धि तक भी थोडा असर पहुचा तो आगे आत्मा उससे साफ बचा रह जाता है। बुद्धि विवेक से उन सुख-दुखो को, उनके प्रभावो को अपने मे ही समा लेती है, आत्मा तक नही पहुचने देती।

"यदि देवता ही दुःख के हेतु हो तो भी आत्मा की क्या हानि? वे दुखादि तो इन विकारो (विकार मे कर्ता तथा कर्म-भूत इन्द्रियाभिमानी देवताओ) को ही होते है। यदि अपने ही शरीर का कोई एक अग, दूसरे अग पर प्रहार करे, तो ऐसी अवस्था मे पुरुष किस प्रकार क्रोध करे?" ॥५२॥

अब शरीर को छोड दे। यदि देवताओ को अपने सुख-दुखो का कारण माने तो भी भिक्षु पूछता है कि इस दुख से आत्मा की क्या हानि? समुद्र-तट पर

मिट्टी भी होती है, चट्टाने भी होती है। लहर समुद्र की मिट्टी से टकराती है, तो मिट्टी बहकर लहर मे मिल जाती है, पानी गदला हो जाता है, परन्तु वही लहर चट्टान से टकराई, तो चट्टान ज्यो-की-त्यो अटल-अमिट बनी रहती है और लहर टकराकर वापस चली जाती है। चट्टान को आत्मा की जगह मान लीजिए, मिट्टी को मन-बुद्धि समझिए, लहरो को सुख-दु ख। अब आप समझ लेगे कि किस तरह आत्मा सुख-दु ख से अलिप्त रहता है। लेकिन चूकि पत्थर भी उसी चेतन का प्रत्यक्ष रूप है, उससे जमकर बना है, और जल के वेग मे—लहर मे भी उसी चेतन-तत्व का प्रभाव है, अत सूक्ष्म रूप से दोनो के मिलन, आलिगन या सपर्क का प्रभाव एक-दूसरे पर जरूर पडेगा, परन्तु वह इतना अस्पष्ट, सुप्त होगा कि उसका अनुभव, आभास किसीको नही होता। अत वैज्ञानिक अर्थ मे तो प्रत्येक वस्तु का प्रभाव एक-दूसरे पर जरूर पडता है। वह चाहे जड कहलाती हो चाहे चेतन, फिर भी प्रत्यक्ष रूप से चट्टान-आत्मा अपनी जगह अचल, अप्रभावित रहती है, और चचल तथा वेगवान लहरे थपेडे दे-देकर वापिस लौट जाती है।

देवता इन्द्रियाभिमानी है। इन्द्रिया केवल द्वार या खिडकिया है। स्वत इनमे कुछ देखने या करने की शक्ति नही है। चेतन जीवात्मा की शक्ति से ये चलती है और अपना-अपना काम करती है। यह चेतन शक्ति भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के द्वारा प्रकट या प्रकाशित होती है और उन-उन इन्द्रियो की देवता मानी जाती है। देव का अर्थ है चमकदार, चेतनवान। जिन शक्तियो के द्वारा इन्द्रिया चमकती है, काम करती है, उन्हे उन इन्द्रियो का देवता कहते है। इन्द्रियो के तथा इन शक्तियो के परस्पर सबध को अभिमान कहा है, और इसी अर्थ मे देवताओ को इन्द्रियाभिमानी कहा है। वे इन्द्रियो के द्वारा ही अपना काम कर सकते है—स्वतन्त्र रूप मे नही।

इसलिए भिक्षु कहता है कि सुख-दु ख के कारण यदि देवता है तो उसके भोक्ता भी वे ही है। अत किसको दोष देगे ? दु ख को देनेवाले भी वही, पाने या सहन करनेवाले भी वही। दूसरे पर उसकी क्या जिम्मेदारी ? फिर ये देवता सभी शरीरो मे अलग-अलग नही होते। जो देवता एक शरीर मे है, वही दूसरे और समस्त शरीरो मे भी है। ऐसी दशा मे यदि अपने ही शरीर के किसी अग ने दूसरे अग को चोट लग जाय तो भला किसपर क्रोध करेंगे ?

"यदि आत्मा ही सुख-दु ख का हेतु हो तो वह भी अपना आप ही है, कोई

अन्य नहीं। क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ है नही, और है तो मिथ्या है, इसलिए न सुख है, न दु:ख। फिर क्रोध कैसा?" ॥५३॥

अब वह कहता है कि मान लो कि आत्मा ही सुख-दु:ख का कारण है, तो फिर शिकायत क्यो? आत्मा तो सबमे सब जगह एक ही है—दु:ख देनेवाला भी आत्मा, पानेवाला भी आत्मा। अब क्रोध किसपर? जल से जल टकराता है तो किसकी हानि, किसका कुसूर? किसपर गुस्सा?

भिक्षु ने यह समझ लिया कि मुझे जो अब दु:ख हो रहा है, दूसरे लोग जो नाना प्रकार से दु:ख या कष्ट देते है इसमे इनका कुसूर नही, मेरा ही है। मैंने ही ऐसे कर्म पहले किये है जिनके फलस्वरूप इन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा मुझे यह त्रास मिल रहा है। मेरे ही वे कुकर्म इन लोगो मे ऐसी प्रेरणा करते है जिससे ये मुझे कष्ट देते है, पीडा पहुचाते हैं। मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि जब वह किसी बात को ग्रहण कर लेता है तो फिर उसकी प्रतिकूल दूसरी बातो को सहसा स्थान नही देता। अपने मत का ही वह मडन करता है दूसरे विचारो, तर्कों का खडन करता रहता है। अत: अब जितनी युक्तिया इस सिद्धान्त के खिलाफ कि अपना मन ही तुम्हारा शत्रु है, तुम्हारे दु:ख का कारण है, पडती है उन सबकी तरह-तरह से काट करता हुआ भिक्षु अपने दु:खो का जिम्मेदार अपनेको, अपने मन को ही मानता है। यह नीति वैसे भी अच्छी है। यदि ससार और समाज मे हमे शान्ति, मित्रता और सद्भाव से रहना है तो अपने दु:खो व कष्टो का जिम्मेदार खुद अपनेको ही मानना मानकर चलना लाभदायी है। इससे व्यर्थ ही दूसरो को क्षुब्ध करने से बचते है और सबमे मित्रता बनी रह सकती है।

"यदि ग्रहो को सुख-दु:ख का निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा आत्मा की क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मरणशील देह पर ही होता है। और यह भी कहते हैं कि एक ग्रह की दूसरे ग्रह पर दृष्टि पडने से ग्रह को ही पीडा होती है। तो फिर उनसे अत्यत भिन्न पुरुष किसके प्रति क्रोध करे?" ॥५४॥

ग्रहो को सुख-दु:ख का निमित्त कैसे माने? इनका प्रभाव तो शरीर पर पडता है, आत्मा पर नही। आत्मा तो अजन्मा है, अत: वह अमरण भी है। ऐसे पर सुख-दु:ख का क्या असर? जन्म-मरण ही तो सुख-दु:ख का भान कराते है। जन्म को हम सुख का और मरण को दु:ख का कारण मानते है। जो हमे अच्छा लगता है उसे हमने सुख मान लिया व जो हमे बुरा लगता है उसे हमने दु:ख मान लिया।

जन्म-मरण के वीच की जो अवस्था या शरीर की स्थिति है वह स्पष्ट ही सुख-दु ख-मय है। कभी किसी कारण से सुख मिलता है तो कभी दु ख। यदि जव मरण ही न हो तो बीच की स्थिति भी कहा से हो ? सो, ये सुख-दु ख उन्हीपर अपना रग जमाते है जो जन्म-मरणशील है। वह यह जड शरीर-आकार सृष्टि ही हो सकती है, आत्मा नही। ग्रहो का सुख-दु ख—परिणाम जन्म-मरणशील पर ही हो सकता है। जो अजन्मा है, आत्मा है उसपर नही। और जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह शरीर नहीं, आत्मा है। अत भिक्षु निश्चित है कि ग्रहो का परिणाम होता भी हो तो शरीर जाने, मैं—आत्मा क्यो उससे परेशान होऊ ? और फिर किसी दूसरे पर क्यो क्रोध करू ?

"यदि कर्म सुख-दुःख के हेतु हों तो उनसे आत्मा का क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थ के जड़ और अजड़ उभय रूप होने पर हो सकते हैं। किंतु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षी-रूप से रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षी-मात्र है। इस प्रकार कर्मों का कोई आश्रय ही नहीं है, फिर क्रोध किसपर करें ?" ॥५५॥

यदि कर्मो को ही दु ख-सुख का कारण माने तो आत्मा का उनसे क्या लेना-देना ? कर्म जड और चेतन के सयोग से होते है। चेतन-जीव-आत्मा प्रेरणा देता है जड इन्द्रिया कर्म करती है। यह सत्य है तो भी कर्म का प्रभाव और फल आत्मा तक नही पहुच पाता। जिसे हम दु ख कहते हैं वह समान गुण-शील वस्तु के कारण नही होता, असमान मे होता है। समता मे सुख, विषमता मे दु ख होता है। दोनो सम-समान हो, या दोनो असम-समान हो तो फिर द्वन्द्व नही रहता, एक प्रकार का साम्य हो जाता है और दोनो को दु ख की अवस्था नही कह सकते। दोनो जड या दोनो चेतन हो तो दु ख की उत्पत्ति कहा से, कैसे होगी ? दु ख के अस्तित्व, उपस्थिति के लिए दो की, और दो मे भी परस्पर प्रतिकूलता, असमानता, विषमता की आवश्यकता रहेगी। द्वन्द्व से दु ख की उत्पत्ति और विपमता से पुष्टि तथा वृद्धि होती है।

सुख-दु ख की प्रतीति जड वस्तु को नही होती। आघातो का, स्पर्श का फिर वे अनुकूल भाव उत्पन्न करते हो या प्रतिकूल, सूक्ष्म प्रभाव तो अवश्य पडता है, परन्तु उसे प्रतीति की कक्षा मे नही रख सकते। प्रतीति वही होगी जहा मन-बुद्धि का अस्तित्व होगा। जहा हिताहित, अच्छे-बुरे का भान होगा। अर्थात जहा कुछ

न-कुछ क्षोभ-विकार को जानने की क्षमता, स्थिति होगी। कर्म का फल देह तक पहुँचना है यह तो प्रत्यक्ष है, मन भी उससे प्रभावित होता है, परन्तु आत्मा तो इस देह पिंजर मे एक पक्षी की तरह अलिप्त रहता है, वह साक्षी मात्र है, अत निर्विकार है और रहता है। कर्म उसका आधार या आश्रय या निमित्त भले ही बने, वह कर्म-फल का भोक्ता नही हो सकता। अत कोरे कर्म पर क्रोध करने से क्या लाभ ? आत्मा पर कैसे क्रोध किया जाय ?

"यदि काल-दु ख सुख का हेतु हो तो उससे भी आत्मा की क्या हानि ? काल तो उनका ही अश है। जिस प्रकार अग्नि अग्नि को नहीं जला सकता और बरफ बरफ को ठढा नहीं कर सकता, उसी प्रकार आत्मा का अश-रूप काल उसके द्वंद्व-सुख-दु ख का कारण नहीं हो सकता फिर क्रोध किसपर किया जाय ? आत्मा को तो किसी प्रकार का द्वन्द्व है नहीं" ॥५६॥

यदि काल को सुख-दु ख का कारण माने तो आत्मा पर उसका क्या प्रभाव ? 'काल' का स्वरूप आत्मा से भिन्न नही है। परमात्मा की अभिव्यक्ति सृष्टि है और आत्मा की यह हमारा शरीर। सृष्टि और शरीर के जन्म-मरण के कारण काल की स्थिति होती है। यदि सर्वत्र केवल आत्म-स्वरूप ही है, आत्म-स्थिति ही है, एक ही चेतन-तत्व सर्वत्र है, तो काल की स्थिति ही क्या ? एक से दो होते ही काल का अस्तित्व भी सामने आ जाता है। आत्मा तो चेतन-तत्व है ही और सृष्टि भी परि-वर्तनशील है, जो चेतनता का ही लक्षण है। दोनो गतिशील है—ये गतियां जिसमे होती है, उसे देश कहते है और इनमे आगे-पीछे का बोध होता है, अब, तब, कब का मान होता है, उसे काल कहते है। सुबह-शाम, आज-कल, ये भेद काल के कारण है। सूक्ष्म अर्थ मे काल आत्मा का ही एक भाग है जो समय का बोध कराता है। आत्मा का एक भाग दूसरे भाग को कैसे हानि-कष्ट पहुचा सकता है ? आग आग को क्या जलावेगी ? बर्फ बर्फ को कैसे गलावेगी ? फिर आत्मा तो शीत-उष्ण, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो की पहुच मे है ही नही। ये तो केवल शरीर, मन या बहुत हुआ तो बुद्धि तक ही पहुचकर रह जाते है।

"उस प्रकृति से अतीत आत्मा को कभी किसी के द्वारा किसी प्रकार भी सुख-दु ख का ससर्ग नहीं हो सकता। यह तो ससृति-रूप अहकार मे ही प्रतीत होते हैं। जो ऐसा जान लेता है वह फिर किसी भौतिक पदार्थ मे भय नहीं मानता" ॥५७॥

भिक्षु ब्राह्मण का प्रयत्न यह है कि हम सुख-दु खो से आत्मा का सबध न माने, न समझे। कोई मनुष्य दु ख नही चाहता। परन्तु दु ख होता तो है। तो फिर कही बाहर से आता है, कोई दूसरा उसे देता है या हमारे भीतर से ही मिलता है? फिर यदि दु ख आता हो तो कुसूर किसका, शिकायत किससे? इन दोनो का उत्तर भिक्षु ने दिया है कि दु ख के मूल हम स्वय—हमारा मन है, इसलिए हमे न किसीसे शिकायत करनी चाहिए न किसीपर क्रोध करना चाहिए। दु ख का दड हमे ही स्वय प्रसन्नता से भुगतना चाहिए। इसी सिलसिले मे उसने इस 'हम' या 'मैं' का विश्लेषण किया और शरीर को आत्मा से अलग करके सुख-दु ख को शरीर-धर्म माना है। वह कहता है कि आत्मा प्रकृति के स्वरूप, धर्म, कार्य, सबध और गन्धादि से रहित है। यद्यपि प्रकृति उसीसे उत्पन्न हुई है, परन्तु उत्पन्न होने के बाद उसकी सत्ता पृथक हो जाती है। पृथक होने पर भी वह गतिशील या क्रियावती होती है आत्मा, पुरुष या चेतन-तत्व के स्पर्श या स्फूर्ति से ही। फिर भी उसका प्रभाव आत्मा पर नही पडता। समुद्र पर उसकी लहरो का क्या व कितना प्रभाव पडता है? आकाश पर वायु की तरगो का कितना-सा प्रभाव पडता होगा?

न धर्म का उसपर असर होता है। धर्म के कई अर्थ है। वस्तु का धर्म है उसकी प्रकृति, मनुष्य का धर्म है अपनी शक्तियो का सदुपयोग। वस्तु का धर्म वनता है उन परमाणुओ के गठन से जिनके कारण वस्तु का जन्म होता है। ये परमाणु प्रकृति के अन्तर्गत हैं, न कि परमात्मा के या चेतन तत्व के। मनुष्य का धर्म वनता है उसके अतिरिक्त दूसरे के, समाज की परिस्थिति के अनुरूप उसकी अपेक्षा से। आत्मा न वस्तु के धर्म से वधा है, न मनुष्य के। वह स्वरूप स्थिति मे रहता है। उससे दूसरे सब धर्म उत्पन्न होते है, वह सब धर्मों का कारण हो सकता है, अत धर्म-ब्रधन से रहित है। इसी तरह वह सृष्टि का आदि कारण है, उसीसे सारी सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति और लय होता है। अत वह किसीका कार्य-फल नही हो सकता। ससार मे जो सबध हम देखते हैं, वे मनुष्यो व जीवो के ही है। जिन्हे आकार, इन्द्रियाँ है उन्हीमे परस्पर सवध देखे जाते हैं। इन सवधो को लेकर सुख-दु ख की उत्पत्ति होती है। आत्मा का ऐसे सवधो से क्या वास्ता? यदि उसका सवध किसी से माना ही जाय तो यही कि वह सव वस्तुओ का कारण, जन्मदाता है। उसकी क्रिया दूसरो पर होती है। उनकी प्रतिक्रिया उसपर नही होती। अत वह अलिप्त है। यह गध से भी रहित है। गध का उस

पर कोई प्रभाव नही पडता। उनसे सब प्रभावो का जन्म होता है, परन्तु उसपर किसी दूसरी वस्तु का कोई प्रभाव नही पडता। तो फिर गध की बात ही क्या ? गध नाक का विषय है। गध हाथ-पाव को नही आ सकती। आत्मा को तो कोई इद्रिया ही नही है, मोती को क्या गध आती है ? मनुष्य-शरीर के मुकाबले मे मोती के कोई इद्रिया नही हैं, सिर्फ आकार है, तब भी उसे गध नही आती, तो फिर आत्मा तो बिलकुल निराकार है। गध का स्पर्श उसे कैसे होगा ? स्पर्श, प्रभाव के लिए दो की, द्वन्द्व की आवश्यकता है। एक का प्रभाव दूसरे पर पडता है। जहा सब कुछ एक ही हो वहा प्रभाव का, स्पर्श का प्रश्न ही पैदा नही होता। आत्मा का न जन्म है, न मरण। वह स्थिति मे सदा एक-रस रहता है। उसमे किसी समय किसी कारण कुछ क्षोभ हुआ, जिससे वह एक से अनेक आकार मे आ गया। इन आकारो का ही जन्म और मृत्यु होता है। ये बनते-बिगडते रहते है, जन्म-मृत्यु के चक्कर खाते रहते है। अलग-अलग आकार जिस वस्तु को या आधार को लेकर अलग-अलग हुए है, उसे अहकार—'मैं हू' कहते है। आत्मा 'सर्व' है, उसमे किसी एक आकार का होना 'अह' है। नाना धर्म, सबध इस 'अह' के कारण है। जो इस सत्य को जान लेता है, वह किसी भय, दु ख, सताप से त्रस्त नही होता। ये सब आकार के, शरीर के, धर्म है, प्रभाव है, यह समझकर वह निर्द्वद्व रहता है। उसे यह निश्चय रहता है कि आत्मा का इन दैहिक उपाधियो से कोई सबध है और मैं देह नही आत्मा हू। अत मुझपर शारीरिक कष्टो-विकारो का क्यो प्रभाव हो ? मैं इन सबसे अलग और अलिप्त हू।

"इस प्रकार पूर्ववर्ती महाऋषियो द्वारा आश्रित परमात्म-निष्ठा मे स्थिर होकर भगवान मुकुन्द के चरण-कमलो की सेवा के द्वारा ही मै इस अनन्त महान सागर को सुगमता से पार कर लूंगा" ॥५८॥

इसे परमात्म-निष्ठा कहते है। यह शरीर-निष्ठा, ससार-निष्ठा, से भिन्न है। प्राचीन ऋषि-मुनियो ने इसीका आश्रय ग्रहण किया है। ससार मे जो भी महान, प्रतापी, पराक्रमी, पुरुषार्थी, त्यागी, सिद्ध हुए है, वे सब शरीर, मन आदि के प्रभावो से ऊपर उठ जाने पर ही, इतने महान हुए है। सुख-दु खो से अलिप्त हुए है। अत मेरे लिए भी यही आश्रय उचित है। शारीरिकता और सासारिकता को छोडकर परमात्मा का, भगवान का आश्रय लेना ही उचित है, यदि मैं चाहता हू कि सुख-दु खो के प्रभावो से अलिप्त रहू। सासारिकता मे लिप्त रहने से न सच्चे प्रेम की

प्राप्ति हो सकती है, न मुक्ति की। वह तो भगवान के चरण-कमलो की सेवा के ही द्वारा हो सकती है। अपनेको सर्वथा भगवान के ही समर्पण कर देने से हो सकती है। अबतक मैं महान अज्ञान-सागर मे पडा हुआ गोते खा रहा था। देह और देह-सबधो को प्रिय, वाछनीय, सुखदायी समझ कर इन्हीमे उलझा, डूबा रहता था। अब मुझे बोध हो गया तो मैने समझ लिया कि इससे ऊपर और पवित्र सबध भगवान का है। उसीसे प्रेम-भक्ति करनी चाहिए। और जब उसमे डूब जाते हैं तो सासारिक या दैहिक कष्ट, आपत्ति कुछ भी महसूस नही होती।

श्री भगवान बोले—"इस प्रकार धन नष्ट हो जाने से क्लेश-रहित और विरक्त होकर घरबार छोड़कर पृथ्वी पर विचरनेवाला वह ब्राह्मण दुष्ट जनो से तिरस्कृत होने पर भी अपने धर्म में अटल रहता और इस गाथा का गान करता था" ॥५९॥

साधारणत धन नष्ट होने पर हम दुखी होते और सिर पीटते है, परन्तु भगवान उद्धव से कहते है कि भिक्षु ब्राह्मण का धन क्या नष्ट हुआ, उसके सारे क्लेश दूर हो गए। धन-नाश ने उसकी आखे खोल दी। उसके अन्दर ऐसे सस्कार थे जिसमे धन-नाश के कारण उसने सही रास्ता पकड लिया। उसमे सतोगुण का, सद्बुद्धि का उदय हुआ, वैर, शत्रुता, द्वेष, बदला—ये भाव नही पैदा हुए, वल्कि ससार से वैराग्य हो गया। वैराग्य का मतलब यह कि ससार के भोग-विलास से मन ऊब गया। मन ने उन्हे व्यर्थ, नि सार और हानिकारक मान लिया। जिस धन-ऐश्वर्य से मनुष्य मदोन्मत्त होकर दूसरो की उपेक्षा अवहेलना करे, उनके न्यायोचित अधिकारो की दाद न दे, अनुचित और अभद्र व्यवहार करे, वे अन्त को दुख और पश्चात्ताप के ही कारण बनते है। भिक्षुक ब्राह्मण का जीवन उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

फिर जब उसका ससार से मोह न रहा तो वह स्वतत्र हो गया—न किसी वात की चाह रही, न किसीकी परवाह। मनमौजी हो गया—और स्वच्छद विचरने लगा। हमने देखा कि दुष्टो ने उसे इतना सताया, फिर भी उसे क्षोभ न हुआ, अपनी क्षमा, शाति उसने न छोडी। ऊपर जो गीत वताया, वह मन-ही-मन गाता रहता था, जिससे उसे बोध जाग्रत रहता था, फिर भ्रम और भूल नही हो पाती थी।

"इस संसार में पुरुष को दुःख-सुख देनेवाला कोई दूसरा नही है। यह उसके

चित्त का भ्रम ही है। मित्र, उदासीन और शत्रु-रूप संसार अज्ञान का ही रचा हुआ है" ॥६०॥

अन्त में फिर भगवान उद्धव से कहते हैं कि इस कथा का सार यह है कि मनुष्य को कोई दूसरा सुख-दुःख नहीं देता। जो लोग यह समझते हैं, या मान लेते हैं कि हमें इसने या उसने दुःख दिया, यह उनके चित्त का केवल भ्रम है। यह संसार ही सारा अज्ञान कल्पित है। तो फिर इसमें अपने प्रति किये गए व्यवहार के कारण, किसीको मित्र, किसीको शत्रु, किसीको उदासीन समझना भूल है। सब हमारे ही आत्मा हैं, सबमें मैं ही व्याप्त हूं—यह जो कुछ दृश्य जगत दीखता है वह समुद्र में तरंग की तरह है—दोनों वास्तव में एक हैं—तरंग समुद्र का ही भाग या अंश है—उसे पृथक—दूसरा समझना अज्ञान है इसी तरह यह संसार-रूपी लहर आत्मरूपी समुद्र में उठती रहती है। तो संसार का आत्मा से भेद कल्पित ही मानना पड़ेगा।

"इसलिए हे तात, मुझमें लगाई हुई बुद्धि के द्वारा अपनी सारी शक्ति लगाकर युक्तिपूर्वक मन का विग्रह करो। यही योग का सार-संग्रह है" ॥६१॥

इसलिए भगवान कहते हैं, हे उद्धव, तुम अपनी वृत्तियों को, मन के संकल्प-विकल्पों को, समेटकर मुझमें लगा दो—मिला दो। भले ही संसार में रहो—परन्तु मन को वश में करके रहो। मन का सन्तुलन मत खोओ। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि मन को मुझमें ही स्थित कर दो। चौबीसों घण्टे ऐसा सोचो, ऐसा ध्यान रखो कि संसार में जो कुछ है सो परमात्मा ही है और जिसे हम घर, परिवार, दुनिया कहते हैं, वह सब परमात्मा के ही अन्दर है। उनसे भिन्न कुछ नहीं है। ऐसी साधना ही योग है। आत्मा को परमात्मा में लगाना ही योग का सार है।

"जो कोई भिक्षु द्वारा कही गई इस ब्रह्म-निष्ठा को सावधानता पूर्वक सुनता अथवा सुनाता हुआ धारण करता है, वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के वशीभूत नहीं होता" ॥६२॥

इस प्रकार यह भिक्षु गीत गाया है—मूर्तिमान ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्र चित्त से इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है, वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के अधीन नहीं होता उनमें रहते हुए भी वह सिंह के समान निःशंक दहाड़ता रहता है।

· २४

सांख्ययोग

[इस अध्याय मे भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को साख्य-शास्त्र का ज्ञान देते हुए बताया है कि आदि सत्ययुग मे निर्विकल्प स्वरूप केवल ब्रह्म की सत्ता रहती है। फिर वह ब्रह्म अपनी माया एव माया मे प्रतिबिम्बित जीव रूप से दो भागो मे विभक्त-सा दिखने लगता है। उस माया-रूप प्रकृति एव जीव-रूप पुरुष के योग से सूत्र एव महत्तत्व उत्पन्न हुए। विकृत महत्तत्व से अहकार की उत्पत्ति हुई। इस अहकार द्वारा ही जीव को मोह हुआ। तामस, राजस एव सात्विक इस त्रिविध अहकार से क्रमश पच महाभूतो की कारणभूत पचतन्मात्राए, ग्यारह इद्रियाँ एव इन इद्रियो के अधिष्ठाता ग्यारह देवता प्रकट हुए। इस सबके मिले हुए रूप को ब्रह्माण्ड कहा गया। इस अण्ड मे स्थित मेरी नाभि से विश्व-कमल उत्पन्न हुआ एव उससे ब्रह्मा प्रकट हुए। मेरी कृपा से उस ब्रह्मा ने विविध लोको एव लोकपालो की रचना की। अच्छे कर्म से उच्च लोक एव दुष्कर्म से निम्न लोको की प्राप्ति होती है, तथा सर्वोच्च लोक—मेरे परमधाम मे भक्ति द्वारा पहुचा जाता है। यह सारा जगत कर्म एव उसके सस्कारो से बधा हुआ कर्मफल भोगने हेतु अधोगति एव उच्चगति को प्राप्त करता है। इस सब प्रपच को करनेवाला मै हू। प्रलय के समय जगत महत्तत्व आदि सभी पदार्थ अपने-अपने मूल मे समा जाते है एव ये सब माया-प्रपच मूलभूत मुझ ब्रह्म मे समाहित हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि से पूर्व भी ब्रह्म था एव सृष्टि के समय भी ब्रह्म रहा और सृष्टि की समाप्ति पर भी ब्रह्म रहता है। आदि, मध्य एव अन्त तीनो अवस्थाओ मे रहने के कारण मैं ब्रह्म ही सत् हू और सब असत् है।]

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, अब मैं तुम्हारे प्रति प्राचीन आचार्यों द्वारा निश्चित सांख्य-योग का वर्णन करता हू जिसको जान लेने पर मनुष्य प्रपंच-भ्रम को तत्काल त्याग देता है"॥१॥

भेद-बुद्धि रखने—द्वन्द्व से सुख-दुख होते है, अत यह भ्रम है। जब जीव इस बात को समझ लेता है तो उनसे मुक्त हो जाता है। इसी बात पर बल देने के लिए भगवान उद्धव से कहते है कि साख्यशास्त्र का निर्णय भी इसीकी पुष्टि करता है। प्राचीन काल के बडे-बडे ऋषि-मुनियो ने इसपर बहुत विचार, चिन्तन किया है और अन्त मे यही निचोड निकाला है कि एक परमात्मा—भगवान ही सत् है, उसका व्यक्त रूप, प्रतिबिम्ब या भास जो जगत है, वह असत् है। परमात्मा और जगत दोनो को सत् मानना ही द्वन्द्व को मानना है और दो वस्तुओ के अन्तर मे, या मूल मे, एक ही सत् वस्तु निहित है। शरीर भी है, हाथ भी है, परन्तु हाथ शरीर का ही एक अग या अश है, अत शरीर ही है। इसको भूल जाते है तो द्वन्द्व खडा होता है, जिनमे सुख-दु ख खडे हो जाते है। अत ससार मे रहते हुए अद्वैतवाद, या एकत्व की भावना ही—तमाम सासारिक कर्तव्यो को करते हुए भी उनके सुख-दुखो से परे होने का एक मात्र उपाय है।

"प्रलय काल तथा सतयुग के आरम्भ मे जबकि लोग विवेक सम्मत थे, ज्ञान और उसके विषय अर्थात दृष्टा और दृश्य एक निर्विकल्प रूप मे ही थे" ॥२॥

अब साख्य-शास्त्र का निर्णय सुनो। कपिल मुनि ने इस शास्त्र की रचना की है। (राजस्थान के—बीकानेर जिले मे कोलायत नामक एक तीर्थ-स्थान है, जहा कपिल मुनि ने तपस्या-चिन्तन किया था और जहा साख्य-शास्त्र की रचना हुई बताते हैं।) सृष्टि-रचना पर विचार तो पहले से चला ही आया है। मनुष्य ने जब से सृष्टि को देखा, उसके बारे मे विचार करने लगा। पहले आश्चर्य से देखा, भय से भी देखा। फिर धीरे-धीरे विचार करने लगा। उसकी परिपक्वता साख्य शास्त्र मे देखी जाती है। सभवत पहली बार कपिल मुनि ने उन तत्वो की सख्या और उनका वर्गीकरण निश्चित किया, जिनसे मिलकर यह सृष्टि बनी है। कपिल मुनि का कहना है—

"सृष्टि की उत्पत्ति से पहले केवल एक ब्रह्म ही था (अब भी है, आगे भी रहेगा), उसमे कोई भेद-भाव नही था। उसके सिवा दूसरा कुछ भी नही था। जिसे हम दृश्य या जगत कहते है, वह प्रत्यक्ष नही हुआ था, उसीके अन्दर समाया हुआ था, जैसे कि बीज के अन्दर पेड समाया हुआ—छिपा हुआ रहता है। तिल के अन्दर तेल भी इसी तरह गुप्त रहता है। अदृश्य और व्यापक ब्रह्म से सृष्टि प्रकट हुई रही और फिर मिटी—यह क्रम चलता रहता है। सृष्टि जब मिटती है तो उसे प्रलय

कहते है। यह उत्पत्ति और प्रलय की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। ब्रह्म से यह सृष्टि उपजी, ब्रह्म मे ही रही, और ब्रह्म मे ही विलीन होती है—ऐसा कहते हैं। जब सृष्टि उपजती या बनती है तो उस आदि-काल को सत्ययुग कहा है। आदि सत्य-युग मे जब कभी मनुष्य के मन मे विवेक-विचार उत्पन्न हुआ, तभी मनुष्य ने उस सम्पूर्ण दृश्य पर सोचना शुरू किया—पहली बार भेद को, द्वैत को अनुभव किया। यह सपूर्ण दृश्य क्या है? यह जगत कहा से आया? कैसे बना? इसमे जीव क्यो हुआ, कैसे बना, कहा से आया? इनका आपस मे कोई सबध भी है या नही, है तो वह क्या होगा? जो कुछ दिखाई देता है वही है या इसका कुछ विकल्प भी है, जो दिखाई नही देता? साख्य का कहना है कि मनुष्य की दृष्टि मे और मन मे ये सब दृश्य, द्रष्टा, जीव, जगत आदि विकल्प आने से पहले केवल ब्रह्म ही था। उसीमे कुछ विकार आने से यह सृष्टि रूप प्रकट हुआ, जिसमे भेद और विविधता के प्रथम बार दर्शन हुए।

"फिर मन और वाणी से अतीत वह एक मात्र निर्विकल्प सत्य स्वरूप ब्रह्म, माया (दृश्य) और उसके प्रकाश रूप से दो हो गया"॥३॥

ब्रह्म स्वय कोई विकल्प या भेद नही है, ब्रह्म दो या अनेक नही है, वह केवल अद्वितीय सत्य है। वही वह है, दूसरा कुछ, कोई नही। प्रशान्त महासागर की कल्पना कीजिए, जिसमे एक छोटी-सी भी लहर न उठनी हो। यह भी कल्पना कीजिए कि हमारे चारो ओर, ऊपर नीचे, दाएँ-बाएँ आगे-पीछे, सब ओर वह समुद्र छाया हुआ है। वह समुद्र जल का नही, तेज का, चेतन-तत्व का है। इसीको यहा ब्रह्म कहते हैं। इस तेजोमय, चेतनामय समुद्र मे किसी कारण से पहली, बहुत छोटी और सूक्ष्म लहर उत्पन्न हुई। उसके होते ही वह अलग दिखाई पडी। यह लहर उमडी, ऊची उठी दिखाई दी, तो सृष्टि कहलाई, जब वापस समुद्र मे मिल गई तो प्रलय कहलाया। इस बीच उसमे बूदे बिखरी, तो वही सृष्टि के विविध पदार्थ कहलाये। हमने इस उदाहरण से यह समझाने का प्रयत्न किया है कि ब्रह्म का इस जगत से कैसा व क्या सबध है। परन्तु वास्तव मे ब्रह्म का वर्णन वाणी से तो परे है ही, मन-बुद्धि भी उसकी पूरी कल्पना नही कर सकते। इसलिए उसे कल्पना-तीत कहा है।

मन-वाणी की उस तक गति ही नही है। बीज के अन्दर पेड को कैसे देखेंगे? जैसे लहर को समुद्र का अग या रूप ही मानेंगे, वैसे ही यह जगत और जीव ब्रह्म

का ही अंग और रूप है। ब्रह्म लहर की तरह छोटा है, उसीसे जुड़ा हुआ है, अतः अंग है। समुद्र भी पानी का है, लहर भी पानी की है, अतः दोनों एक रूप हैं, फर्क सिर्फ आकार का रहा, प्रकार का नहीं। अब यह जो समुद्र और उसकी तरंग अलग दीखती है यही माया है—इसीको अज्ञान कहा है। जिस क्षोभ, शक्ति, स्फुरण से लहर उठी वह भी माया कहलाती है, और एक से दो या अनेक दिखाई देते हैं। इस दृष्टि को भी माया कहा है। अतः मूल शक्ति और भेद-दृष्टि दोनों माया है। 'जगत भगवान की माया है', या 'जगत मायामय है', जब हम ऐसा कहते हैं तो इसका अर्थ यही है कि ब्रह्म की दृष्टि मे, ब्रह्म की भूमिका से, जगत या सृष्टि का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, ब्रह्म में ही उसका दर्शन होता है—लहर की तरह। ब्रह्म से उसे पृथक दर्शाने के लिए एक अलग शब्द की रचना की गई है—माया। पहले जहां एक अकेला ब्रह्म था, वहां अब एक माया भी आई, जिसने ब्रह्म को दो रूप मे दिखाया। एक ब्रह्म, दूसरी सृष्टि। यह माया भी कहीं बाहर से नहीं आई। ब्रह्म की ही क्षोभकारिणी स्फुरणा है, जिससे उसकी अचलता, शांति में कुछ खलल आया और लहर रूपी सृष्टि का बीज पड़ा। दो होने पर एक रहा द्रष्टा—देखने वाला, दूसरा हुआ दृश्य जो दिखाई देता है, जिसे द्रष्टा देखता है। द्रष्टा ब्रह्म, दृश्य सृष्टि-लहर, द्रष्टा और दृश्य के बीच में रही माया। जब हम द्रष्टा और दृश्य को एक-रूप—अभेद देखते हैं तो हम माया से ऊपर है, जब हम दोनों को पृथक देखते है तो हम माया के प्रभाव में हैं। इसे ही ज्ञान और अज्ञान कहा है। सुवर्ण और आभूषण को जब हम दो अलग-अलग मानते और कहते है तो हम माया के वश मे हैं, जब हम दोनों में एक सुवर्ण को ही देखते हैं तो हम उसके प्रभाव से परे, ऊपर हैं।

अब यह दृश्य भी दो भागों में बट जाता है, जीव और जगत या सृष्टि। जीव चेतन है, जगत सृष्टि अचेतन, जड। पानी को हम चेतन कहेंगे बर्फ को जड। उसी ब्रह्म के दो महान भेद हो गये। एक चेतन, दूसरा जड—चेतन अदृश्य, जड, दृश्य। जिसमें चेतना दीखती है, वह जीव, जिसमें चेतना अदृश्य है, जम गई है, घन हो गई है, जैसे जल बर्फ बन गया हो—वह जड। जब आकार प्राप्त हो जाता है तो उसे जड-स्थूल कहते है। जब पिण्ड बन जाता है तो उसे जड कहते हैं। जड भी अन्त में तो चेतन ही है, चेतन ही घनीभूत होकर जड हो गया है, परन्तु उसमें चेतन-सिरा छिपी रहती है, वह दिखाई नहीं देती, इसलिए इसकी संज्ञा जड है।

"उनमे से एक वस्तु (माया) को प्रकृति कहते हैं। और वह कार्य-कारण रूप से दो प्रकार की है। तथा दूसरी वस्तु ज्ञान है; वह पुरुष कहलाता है" ।।४।।

जब एक से दो हुए, द्विधा हुए, जड और चेतन दो भेद हुए, तो साख्यकार ने जड भाग को 'प्रकृति' नाम दिया और चेतन भाग को पुरुष। यह प्रकृति-पुरुष का जोडा हो गया। प्रकृति कार्य-कारण रूप है। पुरुष ज्ञान-स्वरूप है। कारण बीज रूप, कार्य वृक्ष रूप है। कारण से कार्य बनता है। प्रकृति कारण रूप, सृष्टि कार्यरूप है। प्रकृति को ही वेदान्त मे माया कहा है, ऐसा कहे तो अनुचित या गलत नही। जड अकेला न कुछ कर सकता है, न आगे कुछ बन सकता है। उसे नाना रूप, आकार-प्रकार धारण करने के लिए चेतन के सहयोग, सस्पर्श, स्फुरण की आवश्यकता रहती है। पत्थर अकेला, जड। न खुद टूट सकता है,न मूर्ति बन सकती है। दूसरे चेतन व्यक्ति या वस्तु के सहयोग, आश्रय से ही उसके विविध रूप बन सकते है। उसे पिघलाने के लिए आग चाहिए। तोडने के लिए चेतन व्यक्ति—मनुष्य या दूसरा कोई जीवधारी चाहिए। प्रकृति का आगे विस्तार, सृष्टि-रूप जो कुछ हुआ, वह पुरुष चेतन के सयोग से ही। साख्य के अनुसार ये दोनो अब अलग-अलग हो गये—फिर भी, चेतन का योग हुए बिना प्रकृति कुछ कर-धर नही सकती, एक मानी मे बेकार है। उधर पुरुष चेतन भी अकेला होते हुए भी न होने के बराबर है, क्योकि कुछ आकार, देह, पिण्ड बने बिना वह भी कुछ कर-धर नही सकता। वह प्रकृति को प्रेरित करता है, स्पर्श करता है और प्रकृति सृष्टि का विस्तार करने लगती है। दोनो स्वतत्र रूप से, स्वतत्र रहकर, अपने-अपने ढग से बेकार हैं, दोनो परस्पर मिलकर स्पर्श से, योग से सबकुछ कर सकते है और करते है। ससार मे, व्यवहार मे, हमने पुरुष और नारी को साख्य के पुरुष प्रकृति की तरह भिन्न-भिन्न होते हुए भी, अभिन्न जोडा माना है। दोनो अलग-अलग बेकार अधूरे है, मिलकर पूर्ण है और बहुत कुछ कर सकते है।

प्रकृति का काम तो दो को बहुत बनाना है। ये 'अनेक' दोनो प्रकार के है—जड और चेतन भी। जड और चेतन मे फर्क करे तो कहना होगा कि चेतन क्रियाशील है, और जड स्थिर है। जिसमे हल-चल दीखती है, वह क्रियाशील चेतन है, जिसमे हिलने-डुलने की या चलने की क्रिया नही दीखती वह जड है। चेतन भी दो प्रकार के हो गए—एक वह जिनमे केवल क्रिया है, दूसरा वह जिनमे क्रिया के साथ ज्ञान भी है। जैसे यत्र मे केवल क्रिया है, मनुष्य मे क्रिया के साथ ज्ञान भी है।

मनुष्य सोच-विचार कर किया करता है, यंत्र नही। यह सोच-विचार करने की शक्ति जो है, इसीको ज्ञान कहते है। बुद्धि के द्वारा यह क्रिया होती है। अत बुद्धि ज्ञान का साधन या यंत्र माना गया है। बुद्धि मन का परिष्कृत और विकसित रूप है। अत ज्ञान शरीर को नही, मन-बुद्धि को होता है। वहा से फिर उसकी प्रेरणा शरीर और इन्द्रियो को सचालित करती है।

"जीवो को अदृष्टानुसार मैंने प्रकृति को क्षुब्ध किया तब उससे सत्व, रज, तम ये तीनो गुण प्रकट हुए" ॥५॥

अब प्रकृति को भी समझने और जानने की जरूरत है। प्रकृति कैसे पहचानी जाती है? उसके क्या चिह्न या लक्षण है? उसके तमाम गुणो, शक्तियो, व्यापारो का सूक्ष्म निरीक्षण और चिन्तन करके साख्यकार ने उनका तीन भागो मे वर्गीकरण किया। उसे तीन गुण कहते हैं। उनके तीन नाम रक्खे गये—सत्व, रज और तम। अर्थात प्रकृति ने जितने पदार्थ या वस्तुए बनाई वे अपने मे से ही बनाई, इसीलिए उन प्रत्येक मे ये तीनो गुण पाये जाते है। स्वतः प्रकृति मे कुछ क्षोभ या विकार हुए (जैसे कि आदि मे ब्रह्म मे क्षोभ होकर प्रकृति बनी या प्रकट हुई), तो तीन गुण पहले पहल प्रतीत हुए। अभी वस्तुए बनने नही लगी, आकार नही बना, केवल उनका बीज पडा, उनके अनुकूल परिस्थिति निर्माण हुई, उनकी पूर्व भूमिका तैयार हुई। यह गुण कैसे व क्यो प्रकट हुए? इसका उत्तर भगवान ने दिया है कि प्रकृति को क्षुब्ध तो मैने ही किया है, मेरी ही इच्छा, प्रेरणा, सवेदन, स्फुरण से प्रकृति मे एक सूक्ष्म हलचल प्रकट हुई और मुझे उसमे सहारा मिला जीवो के शुभ-अशुभ कर्मो का। उनके अनुसार मैने प्रकृति मे तीन गुण प्रकट किये।

यहा यह कल्पना की गई है कि प्रकृति मे क्षोभ होने के पहले जीव और उनके शुभ-अशुभ कर्म, उनके प्रभाव, सस्कार, फल मौजूद थे। इसे जरा समझ ले। ब्रह्म मे प्रथम स्फुरण जब हुआ तो वह प्रकृति के कारण। क्षोभ के पहले प्रकृति ब्रह्म मे सुप्त, लीन, या समाविष्ट थी। ब्रह्म चेतन है तो चेतन का लक्षण—क्रिया व ज्ञान—उसमे सदा मौजूद रहने चाहिए। सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया को हम 'हलचल' से अधिक नही कह सकते। तो यह 'हलचल' ब्रह्म मे भी सदैव होनी रहनी चाहिए। और यदि हलचल प्रकृति का कार्य है तो प्रकृति ब्रह्म के साथ सदैव मिली हुई रहनी चाहिए। इस दशा मे ब्रह्म और प्रकृति का चिर-अस्तित्व, चिर-सहयोग होना चाहिए। फिर मूल ब्रह्म को कहे या प्रकृति को, या दोनो को? इसका समाधान

करने के लिए यह माना गया है कि मूल तत्व तो ब्रह्म ही है, किन्तु उसमे जो हलचल की क्रिया-शक्ति सर्वदा विद्यमान रहती है, वह उसकी प्रकृति है। उससे जुदा नही है। यह हलचल ही आगे चलकर नाना रूप—आकार धारण करती है, इसलिए ये सब प्रकृति के कार्य कहे जाते है। मूल ब्रह्म मे प्रकृति है, सतत क्रियावान है, इसलिए इस सारे दर्शन मे ब्रह्म का नम्बर पहला तथा प्रकृति का दूसरा आता है।

तो अब प्रकृति मे क्षोभ होने की बात आई है। यह क्षोभ जीवो के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार भगवान ने किया, जिनसे तीन गुण प्रकट हुए। इससे प्रकृति के इस क्षोभ के पहले जीव और उनके कर्म की विद्यमानता सूचित होती है। अभी वस्तुएं, पदार्थ, आकार तो बने नही। वे तो आगे इन गुणो के प्रभाव से बनेंगे। तो फिर क्या ये जीव निराकार ही रहे? और निराकार ही थे तो उनके कर्म कैसे हुए? और उनके शुभ-अशुभ होने का निर्णय कैसे हुआ? उनकी क्या कसौटी थी? इसका समाधान दो मे एक ही तरह से किया जा सकता है। यदि जीव, उनके आकार-प्रकार—शरीर—इद्रिया—उनके कर्म—शुभाशुभ—इन सबके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो यह वर्णन आदि सृष्टि का नही, बीच की किसी सृष्टि या सर्ग का है। यदि आदि सर्ग का ही है तो फिर ये सब क्रियाए जीव की केवल चेतन-अवस्था मे ही माननी पडेंगी, जिसका आकलन बुद्धि की शक्ति के परे मालूम होता है।

अव भगवान साख्य के मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बतलाते है। अत हमारे प्रयोजन के लिए इतना ही जान लेना काफी है। प्रकृति मे क्षोभ हुआ और उसमे प्रथम इन तीन गुणो की प्रतीति हुई, जो आगे चलकर सृष्टि-रचना मे काम आये।

"उनसे क्रिया-शक्ति-सम्पन्न सूत्र हुआ। और उससे ज्ञान-शक्ति-प्रधान महत् तत्त्व हुआ, जो सूत्र से मिला हुआ है। और उस विकार-युक्त महत् तत्त्व से अहंकार हुआ, जो जीवन को मोह मे डालनेवाला है"॥६॥

तीन गुणो की सृष्टि हो गई—इनका उदय हो गया। अब आगे चले। दो शक्तिया हमने देखी। क्रिया व ज्ञान। वैसे क्रिया मे ज्ञान और ज्ञान मे क्रिया शक्ति मिली हुई है, छिपी हुई है। इन दोनो को सर्वथा स्वतत्र, अलग नही मान सकते, फिर भी विचार को समझने के लिए, उनके प्रधान अश या प्रभाव को देखकर उनके नाम अलग-अलग रख दिये हैं। हलचल की अधिकता को देखकर क्रिया-

शक्ति, और संवेदन, आकलन, मनन, चिन्तन, बोधग्रहण की अधिकता देखकर ज्ञान-शक्ति कहा है। सो अब क्रिया-शक्ति की प्रधानता से फिर एक शक्ति प्रकट हुई जिसको सांख्य में 'सूत्र' कहा है और ज्ञान-शक्ति की प्रधानता से जो शक्ति प्राप्त हुई उसे महत् या महत्तत्व कहा है। ये भी परस्पर मिले हुए ही हैं, (रस्सी की दो लटों की तरह)। अब महत्तत्व में विकार हुआ जिसमें से अहंकार व्यक्त हुआ। 'विकार' हुआ का मतलब यह कि ऐसी हल-चल या क्रिया हुई कि जिसमें फिर नई शक्ति प्रकट हुई। अहंकार के पहले तक सारी सृष्टि अव्यक्त रही—अहंकार ही पहला कारण या निमित्त है जिससे वस्तु की पृथक सत्ता का पहले पहल बोध हुआ। "मैं हूं" अर्थात होने की सत्ता का—अस्तित्व का भान होने से ही वस्तु की पृथक सत्ता का बोध होता है। ये पृथक-पृथक सत्ताएं, वस्तुएं, अस्तित्व, अहंकार के कारण हैं। यह सूक्ष्म अस्तित्व का तत्व है, जब व्यक्ति में यह बहुत बढ़ जाता है, अस्तित्व मात्र का बोध न होकर बढ़कर 'अहंपन' का रूप धारण कर लेता है तब उसे घमण्ड कहते हैं।

"वह अहंकार वैकारिक सात्विक, तैजस (राजस) और तामस-भेद से तीन प्रकार का है तथा पंचतन्मात्रा, इंद्रियां और मन का कारण होने से जड़ चेतनमय है" ॥७॥

"तामस अहंकार रूप पंचतन्मात्राओं से पंचभूत तैजस (राजस) अहंकार से इन्द्रियां और विकृत सात्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता ग्यारह देवता प्रकट हुए" ॥८॥

"मेरे द्वारा प्रेरित होकर इन समस्त कारण-तत्वों ने परस्पर मिलकर मेरा आश्रय-रूप यह उत्तम अण्ड बनाया" ॥९॥

"जल में स्थिर हो जाने पर उस अण्ड में मैं विराजमान हुआ। मेरी नाभि से यह विश्वनाभ का कमल उत्पन्न हुआ और उससे स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई" ॥१०॥

ये सब पदार्थ तो बन गए, परन्तु असली सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई। मेरी प्रेरणा से जब ये सब एकत्र हुए तो ये एक अण्डा बन गये। इसीको ब्रह्माण्ड अर्थात 'ब्रह्म-अण्ड' रूप से कहते हैं। समष्टि रूप में यह मेरा पहला आकार बना। उससे पहले सलिल यानी तरल पदार्थ था, उसमें अण्ड बन गया। फिर उसमें मैंने प्रवेश किया—अर्थात चेतन पदार्थ या जीव आया तो एक ब्रह्म आकार बना, जिसे नारायण नाम से पुकारते हैं। उस नारायण की नाभि—जीव-केन्द्र से फिर यह

विश्व-कमल उत्पन्न हुआ। उसमे से सबसे पहले जो व्यष्टि रूप मे उत्पन्न हुआ या बना वह ब्रह्मा कहलाया। इस ब्रह्मा को विश्व-समष्टि का अन्त करण ही समझो। इसने बहुत तपस्या की। उस पर बहुत ताप पडा। तब पृथ्वी बनी।

"उस विश्वात्मा ब्रह्मा ने तपस्या की और मेरे अनुग्रह से रजोगण द्वारा लोक-पालों सहित भू (पृथ्वी) भुवः (अन्तरिक्ष) स्वः (स्वर्ग) इन तीनो लोको की रचना की" ॥११॥

"स्वर्लोक देवताओ का निवास-स्थान हुआ। भुवर्लोक भूतगणों के लिए हुआ और भूर्लोक मे मनुष्य आदि प्राणी रहने लगे तथा सिद्धो के रहने के स्थान इन तीनो से ऊपर (महर्लोक, तपलोक आदि) है" ॥१२॥

"उस जगह प्रभु ब्रह्मा ने असुर और नागो के लिए इस पृथिवी-तल के नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन तीनो लोको में त्रिगुणात्मक कर्मो के अनुसार ही सम्पूर्ण गतिया होती है" ॥१३॥

"योग, तप और संन्यास के फल-स्वरूप महर्लोक, जन-लोक, तप-लोक और सत्य-लोक आदि उत्तम लोको की प्राप्ति होती है तथा भक्ति-योग से मेरा परमधाम मिलता है" ॥१४॥

जब तीन गुण बन गए तो उनसे सब जीव प्रभावित और प्रेरित होकर नाना प्रकार के कर्म करने लगे। जैसा कर्म वे करते वैसी ही गति उन्हे प्राप्त होती और होती है। इन गतियो की ऊपर नीचे, श्रेणिया बनाई गई है, इस तरह इन्हे लोक कहा गया है। पृथ्वी (भूलोक) के ऊपर महर्लोक आदि, नीचे अतल, वितल आदि। इन श्रेणियो का भौगोलिक महत्व या अस्तित्व न भी हो—पृथ्वी की तरह प्रत्यक्ष ये लोक न हो तो भी मानव-जीवन को ऊचा उठाने के लिए इनका बहुत उपयोग है। भगवान ने बताया है कि त्याग, सयम-प्रधान कर्मो द्वारा, योग, तपस्या और सन्यास के द्वारा, महर्लोक आदि उत्तरोत्तर ऊचे लोको मे गति होती है। अर्थात मनुष्य उत्तम और उच्च गतियो को पाता है—विकास की एक से एक चरम स्थिति मे पहुचता है—अन्तिम स्थिति सत्यलोक तक पहुच जाता है। सत्य मे निरतर स्थिति, पूर्ण सत्यनिष्ठा, मानव-जीवन मे सबसे श्रेष्ठ और ऊची स्थिति है। त्याग और सयम से मनुष्य उसे पा लेता है। फिर भी मेरा परमधाम शेष रह जाता है। वह भक्तियोग से मिलता है। तप प्रधान साधना से मनुष्य का मन रूखा, कठोर, उदासीन हो जाता है। इससे वह स्वय तो बहुत ऊचा उठ जाता है, परन्तु ससार मे,

समाज मे, काम करने लायक नही रहता। समाज के लोग उस तक पहुच नही पाते, उसके तेज, आच मे भडककर दूर रहने के लिए विवश होते है, उसके प्रति उनका आदर तो होता है, स्फूर्ति तो पाते हैं, परन्तु उनके व्यावहारिक रूप मे प्रत्यक्ष लाभ से, वचित रह जाते हैं। तो भगवान कहते है कि उसके लिए भक्ति-योग अच्छा है। प्रेम का परिष्कृत और उच्च रूप भक्ति है। प्रेम मे रस और भक्ति मे आर्द्रता है। वह दूसरो को बरबस अपनी तरफ खीचता है। भक्त जैसे-जैसे भक्ति के द्वारा भगवान की तरफ खिचता जाता है, वैसे-वैसे उसे जनता को अपनी तरफ खीचने की शक्ति प्राप्त होती या बढती जाती है। भक्त भगवान की ओर खिचता है, लोग भक्त की ओर खिचते है। इस तरह भक्ति-योग मेरे परमधाम को पाने का अच्छा साधन है। तप मे हम मन को सताकर, सुख-दुःख की अनुभूति उसे नही होने देते। भक्ति से अपनेको भगवदर्पण करके उससे बचा लेते हैं। हमारे साथ हमारे सुख-दुःख भी भगवान के अर्पण हो जाते है। वही उनका कर्ता और भोक्ता हो जाता है।

"उस काल-रूप विधाता की प्रेरणा से ही यह जगत कर्म-कलाप मे पडा हुआ गुणो के प्रवाह मे कभी उतराता और कभी डूबता है। अर्थात कभी शुभ कर्म-वश उन्नत होता है और कभी पापवश अधोगति मे पडता है" ॥१५॥

यह जगत जो-कुछ है, कुछ कर्मो का, क्रियाओ का परिणाम है। उन कर्मो और क्रियाओ के सस्कार से लिप्त, भरा रहता है। मै इन कर्मो का लेखा-जोखा रखता हू। या यो कहे कि प्रकृति मे इन कर्मो के सस्कार सचित रहते है। फिर कालानुसार, कालक्रम मे उनके फल का विधान होता है। यह यो ही ऊटपटाग नही होता। इनका एक नियम, विधान होता है।

कर्मो के द्वारा मनुष्य कई गुण, शक्तिया प्राप्त करता है या बढाता है। उनको पाकर वह फिर बडे-छोटे, अच्छे-बुरे, कर्मो मे लिप्त होता है। फिर उससे नई वर्धित शक्तिया, गुण प्राप्त होते है। इस तरह यह ताना–चक्र चला ही करता है। इस गुण-प्रवाह मे जीव कभी डूब जाता है, कभी ऊपर चढ जाता है। पुण्य-कर्मा मे उच्च गति व पाप कर्मो से अधोगति होती है।

'अणु (छोटा) बृहत (बडा) कृश (पतला) और स्थूल (मोटा), जो जो भी पदार्थ उत्पन्न होता है, वह पुरुष और प्रकृति दोनो से मिलकर ही बनता है" ॥१६॥

"जो पदार्थ जिसके आदि और अन्त मे रहता है, उसके मध्य मे भी उसीकी

सत्ता होती है और वही सत्य भी है। उसके विकार तो केवल व्यवहार के लिए ही होते हैं। जैसे कि सुवर्ण के विकार कङ्कणादि और मृत्तिका के विकार घड़ा आदि।" ॥१७॥

"जब किसी परस उपादान (कारण) के आश्रय से किसी दूसरे कार्य-रूप भाव को पूर्व उपादान कारण उत्पन्न करता है, तो जो जिसके आदि अन्त में रहता है, वही 'सत्य' कहा जाता है।" ॥१८॥

ऊपर बता ही चुके है कि ससार मे जितने भी पदार्थ बनते है वे सब प्रकृति और पुरुष के सयोग से ही सिद्ध होते है। पदार्थ बनते-बिगडते रहते है, इसलिए वे असत् कहलाते है। सत् इसके विपरीत है। जिसके आदि और अन्त मे जो है, वही बीच मे भी है, तो वही सत्य है। आदि, मध्य, अन्त तीनो अवस्थाओ मे जो कायम रहता है, वही सत्य है। उसके जो रूपान्तर है, वे विकार है, व्यवहार के लिए की गई कोरी कल्पना है। जैसे कगन-कुण्डल आदि सोने के विकार है व घडे-सकोरे आदि मिट्टी के विकार है। इनमे सोना और मिट्टी कगन-कुण्डल घडा-सकोरे आदि बनने से पहले भी थे, कगन-घडे के रूप मे भी थे, और इनके टूटने या मिट जाने पर भी सोना और मिट्टी रहेगे। तो कुण्डल और घडे की अपेक्षा से सुवर्ण और मिट्टी 'सत्य' रहे। परन्तु सुवर्ण और मिट्टी भी किसी वस्तु के विकार है। इनमे जो मूल तत्व भरे हुए हैं, वे, इनकी अपेक्षा अधिक सत्य है। इस तरह मूल की खोज करते जायगे तो सबके अन्त मे एक परब्रह्म परमातमा ही अन्तिम सत्य ठहरेगा। सोना, मिट्टी का पूर्ववर्ती कारण है महत्तत्व आदि। महत्तत्व मे अहकार की जोड मिलने से कार्यवर्ग—पदार्थों की—सोना, मिट्टी की सृष्टि होती है। महत् का कारण प्रकृति और प्रकृति का पुरुष और इन दोनो का परब्रह्म या परमातमा है, और वही परम सत्य है।

"इस कार्य-प्रपंच का उपादान प्रकृति है, इसका अधिष्ठान परमात्मा है और अभिव्यंजक (प्रकट करनेवाला) काल है। ये तीनो शुद्ध ब्रह्म-रूप में ही हैं। क्योंकि मै ही इन सबका आदि उपादान कारण हूं।" ॥१९॥

हम जो कुछ विश्व-प्रपच देखते हैं, इसका उपादान कारण प्रकृति है। अर्थात प्रकृति-रूपी द्रव्य से यह बना है। इसका अधिष्ठान या आश्रय परमातमा है। काल के सहारे यह प्रकट होता है। अर्थात जिस समय यह प्रपच पैदा हुआ, बना वही से काल की शुरुआत होती है। काल से ही उत्पत्ति, स्थिति, लय की अवस्थाओ

का बोध होता है। वास्तव मे काल एक ही है। इन अवस्थाओ से उसके त्रिविध और बाद मे अनेक रूप हो जाते हैं, जैसे, दिन-रात, घण्टा, मिनिट, ऋतु आदि। किन्तु इस सारे प्रपच–विविधता मे मनुष्य को अपनेको खो न देना चाहिए। इन्हे ही सत्य न मान लेना चाहिए। ये केवल विकार है। मूल वस्तु ब्रह्म, मैं ही हू और यह ज्ञान स्थिर रखने मे सबकुछ ब्रह्मस्वरूप ही दिखाई देगा।

"जबतक परमात्मा की दृष्टि रहती है, और जब तक स्थिति का अन्त (प्रलय) नहीं आता तबतक जीव-कृत कर्मों के फल-भोग के लिए, पितृ-पुत्र परम्परा से यह ससार निरतर चलता रहता है।" ॥२०॥

परमात्मा मे आदि विकार उसकी ईक्षण-शक्ति के कारण हुआ ऐसा मानते है। यह प्रकृति का मूल स्वरूप है। ईक्षण शक्ति से हलचल होती रहती है। सकोच-उत्कोच होना रहता है। स्पन्दन-क्रिया सतत होती रहती है। यही उत्पत्ति और लय का कारण है। इसमे जीव के कर्म और उनके भोग और जुड जाते है। एक कर्म मे दूसरा कर्म, एक भोग म दूसरा भोग बनते रहते है। जैसे पिता से सन्तान, उस सन्तान से फिर आगे सन्तान पैदा होकर असख्य जीव उत्पन्न हो जाते है, वैसे ही सृष्टि मे एक कारण से अनेक कार्य होते है। ये कार्य फिर कारण-स्वरूप बनकर नये अनेक कार्य उत्पन्न करते है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम–यह प्रपच जारी रहता है।

"यह उत्पत्ति-नाशशील ससार जो विराट रूप से स्थित है, प्रलयकाल के आने पर अपने सातो भवनो के सहित पचत्व-रूप विशेष को प्राप्त हो जाता है, अर्थात इसके पचीकृत भूत अपने अपने कारण मे लीन होने लगते हैं।" ॥२१॥

अब यह सारा प्रपच, खेल, होना किसमे है? कहा है? तो कहते है— यह विराट ही त्रिविध लोको की सृष्टि, स्थिति और सहार की लीला-भूमि है। या यो कहे कि इनकी लीला-भूमि को हमने विराट कहा है। जैसा ही यह उत्पत्तिक्रम है, वैसा ही सृष्टि के प्रलय का भी एक क्रम है। उत्पत्ति मे वह उलटा है।

"उस समय मर्त्य शरीर अन्न मे, अन्न बीज मे, बीज भूमि मे, भूमि गन्ध मे, गन्ध जल मे, जल अपने गुण रस मे, रस तेज मे, तेज रूप मे और रूप वायु मे, वायु स्पर्श मे, स्पर्श आकाश मे तथा आकाश शब्द-तन्मात्रा मे लीन हो जाता है और इन्द्रियां अपने कारण-भूत राजस अहकार मे लीन हो जाती हैं"॥२२-२३-२४॥

"हे सौम्य, राजस अहकार, अपने नियन्ता वैकारिक अहकार रूप मन में,

शब्दतन्मात्रा पंचभूतों के कारण-भूत तामस अहंकार में, संपूर्ण जगत को मोहित करने में समर्थ अहंकार महत्तत्त्व में लीन हो जाता है" ॥२५॥

"वह ज्ञान और क्रिया शक्ति-सम्पन्न महत्तत्व अपने कारण गुणो में लीन हो जाता है। और गुण अव्यक्त प्रकृति मे तथा प्रकृति अपने प्रेरक अव्यय काल में लीन हो जाती है" ॥२६॥

"काल मायामय जीव में तथा जीव मुक्त अजन्मा आत्मा में लीन हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप मे स्थित रहता है—वह जगत की सृष्टि और लय का अधिष्ठान तथा अवधि-रूप है" ॥२७॥

सब वस्तुए आत्मा मे लीन हो जाती है, परन्तु, आत्मा किसीमे लीन नही होता है, क्योंकि वह अजन्मा है। जिसका जन्म है, उसीकी मृत्यु या अन्त है। आत्मा मे कोई उपाधि नही, वह अपने स्वरूप मे ही स्थित रहता है। अत. इस मूल वस्तु आत्म-तत्व को ही प्रधान मानना चाहिए। इसीकी प्राप्ति या सिद्धि करनी चाहिए।

"इस प्रकार विचारपूर्वक देखनेवाले पुरुष के चित्त में यह प्रपंच-भ्रम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? और यदि इसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक काल तक हृदय मे ठहर कैसे सकता है? जिस प्रकार आकाश-मडल मे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नहीं ठहर सकता है" ॥२८॥

इस प्रकार कार्य-कारण के साक्षी मैंने तुम्हे अनुलोम प्रतिलोम (सृष्टि से प्रलय और प्रलय मे सृष्टि तक के) क्रम से सशय-रूप हृदय-ग्रंथि को खोलनेवाली यह सांख्य-विधि बतलाई है।

२५ :

तीनो गुणो की वृत्तिया

[इसमे प्रकृति के तीन गुणो—सत्व, रज, तम—का बडा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह साधक के लिए बहुत उपयोगी है।]

श्री भगवान बोले—"हे नरश्रेष्ठ उद्धव, अलग-अलग गुणो मे से जिस गुण के कारण पुरुष की जैसी प्रकृति होती है, उसका मै तुमसे वर्णन करता हूं। श्रवण करो" ॥१॥

प्रकृति के तीन गुण—सत्व, रज, तम ऊपर बताये। इसीसे प्रकृति त्रिगुणात्मिका कहलाती है। ये तीनो गुण उसके साथ सदैव मिले रहते है। जैसे कपूर के साथ उसका आकार, सफेदी और गध, अमिट रूप से लगे हुए है। उसी तरह साख्य का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति मे ये तीन गुण रहते है। वे सबमे एक-से नही रहते, अलग-अलग और अलग-अलग तरह से रहते हैं। किसीमे कोई गुण कम है, तो कोई अधिक। इन गुणो की विविधता के कारण मनुष्य के स्वभाव मे भी विविधता आ गई है। उद्धव, तुम जानना चाहोगे कि ये भेद और विविधता कैसे आई, किस गुण से कैसा-कैसा स्वभाव बना है, सो सुनो।

यहा गुण और स्वभाव को पहले समझले। स्व-भाव का शाब्दिक अर्थ है—वस्तु का निज का भाव—निजत्व। जैसे पानी का स्वभाव है तरलता—बहना। अग्नि का स्वभाव है—ताप, जलना आदि।

"शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया स्मृति (पूर्वापर का विचार रखना) सतोष, त्याग, विषयों मे अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा, दान[1] आदि तथा आत्मरति (ये सत्वगुण की वृत्तिया हैं)" ॥२॥

---

१. यहा 'दय दानगतिरक्षणहिसादानेषु', इस धातु-सूत्र के अनुसार दया

"इच्छा, प्रयत्न, अभिमान, तृष्णा, गर्व, देवताओ से धन आदि की याचना, भेद-बुद्धि, विषय-सुख, मद-जनित उत्साह, अपनी प्रशंसा मे प्रेम, हास्य, पुरुषार्थ, बल (न्यनय) पूर्वक उद्योग, (ये रजोगुण से होते है)" ।।३।।

"क्रोध, लोभ, मिथ्या भाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, पीड़ा, निद्रा, आशा, भय और अनुद्योग, (इनका कारणीभूत तमोगुण है)" ।।४।।

"इस प्रकार क्रम से ये सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियो का प्रायः पृथक-पृथक वर्णन किया। अब उनके मेल से होनेवाली वृत्तियो को सुनो" ।।५।।

"हे उद्धव, 'मै हू', 'मेरा है'—इस प्रकार की बुद्धि में तीनो गुणो का समावेश है '(क्योकि इसमे, मै शात हूं, मै कामी हू, मै क्रोधी हू)'—ऐसा तीनो प्रकार का व्यवहार हो सकता है। मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियो और प्राण इन सबके मेल से जो व्यवहार होता है, उसमे तीनो गुणो का समावेश होता है" ।।६।।

"जब पुरुष धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त होता है तो यह भी तीनो गुणो का सन्निपात (मेल) ही है। यह सन्निपात परिणाम मे उसे श्रद्धा, रति और धन की प्राप्ति करानेवाला है" ।।७।।

"जिस समय पुरुष की सकाम कर्म-निष्ठा में प्रीति हो, गृहस्थाश्रम में आसक्ति हो और अपने नित्य-नैमित्तिक कामो के अनुष्ठान में लगा रहता हो, उस समय उसमें तीनो गुणो का मेल ही समझना चाहिए" ।।८।।

"(इस प्रकार तीनो गुणो के मेल से होनेवाली वृत्तियो को देखकर अब उनमें से प्रत्येक के प्राधान्य से पुरुष का जैसा स्वभाव होता है, वह बतलाते हैं—) सत्वगुणी पुरुष का शम, दमादि गुणो से, रजोगुणी का कामादि से, और तमोगुणी का क्रोधादि से अनुमान करना चाहिए" ।।९।।

"जो पुरुष या स्त्री जिस समय निष्काम होकर अपने नित्य नैमित्तिक कर्मो द्वारा मेरा भजन करे तब उसे सत्वगुणी जानना चाहिए" ।।१०।।

"जब वह सकामतापूर्वक स्वकर्मो से मेरा भजन-पूजन करे तब रजोगुणी,

---

शब्द का दान अर्थ समझना चाहिए, अन्यथा पुनरुक्ति होगी। आदि शब्द से विनय, सरलता आदि गुण समझना चाहिए।

और जब हिंसा (शत्रु-मारणादि) की इच्छा से मुझे भजे, तब तमोगुणी समझो" ॥११॥

"सत्व, रज, तम—ये गुण जीव के हैं, मेरे नहीं। जिनके द्वारा भूतो मे (शरीर अथवा अन्य भौतिक पदार्थों मे) आसक्त हो जाने से जीव बन्धन मे पड जाता है" ॥१२॥

"जिस समय प्रकाशमान, स्वच्छ और शान्त सत्व गुण, रज और तम को दबाकर बढता है, उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञानादि से सम्पन्न हो जाता है" ॥१३॥

"जिस समय आसक्ति और भेद-बुद्धि का कारण तथा प्रवृत्ति-स्वभाव रजोगुण तम और सत्व का पराभव करके बढ़ता है, उस समय पुरुष दु ख, कर्म, यश और सम्पत्ति से युक्त हो जाता है" ॥१४॥

"तथा जिस समय अज्ञान, आवरण और जड रूप तमोगुण रज और सत्व को जीतकर बढता है, उस समय पुरुष शोक, मोह, निद्रा हिंसा और आशा से युक्त हो जाता है" ॥१५॥

"जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रिया शात हो, देह निर्मल हो तथा मन अनासक्त हो तब समझो कि मेरी प्राप्ति के कारण-रूप सत्वगुण का आविर्भाव हुआ है" ॥१६॥

"जब पुरुष क्रिया से विकृत हो जाय, बुद्धि चचल हो उठे, ज्ञानेन्द्रिया अशान्त हो जाय, शरीर अस्वस्थ हो और मन मे भ्रम पड जाय तब रजोगुण की प्रवृत्ति समझनी चाहिए" ॥१७॥

"जिस समय ज्ञानेन्द्रिय-जनित ज्ञान के ग्रहण मे असमर्थ और खिन्न होकर, चित्त लीन होने लगे, मन शून्यवत हो जाय तथा अज्ञान और ग्लानि की वृद्धि हो तब तमोगुण को बढा हुआ समझो" ॥१८॥

"हे उद्धव, सत्वगुण के बढने पर देवताओ का बल बढ़ता है। रजोगुण बढने पर असुरो का और तमोगुण के बढ़ने पर राक्षसो का बल बढ जाता है" ॥१९॥

"सत्वगुण से जीव की जाग्रत अवस्था समझनी चाहिए, रजोगुण से स्वप्न जानना चाहिए और तमोगुण से सुषुप्ति माननी चाहिए तथा तुरीय अवस्था (जो कि शुद्ध और एक रस आत्मा ही है) इन तीनो मे व्याप्त है" ॥२०॥

"(ब्रह्म तथा वेदाभ्यास मे तत्पर) ब्राह्मण लोग सत्वगुण के द्वारा उत्तरोत्तर

ऊपर के लोकों में जाते हैं, तमोगुण से पुरुषों को स्थावर पर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है तथा रजोगुण से मनुष्य शरीर मिलता है" ॥२१॥

"सत्वगुण की वृद्धि के समय लीन होते (मरते) वाले स्वर्ग को, रजोगुण में लीन होनेवाले मनुष्य-लोक को तथा तमोगुण में लीन होनेवाले नरक को जाते हैं और निर्गुण (त्रिगुणातीत जीवन-मुक्त) पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं" ॥२२॥

"जो स्वकर्म फल को मेरे अर्पण करके अथवा निष्काम भाव से किया जाता है, वह सात्विक होता है। फल-प्राप्ति के संकल्प से किया हुआ कर्म राजस होता और हिंसा दम्भादि-युक्त कर्म तामस होता है" ॥२३॥

"आत्मा की असंगता का ज्ञान सात्विक है, उसको कर्ता व भोक्ता जानना राजस है तथा (बालक और गूंगे आदि के समान) साधारण सांसारिक ज्ञान तामस है और मेरे स्वरूप का ज्ञान निर्गुण है" ॥२४॥

"वन में रहना सात्विक निवास है, ग्राम में रहना राजस कहा जाता है, और जुआ-घर का निवास तामस है, तथा मेरे स्वरूप में अथवा मेरे मन्दिरों में रहना निर्गुण है" ॥२५॥

"अनासक्त होकर कर्म करनेवाला सात्विक है, राग-युक्त होकर रहनेवाला राजस माना जाता है और पूर्वापर-विचार से रहित होकर कर्म करने वाला तामस है। तथा जो निरहंकार और मेरे आश्रित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है, वह निर्गुण है" ॥२६॥

"आत्म-ज्ञान की श्रद्धा सात्विकी है, कर्म की श्रद्धा राजसी है और जो श्रद्धा अधर्म में होती है, वह तामसी है। तथा मेरी सेवा-पूजा की श्रद्धा निर्गुणा है" ॥२७॥

"पथ्य, पवित्र और अनायास प्राप्त हुआ आहार सात्विक माना गया है, रसनेन्द्रिय को रुचिकर राजस, तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है" ॥२८॥

"आत्मा से प्राप्त सुख सात्विक है, विषयों से प्राप्त राजस है तथा मोह और दीनता से प्राप्त सुख तामस है और मुझसे प्राप्त होनेवाला सुख निर्गुण है" ॥२९॥

"इस प्रकार द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं" ॥३०॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव, पुरुष और प्रकृति से अधिष्ठित सभी देखे-सुने और बुद्धि द्वारा जाने गये पदार्थ त्रिगुणमय हैं" ॥३१॥

"हे सौम्य, पुरुष को यह त्रिगुणमय संसार-बन्धन गुण-कर्म-वश प्राप्त होता है।

जो जीव इन चित्तजन्य गुणों को भक्ति-योग द्वारा जीत लेता है, वह मुझमे निष्ठा करनेवाला भक्त मेरे स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है"॥३२॥

गुण और स्वभाव के भेद तथा उनके परस्पर सम्मिश्रण से जो विविधता आई, उसका दिग्दर्शन ऊपर कराया। जीव को यह जो अनेक योनिया अथवा गतिया प्राप्त होती है वे सब इन गुणों के और कर्मों के कारण है। उसीके अनुसार वे मिलती है। गुण अपने अनुकूल कर्म की प्रेरणा करते है, कर्म के अनुसार फल मिलते है। इनका सस्कार मन पर पडने से गुण मे फर्क आता है। इसका असर फिर कर्म पर पडता है। इस तरह यह चक्र निरतर चलता रहता है। यहा यह न भूलना चाहिए कि ये जितने गुण है, सब चित्त से ही सबध रखते है। अत जीव जब भी चाहे चित्त को वश मे करके उनपर—गुणो के प्रभाव पर, विजय पा सकता है। सयम के द्वारा, भक्ति-योग साधता हुआ जीव मुझसे परिनिष्ठित हो जाता है। अकेला सयम, या निग्रह उसके मन को मुझतक पहुचने के रास्ते लगा देता है। वहा यदि वह भक्ति-योग का आश्रय ले लेता है तो उसकी यात्रा सुगम, सुखद हो जाती है। उससे वह जल्दी मुझतक पहुँच जाता है और जब भक्ति मे दृढता या पूर्णता आ जाती है तो वह मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष कहते है, उसे भी पा जाता है।

"अत. ज्ञान-विज्ञान-प्राप्ति के साधन रूप इस मानव-शरीर को पाकर विचारवान पुरुष गुण-सग का त्याग करके मेरा भजन करे"॥३३॥

यहातक सुख-दुःख से छुटकारे के लिए त्रिगुण को चित्त से जीतने का मार्ग बताया। अब वे कहते है कि मनुष्य-जीवन ही उसके लिए सबसे उपयुक्त है। पशु-पक्षी जीवन मे उसकी साधना नही हो सकती। किन्तु मनुष्य-शरीर दुर्बल भी है। कुछ बातो मे पशु-पक्षियो से बढकर है तो कुछ मे घटिया भी है। शरीर-शक्ति मे मनुष्य पशु-पक्षी का सहसा मुकाबला नही कर सकता, दूसरी ओर मनोबल मे उनसे बहुत आगे और श्रेष्ठ है। फिर शरीर का कोई ठिकाना नही, आज है कल नही। अत इसी शरीर मे यह तत्व-ज्ञान सीख लेना चाहिए और इसी नर-देह मे तत्त्वनिष्ठा-रूप विज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञान-विज्ञान मन-बुद्धि का विषय है। ज्ञान होने पर जबतक उसमे निष्ठा नही होती, स्थिति नही होती, उसके अनुसार जीवन को ढालने की प्रवृत्ति नही होती, तबतक वह ज्ञान-विज्ञान बेकार है, सच्चा नही रहा। अत ज्ञान और निष्ठा दोनो आवश्यक है। निष्ठा के बाद

मनुष्य को चाहिए कि वह गुणो की आसक्ति को हटावे और मुझमे लगावे, मेरा भजन करता रहे।

"विवेकी और मननशील पुरुष को चाहिए कि सत्वगुण के सेवन द्वारा रज और तम का पराभव करके इन्द्रिय-संयम-पूर्वक आसक्ति और प्रमाद को छोड़कर मेरा भजन करे" ॥३४॥

इसकी सरल विधि इस प्रकार है—पहले सत्वगुण को वढाने का प्रयत्न करे। इसमे विचार और सावधानी की आवश्यकता होगी। सत्वगुण की वढती से रजोगुण दवेगा। विचार से काम लेने की आदत डालना ही सत्वगुण को वढाना है। सावधानी का मतलव है कोई गलत या ऊटपटाग काम न हो जाय, इसका ध्यान रखना। यह विचार का फल है।

जव रजोगुण दव जाय तो फिर तमोगुण को निशाना वनावे। पहले तमोगुण को रजोगुण से दवावे। फिर रजोगुण को सत्वगुण से। यदि सत्वगुण से रजोगुण तो दव गया, परन्तु तमोगुण ज्यो-का-त्यो रह गया तो वह किसी समय सत्वगुण को भी दवा लेगा। दबा हुआ रजोगुण तमोगुण को न दबा सकेगा। फिर जव तमोगुण दव जायगा तो रजोगुण को दवाना भी आसान हो जायगा। नही तो रजोगुण तमोगुण को सहायता देता रहेगा और तुम्हारी साधना को कठिन वना देगा। दोनो के दवने से सत्वगुण की प्रगति और शक्ति को कोई न रोक सकेगा। सत्वगुण की वढती से, प्रभाव से इद्रियो को वश मे करना सुगम हो जायगा। जव इन्द्रियो पर कावू पा गए तो मेरे मे मन लगाना आसान हो जायगा। उस समय मेरे स्वरूप को समझना भी सरल रहेगा। प्रशान्त मन मे मेरे स्वरूप का ज्ञान भली-भाति समाविप्ट हो जायगा। अव मेरे भजन मे लग जाओ। दिन-रात मेरा ही चिन्तन व ध्यान करते रहो। आसक्ति न होने पावे, इसका ध्यान रक्खो। ससार से, उसके विपयो से, आसक्ति हटाकर मुझमे आसक्त हो जाओ।

"और फिर शातचित्त तथा निरपेक्ष होकर युक्ति-पूर्वक सत्वगुण को भी जीतो। तदनन्तर गुणो से युक्त जीव अपने जीवत्व को छोड़कर मुझको प्राप्त हो जाता है" ॥३५॥

इसमे सारभूत वात है चित्तवृत्तियो को शान्त रखना। वह वेतुके और ऊट-पटाग तरीके से नहीं, युक्ति से और सो भी योग-शास्त्र मे वताई युक्ति से। निर-पेक्षता उसमे अच्छी सहायता करती है। जवतक आशा-अपेक्षा रहती है, तवतक

मन चचल रहता है, भीरु और दब्बू रहता है, दूसरे के मुंह की तरफ देखता है। अत मन को निरपेक्षता की शिक्षा देना चाहिए। इससे सत्वगुण पर विजय प्राप्त हो जायगी। फिर सत्वगुण से भी मुक्त होना है, गुणातीत होना है, गुणो के प्रभाव से ऊपर उठ जाना है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर जीव का जीव-भाव छूट जाता है। फिर मुझमे व उसमे फर्क क्या रहा ?

"इस प्रकार जीव लिग-शरीर-रूप अपनी उपाधि तथा अत.करण-जनित गुणो से छूटकर मुझ ब्रह्म की प्राप्ति से परिपूर्ण हो जाता है, और फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी प्रकार के विषयो मे नहीं जाता"॥३६॥

अब फिर से इस सबका सार सुन लो। साख्य-योग और गुणो के इस वर्णन का परिणाम यह होना चाहिए कि जीव या मनुष्य गुणो की वृत्तियो से छुटकारा पा जाय, जिससे मुक्त होकर मुझ परब्रह्म की अनुभूति करले। इससे उसका द्वैतभाव नष्ट होगा और सभी ओर एकत्व दर्शन होगा। इसीको पूर्णावस्था कहते है। जब मनुष्य पूर्णता को प्राप्त हो जाता है तो फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषय मे उसका मन लिप्त नही होता। न सासारिक सुख-दुखो का प्रभाव उसपर पडता है।

अतकरण मे जो सत्वादि गुणो की वृत्तिया उदय होती है, वे मनुष्य के मन को इधर-उधर भटकाती रहती है। जीव का स्थूल शरीर ही नही होता, बीज रूप एक सूक्ष्म देह भी होता है, जिसे लिग-शरीर कहते है। इस लिग-शरीर मे जीव के सब गुण बीज मे छिपे रहते है। स्थूल शरीर के नाश होने के साथ ही, उसपर विजय प्राप्त करने मे सूक्ष्म या लिग-शरीर का नाश नही होता। वह तब होता है, जब जीव का जीवत्व तिरोहित होकर वह परमात्म-पद को पा लेता है।

· २६

पुरुरवा का वैराग्य

[पुरुरवा को अत मे काम-वासना से अरुचि हो गई। उसका यह दृष्टान्त मनुष्य के लिए बडा मार्गदर्शक है और आखे खोलनेवाला है। मनुष्य कहाँतक कामासक्त हो सकता है, विकार-ग्रस्त होकर पतित हो सकता है, इसका भी नमूना है और कैसे आत्म-जागृति तथा पश्चात्ताप से वह उससे मुक्त भी हो सकता है—इसका भी उदाहरण है। साथ ही यह भी बताता है कि बिना आत्म-ज्ञान के, भगवद्-शरण के कोई उद्धार का मार्ग नही है और ससार मे सन्त पुरुष, जो भगवान के ही समकक्ष, गिने जा सकते है, भगवान को पाने का सरल साधन है।]

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, मेरे लक्षणों से युक्त (अर्थात मेरे स्वरूप ज्ञान के साधन) इस मनुष्य-देह को पाकर जो मेरे भागवत-धर्म में स्थित रहता है, वह अपने अन्तःकरण में स्थित आनंद-स्वरूप मुझ परमात्मा को प्राप्त हो जाता है" ॥१॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव यह नर-जन्म वडे भाग्य से, पुण्य से मिलता है। इसीमे यह क्षमता है कि मुझे प्राप्त कर ले। इसके लिए मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना उचित है। वह मैं पहले बता चुका हू। मगर इतना ही काफी नही है। कोरा बुद्धि-गत ज्ञान कोरी झाकी करा सकता है, मुझे पा नही सकता। मुझे पाने के लिए मेरी भक्ति की, मेरे प्रति सारा जीवन-समर्पण करने की जरूरत है। जबतक मनुष्यो के प्रति प्रेम, जीवो के प्रति अहिसा, मेरे प्रति भक्ति-भाव की साधना न करोगे तबतक मेरी प्राप्ति नही हो सकती है। और मै कही दूर थोडे ही हू—तुम्हारे अन्त करण मे ही तो हू और कहा नही हू ? मुझको पा लिया यह कैसे जानोगे ? जव तुम सदा सर्वदा आनद-मग्न रहने लगो। मैं स्वय ज्ञान-रूप के साथ आनद रूप भी हू। ज्ञान से मेरी पहचान होती है। आनन्द से मुझमे स्थिति सूचित होती है।

"ज्ञान-निष्ठा के द्वारा गुणमयी जीवावस्था से मुक्त होकर यह पुरुष अवास्तविक रूप से प्रतीत होते हुए माया-मात्र गुणो मे वर्तमान रहता हुआ भी उनके वास्तविक (मिथ्या) गुणो से मुक्त नहीं होता" ॥२॥

ज्ञान मे मनुष्य तीनो गुणो से परे हो जाता है। जब सही बात हम जान लेते है तो नकली वस्तु हमारे सामने ठहर नही सकती। प्रकाश के आते ही अधकार और अधकार मे रहनेवाले जीव-जन्तु ठहर नही सकते। तीन गुणो का प्रभाव अन्त करण तक पहुचता है, मुझतक नही। मैं उनका जन्मदाता हू—परन्तु उनके प्रभाव मे मुक्त हू। चकमक पत्थर मे चिनगारी निकली—वह रुई को जला सकती है, चकमक को नही। ज्ञान मे यह साफ समझ मे आ जाता है कि ये गुण वास्तविक नही, माया-मात्र है। आत्मा से इनका सबध नही—आत्मा सबमे अलिप्त है। जब यह ज्ञान मनुष्य को हो जाता है और सदा-सर्वदा जाग्रत रहता है, तो फिर मनुष्य गुणो के बीच रहते हुए भी, ससार-व्यवहार करते हुए भी, उनके द्वारा जीवन के समस्त कार्य करते हुए भी, उनमे बधता नही, प्रभावित नही रहता।

"विषय-सेवन और पेट-पालन मे ही मस्त रहनेवाले असत् पुरुषो का सग कभी न करे। उनका अनुगमन (सग) करनेवाला पुरुष अन्धे के पीछे जाने वाले अन्धे के समान घोर अन्धकार मे पडता है" ॥३॥

ऊधो, सगति का बडा असर मनुष्य पर पडता है। यह मन जिनके साथ रहता है, वैसा ही बन जाने की प्रवृत्ति रखता है। सर्व-साधारण जन प्राय अज्ञान-अधकार मे फसे रहते है, पेट-पूजा और विषय-सेवन से आगे न उनकी दृष्टि जाती है, न चेष्टा। इन्हे असत् पुरुष कहना चाहिए। जो व्यक्ति मुझको पाना चाहता है, सुख-दु ख-रूप द्वन्द्व से छूटना चाहता है, उसे चाहिए कि वह असत् पुरुषो के सग से बचे। वे एक प्रकार से अधेरे मे भटकते है। उनके साथ रहने से, उनके पीछे चलने से पुरुष की दुर्दशा होती है। अधे के सहारे कोई चलने की कोशिश करे तो नतीजा क्या होगा? अधे के साथ वह भी गड्ढे मे जा गिरेगा।

"महान यशस्वी, राजराजेश्वर, इलापुत्र महाराज पुरूरवा ने उर्वशी के विरह से मोहित होकर खेद करते हुए उस शोक का अन्त होने पर इस प्रकार कहा था" ॥४॥

इसका एक अच्छा उदाहरण राजा पुरूरवा का है। वह परम यशस्वी सम्राट् था। उर्वशी की सगति मे पड गया। अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा। उर्वशी का विरह

उसे असह्य हो गया। परन्तु बाद मे ज्ञान का प्रकाश उसके मस्तिष्क मे पडा। उसे होश आया तब शोक हटा। मन मे बडा वैराग्य हुआ। बडा पश्चात्ताप करने लगा। बडे भाग्य से ही, परमात्मा की कृपा से ही, मनुष्य कुसगति के चक्कर से छूट पाता है।

"अपनेको छोड़कर जाती हुई उस उर्वशी के पीछे राजा पुरुरवा व्याकुल होकर उन्मत्त के समान नग्नावस्था में ही, 'अरी कठोर कामिनी, ठहर जा,' ऐसा कहते हुए और रोते हुए दौड़े" ॥५॥

"उर्वशी मे आसक्त-चित्त हुए पुरुरवा ने क्षुद्र भोगो को भोगते हुए अतृप्त भाव से वर्षो तक रात्रियो को आते और जाते नहीं जाना" ॥६॥

"(वैराग्य होने पर) पुरुरवा ने कहा—ओह, मुझ काम-कलुषित चित्त के मोह का कैसा विस्तार है? स्त्री के गले मे हाथ डाले रहने से मैंने अपनी आयु के इतने दिन और रातो को जाते हुए नहीं जाना" ॥७॥

पहले तो पुरुरवा कामन्ध हो गया। 'न पश्यति जन्मान्धो कामान्धो नैव पश्यति।' उसे उर्वशी के सिवा कुछ दिखाई नही देता था। उसकी आत्मा के साथ, सद्‌गुणो के साथ उसका प्रेम नही था। उसके शरीर, रूप, सौन्दर्य पर वह रीझा हुआ था, उसके हाव-भाव ने उसे पागल बना दिया था। जब उर्वशी उसे छोडकर भागने लगी तो वह नग्न ही उन्मत्त की भाति उसके पीछे दौडा। उससे तरह-तरह से अनुनय-विनय करने लगा। कहने लगा—'तू कितनी निष्ठुर, वेपीर है, इतना प्रेम लगा के कैसे मुझे छोडकर भागी जा रही है? अरी थोडा तो ठहर।' उसका चित्त उर्वशी मे इतना उलझ गया था, आसक्त हो गया था कि काम-भोग से उसे तृप्ति ही नही होती थी। विषय-भोग मे इतना डूब गया था कि वर्षों की रात जाती मालूम नही पडती थी। पर जब अतिरेक हो गया तो उर्वशी ने पुरुरवा को छोड़ दिया। तव उसके मन को एक बडा झटका लगा। उसका चित्त उसकी ओर से हट गया। पहले जहा उसके पीछे पागल होकर फिरता था, अब वह अपनी मूढता पर पछताने लगा। कहने लगा—'हाय, हाय, मेरी मूर्खता तो देखो। मुझे पता ही नही लगा कि काम-वासना ने मेरे चित्त को इतना कलुषित कर दिया था। उसके वाहुपाश मे इतना वुरी तरह फंस गया था। मैने आयु के न जाने कितने वर्ष इस तरह खो दिये। कितनी विस्मृति? हद हो गई!' जब मनुष्य किसी वस्तु मे डूब जाता है, उसका मन उसीमे रम जाता है, तो समय जाते देर नही लगती;

पहाड उठाने पर भी उसका बोझ नही लगता। इसके विपरीत मनुष्य का मन न लगता हो तो फूल भी भारी लगता है। एक क्षण भी एक युग की तरह मालूम होता है। तन्मयता मे यही बडी शक्ति है, इसलिए मनुष्य को तन्मय होने मे बडी साव-धानी रखनी चाहिए। किसमे तन्मय होना है—इसका चुनाव बुद्धिमानी के साथ करना चाहिए। बुरी वस्तु मे तन्मय हो गए तो डूबे—अच्छी मे हुए तो तर गए। पुरूरवा पहले तो कामान्ध हुआ—अब ज्ञान के झटके से वैराग्य का उदय हो गया।

"इसके मोह मे पडकर मैंने यह भी नहीं जाना कि कब तो सूर्य उदय हुआ, और कब अस्त; और न इसका पता चला कि इतने वर्षों के दिन कैसे निकल गये?" ॥८॥

"ओह, मेरा कैसा भारी मोह है जिसके कारण राज-शिरोमणि और चक्रवर्ती होकर भी मैंने अपने को स्त्री का क्रीडा-मृग (पालतू पशु अथवा पक्षी) बना दिया" ॥९॥

"राज-पाट के सहित मुझ अपने स्वामी को तिनके के समान त्यागकर जाती हुई स्त्री के पीछे मैं उन्मत्त के समान नगा और रोता हुआ चल दिया" ॥१०॥

"गधे की तरह लात खाता हुआ भी जो पुरुष अपनेको त्यागकर जाती हुई स्त्री के पीछे दौडा गया, उसका प्रभाव, तेज और स्वामित्व कहाँ ठहर सकता है?" ॥११॥

"जिसका मन स्त्रियो ने चुरा लिया उसको विद्या, तप, दान, शास्त्राभ्यास, एकान्त-सेवन और मौन आदि से क्या लाभ हुआ?" ॥१२॥

"अपने भले-बुरे को न जाननेवाले पाण्डित्याभिमानी मुझ मूर्ख को धिक्कार है, जो राजपद पाकर भी बैल और गधे के समान स्त्रियो के वशीभूत हो गया" ॥१३॥

"मैंने वर्षो तक उर्वशी के अधर-रस का पान किया, तथापि अग्नि जैसे आहुतियो से तृप्त नहीं होता वैसे ही मन मे उत्पन्न होने वाली मेरी काम-वासना शान्त नहीं हुई" ॥१४॥

"आत्माराम मुनियो के प्रभु भगवान अधोक्षज को छोडकर कुलटा के (कटाक्षो) द्वारा चुराये गए चित्त को छुडाने मे अन्य कौन समर्थ है" ॥१५॥

"उर्वशी ने सत्य और सुन्दर वचन कहकह कर मुझे समझाया भी, तथापि मुझ अजितेन्द्रिय और दुर्मति के मन का महामोह दूर नहीं होता" ॥१६॥

"अथवा रज्जु के स्वरूप को न जानने वाले, बल्कि उसे सर्प समझनेवाले पुरुष

का जिस प्रकार रज्जु कोई अपकार नहीं करती उसी प्रकार यदि मैं इन्द्रियों को नहीं जीत सका तो उसमें उस (उर्वशी) ने मेरा क्या अपराध किया? (यह तो सब मेरा ही दोष है)"॥१७॥

जो कामान्ध होकर स्त्रियो के पीछे दौडता है, उसमे प्रभाव, तेज कहा से रहेगा? पुरुष हो या स्त्री, जीवन मे तभी आनद रहता है, जीवन तभी सार्थक हो सकता है, जब उसमे प्रभाव और तेज हो। सत्कर्म ही करने और दुष्कर्म से दूर रहने, उनका विरोध करने से प्रभाव आता है। अनुचित, निन्द्य का विरोध करने की वृत्ति या क्षमता का नाम तेज है। यह मनुष्यता का मुख्य लक्षण है। तो जो मनुष्य स्त्री के या ऐसी ही किसी दूसरी वस्तु के पीछे सुध-बुध खोकर पागल बन जाता है, उसमे मानवोचित गुण कैसे रह सकते है? जिसका मन स्त्री ने या किसी और ने चुरा लिया है, उसकी विद्या और ज्ञान सब निष्फल हो जाता है। उसका मन खुद अपने पास तो रहता नही, अपने कहने मे तो रहता नही—पराये के हाथ रहता है, अत उसका रहना न रहना बराबर हो जाता है। वह यदि कोई तप भी करना चाहे, तो कोई प्रयोजन नही निकल सकता। मन तो कही और है तो ये सब क्रियाएँ केवल शरीर करता रहेगा। वह एकान्त सेवन भी करेगा तो वही विचार मन मे आवेंगे—मौन रहेगा तो जबान भले ही न चले, मन तो चलता ही रहेगा। 'मिलते नही फिर भी मुलाकात होती है।'

कोई हमको अपने मोह-जाल मे फसाता है। हमपर अपने रूप-यौवन का जादू करता है तो दोष उसका या हमारा, जो उसमे फँस जाते है। यदि उसने जान-बूझकर जाल फैलाया है तो हमारे फस जाने से उसे तो कामयाबी मिली—हार या हानि हमारी है जो उसमे फस गये। दोष हमारा है, जो न चाहते हुए भी उसके चक्कर मे आ गये। अत इसमे हमे दूसरो को बुरा न बताकर अपनेको ही बुरा-भला कहना चाहिए। पुरुरवा यही कर रहा है। वह कहता है—

'मैं अपनेको बडा पडित मानता हू—किन्तु मुझे अपने हानि-लाभ का ही ध्यान नही रहा—तो मुझ-जैसे मूर्ख को धिक्कार है। कहा मैं चक्रवर्ती सम्राट, कहा गधे-बैल की तरह एक स्त्री के फदे मे फस गया।

'काम-वासना से बढकर कोई प्रबल वेग नही। उर्वशी के होठ क्या थे, मादक मदिरा थी। मै उसे सुधा-रस समझ के पीता था। सोचा था, इससे तृप्ति होगी। किन्तु मेरी काम-वासना उल्टी और भडकने लगी, जैसे आग मे घी पड

जाता है। अमृत के भरोसे मैं मदिरा को पीता रहा। अब मुझे अपनी भूल समझ मे आई। उसने तो मेरा चित्त चुराने मे कसर नही रखी। परन्तु भगवान की कृपा ने मुझे जगा दिया। उसके बिना कौन मुझे इस फदे मे निकाल सकता था? भगवान दुखियो की सुनते है। वह बिना कहे ही भक्त की आपत्ति को समझ लेते है। वैसे वह आत्माराम है। अपने-आपमे मग्न है। परन्तु भक्तो को उनकी असीम कृपा-करुणा का अनुभव होता है। वह सचमुच मेरे लिए दया-सागर सिद्ध हुए। यद्यपि इन्द्रियो से भगवान को जानना-पहचानना सभव नही फिर भी उनकी करुणा, अनुग्रह से उनकी प्रतीति अवश्य हो जाती है। ससार मे जो मनुष्य जीते-जी मुक्ति का अनुभव करते हैं, उनके भी वह स्वामी की तरह है। उनको भी भगवान के आश्रय की आवश्यकता रहती है।

और मेरी इस दुर्दशा के लिए उर्वशी को दोष देना उचित नही। उसने तो मुझे समझाया भी था, यथार्थ बात बताई थी। वैदिक सूक्त वचनो के द्वारा मुझे बोध कराने का प्रयत्न किया था। स्त्री—कामिनी होते हुए भी उसने मुझे जगाने, सावधान करने का प्रयत्न किया था। पर मेरी ही अक्ल मारी गई थी। उसके उपदेश से मेरा मोह नही हटा, ओफ वह कैसा भयकर था? जब अपनी इन्द्रियो पर से ही मेरा काबू टूट गया था तो वह भी क्या करती?

'जो रस्सी को साप समझ के दुखी होता है तो रस्सी का क्या कसूर? नारी जो पूजा करने योग्य होती है, उसे कामिनी समझ के मैं उसके मोह मे फस गया। तो उसका क्या दोष? उर्वशी बेकसूर है—सच्चा अपराधी मैं खुद हू—मैं ही अपने मन और इन्द्रियो पर काबू खो बैठा था।'

"कहा तो यह अति मलिन और दुर्गन्ध आदि से पूर्ण स्त्री का अपवित्र शरीर और कहा सौहार्द, प्रेम, आदि दिव्य गुण! अविद्या से ही इनका ऐसे शरीर मे अध्यास हो रहा है" ॥१८॥

"यह शरीर क्या माता-पिता का धन है? अथवा स्त्री, स्वामी, अग्नि, कुत्ते और गृद्धो मे से किसीका है? क्या यह अपना है, या बन्धुओ का? इस प्रकार इसके विषय मे कुछ भी निश्चय ही नही होता" ॥१९॥

"ऐसे अपवित्र और अन्त मे घृणित दशा को प्राप्त होनेवाले शरीर मे भी अहो इस स्त्री का मनोहर मुखारविन्द, कैसी सुन्दर नासिका और मनोहर मुसकान से

युक्त है। ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है। यह कैसा अद्भुत मोह है?" ॥२०॥

"त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु (नस) मेद, मज्जा और अस्थियो के समूह रूप इस देह में आसक्त पुरुषो और अति अपवित्र मल-मूत्र में सुख माननेवाले कीड़ो में भला कितना अन्तर है?" ॥२१॥

"इसलिए अपना कल्याण चाहनेवाला विवेकी पुरुष स्त्री और स्त्री-लम्पटो में कभी आसक्त न हो, क्योकि विषय और इन्द्रियो के संयोग से ही मन में विकार होता है और किसी कारण से नहीं" ॥२२॥

"जो विषय कभी देखे या सुने नहीं होते उनसे चित्त में उनकी वासना भी नही उठती, इसलिए इन्द्रियो का विषयो से संयोग न होने देनेवाले पुरुष का चित्त शिथिल होकर शान्त और स्थिर हो जाता है" ॥२३॥

हाय! मैं उसके रूप पर मर गया था। उसके गुणो को नही देखा। इस रक्त-मास-मूत्र से भरे शरीर मे मैंने सुन्दरता, मोहकता देखी, उसीमे लुब्ध हो रहा। उसके हृदय के, सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुणो की कीमत नही आकी। प्रेम तो मुझे उसके गुणो से होना चाहिए था—उसके गुण-सौन्दर्य का पुजारी होना चाहिए था, सो तो नही किया, उसके ऊपरी रूप-सौन्दर्य मे फंस मरा। अज्ञान-वश मैने असुन्दर मे सुन्दर का आरोप कर लिया और सच्ची सुन्दरता, पवित्रता, उपयोगिता की ओर से अन्धा हो गया था।

पश्चात्ताप के इस प्रवाह मे पुरुरवा के मन मे तरह-तरह के प्रश्न उठते थे। उसने देखा कि मैने उर्वशी के मोह मे अपने शरीर का दुरुपयोग किया है। तो वह अपने मन से पूछने लगा, क्या इस शरीर पर मेरा इस तरह अधिकार है? क्या यह शरीर मेरी अपनी कमाई है? या माता-पिता का दिया हुआ है? क्या यह मेरी पत्नी की सम्पत्ति नही? क्या यह मेरे स्वामी की खरीदी हुई वस्तु नही? मैं सम्राट् हो गया तो क्या हुआ? मेरा भी कोई स्वामी—परमेश्वर है। क्या यह उसकी धरोहर नही है? क्या यह आग का ईंधन है जो मैंने इसे इस बुरी तरह कामाग्नि मे झोक दिया? क्या यह कुत्तो और गीधो के भोजन की तरह है कि एक स्त्री के चक्कर मे मैंने इसे उसका शिकार बना दिया। इसे केवल अपना कहूं या अपने सगे-सबधियो का तथा दूसरे इष्ट-मित्रो का जिनके सहारे और सहयोग से यह सम्राट् के पद पर पहुचा है। हाय, मेरी क्या गति हुई? आज मैं इन प्रश्नो का सही उत्तर

पाने के भी योग्य नही रहा। मेरी मति कितनी मारी गई है ? मैं सोचता हू तो बुद्धि काम नही करती।

फिर शरीर की रचना पर इसका ध्यान गया। पहले शरीर को भ्रष्ट करने का विचार मन मे आया। अब उर्वशी के शरीर का ख्याल आया। क्या उसका यह शरीर सचमुच सुन्दर है, या मल-मूत्र से भरा, अपवित्र है ? सुन्दर यदि कुछ है भी, तो ऊपर की चमडी है। बदसूरत होने पर भी अन्दर तो सबके हाड-मास, रुधिर, मूत्र ही मिलेगा। और आखिर इसका अन्त भी क्या होता है ? प्राण निकल जाने पर या तो गाडा जाता है, या जलाया जाता है, या पशु-पक्षियो का ग्रास बनता है, जो उसे खाकर विष्ठा कर देते है। सड जाने पर कीडे पड जाते हैं—जलाने पर राख का ढेर हो जाता है। जिस शरीर पर लोग इतने लट्टू होते है, पागल बने मारे-मारे फिरते है, उसका यह हाल है। वे कैसे मूर्ख है, जो कहते है—'इस स्त्री का मुख कितना सुन्दर है ? इसकी नाक कैसी तीखी है—सुआ की तरह। मन्द-मन्द मुसकान का तो कहना ही क्या ?' कैसे मन्दमति है ये लोग ?

इसमे कोई शक नही कि यह शरीर त्वचा, मास और हड्डियो आदि का ढेर है तथा मल-मूत्र से भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमे रमता है तो मल-मूत्र के कीडे मे और उसमे अन्तर ही क्या रह गया ?

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी दशा मे अपने विवेक को न खोये। सुन्दरियो के फेर मे न पडे और स्त्री-लम्पट पुरुषो का सग न करे। स्त्री-पुरुष-सबधो मे नीति और धर्म की मर्यादा को न छोडे। वैसे तो मनुष्य आमतौर पर विवेक-बुद्धि को सभाले रहता है। फिर भी कामवेग मे भान भूल जाता है। काम-विकार उत्पन्न होता है विषय और इन्द्रियो के सयोग से। कोरे मन मे ही विकार उत्पन्न हुआ और उससे इन्द्रियाँ प्रभावित या सचालित नही हुई, इन्द्रियो का सहयोग नही मिला तो वह विकार वही तक आकर रुक गया। केवल मन ही थोडा दूषित हुआ। मन मे विकार आते ही हमे सभलना चाहिए। इन्द्रियो पर उसका असर न होने देना चाहिए। विकार आया भी तो उसके प्रभाव मे कोई आचार नही होने देना चाहिए। यदि इतनी सावधानी या जागरूकता हम रख पाते है तो फिर सहसा विकार-ग्रस्त होने का अवसर नही मिलता।

"अतएव, इन्द्रियो के द्वारा भी कभी स्त्री और स्त्री-लम्पटो का सग न करना चाहिए। मन-सहित इन पांच ज्ञानेन्द्रियो का विश्वास तो विवेकी और बुद्धि-

सम्पन्न पुरुषो को भी न करना चाहिए। फिर मुझ जैसे कामान्ध और अज्ञानी की तो वात ही क्या है?" ॥२४॥

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, इस प्रकार कहता हुआ वह राजाधिराज पुरुरवा उर्वशी-लोक को छोड़कर चला गया। अपने अन्तःकरण में आत्मा-रूप से स्थित मुझ परमात्मा को जानकर तथा उस आत्म-ज्ञान से मोह-रहित होकर उपरत (शान्त) हो गया" ॥२५॥

शरीर का विचार करते-करते वह विकार और उसके मूल कारण तक पहुंच गया। अव धीरे-धीरे पुरुरवा का विवेक जाग्रत होने लगा। उसने पूछा—'यह विकार क्यो होता है? जव कोई वस्तु देखते हैं, या मन मे उसका विचार-चिन्तन करते है तभी विकार पैदा होता है? जिसकी कल्पना ही मन मे न आई तो उसके प्रति विकार कैसे होगा? अत अच्छा तो यही है कि ऐसी वस्तुओ को मन मे ही न आने दे, जिनसे विकार पैदा होता है। और यदि मन मे आ गई तो उसके साथ इन्द्रियो का सयोग न होने दे। ऐसा करने से मन अपने-आप निश्चल होगा और काम-विकार आने की सम्भावना न रहेगी। मन पर पहरा बिठाना ही सर्वोत्तम है।

मन वडा बुरा साथी है। साथी का कर्त्तव्य और धर्म तो यह है कि अच्छे काम मे साथ दे, वुरे से वचावे। पर यह मन वुरे मे भी हमारा साथ देता है। जव विकार आता है तो यह उसकी पुष्टि मे अनुकूल दलीले लाकर खडा कर देता है—अनुकूल सामग्री लाने-जुटाने की प्रेरणा करता रहता है और यदि हम विवेक से सावधान न रहे तो यह न जाने कहा का कहा हमे बहा ले जाता है। मन तो एक अन्धाधुध वेग है, उसे कभी साथी न बनाना चाहिए। उसपर सदा अकुश रखना चाहिए। अलवत्ते विवेक हमारा सच्चा साथी है। मन के साथ-ही-साथ विवेक को भी जोड रखना चाहिए। इसके लिए यह अच्छा है कि हम वाणी, मन, कान आदि से स्त्रियो और स्त्री-लम्पटो का सग न करे। स्त्री पुरुष के मोह मे फसती कम देखी जाती है। पुरुप जल्दी विह्वल होता देखा गया है। इसलिए पुरुप को अधिक सजग रहना चाहिए। स्त्री मे लज्जा अधिक होती है, इसलिए भी वह वहुत वच जाती है। पुरुष मे आवेग और स्त्री मे सयम की शक्ति अधिक पाई जाती है। इसलिए पुरुषो को वहुत होशियार रहने की जरूरत है।

पुरुरवा कहता है, मैं तो केवल सम्राट् हू, कोई विद्वान, ज्ञानी नही। परन्तु वडे विद्वानो और तपस्वियो के लिए भी अपना मन और इन्द्रियाँ विश्वसनीय नही

साबित हुई हैं। तो मुझ-जैसो की तो क्या कथा? विश्वमित्र का क्या हाल हुआ? मेनका का जादू उनपर चल ही गया न? रावण इतना विद्वान था, फिर भी सीताजी को चुरा के ले ही गया। ब्रह्माजी का मन अपनी पुत्री पर ही चलायमान हो गया था। इन्द्र ने अहल्या के सतीत्व को दाग लगा ही दिया। तो फिर साधारण पुरुष की क्या बात?

भगवान कहते हैं कि उद्धव, जब पुरुरवा के मन मे ऐसे पश्चात्ताप के उद्गार उठने लगे तो उसने उर्वशी-लोक को छोड दिया।

"इसलिए बुद्धिमान पुरुष कुसग छोडकर सत्पुरुषो मे अनुराग बढावें। इसमे वे सतजन अपने सदुपदेशो से उसके मन की विषयासक्ति को छिन्न-भिन्न कर देंगे" ॥२६॥

"सन्तजन सदा निष्काम मुझमे ही चित्त लगानेवाले अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममता-शून्य, अहंकार-रहित, द्वन्द्वहीन और अकिंचन होते हैं" ॥२७॥

'हे महाभाग, उद्धवजी, उन परम सौभाग्यवान सन्तजनो मे परस्पर नित्य मेरी कथा-वार्ता हुआ करती है, जो मनुष्यो के लिए हितकारिणी है, और (श्रवणादि द्वारा) अपना सेवन करनेवाले लोगो के सपूर्ण पापो को नष्ट कर देती है" ॥२८॥

"जो लोक मुझमे चित्त लगाकर श्रद्धा और आदर सहित उन कथाओ को सुनते, कहते और अनुमोदन करते हैं, वे मुझमे अनन्य भक्ति प्राप्त करते हैं" ॥२९॥

भागवतकार ने भागवत मे जगह-जगह भगवान के या दूसरो के मुख मे भगवान की लीला-कथाओ, नाम-सकीर्तन की महिमा कहलाई है। क्योंकि वे सारे पाप-तापो को धो डालती हैं, बशर्ते कि लोग आदर और श्रद्धा से उन्हे सुने। जो इस प्रकार सुनते हैं, खुद गान करते हैं या उनका अनुमोदन भी करते हैं वे, भगवान कहते है कि, मुझे पा लेते हैं, मुझमे तन्मय हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति को पा जाते है।

यहा आदर और श्रद्धा के साथ लीला-कथा सुनने आदि पर जोर दिया गया है। गीता मे भी भगवान ने कहा है कि अश्रद्धालु लोगो के लिए गीता का ज्ञान नहीं है। यह बात मानस-शास्त्र के बिल्कुल अनुकूल है। जिसमे जिसकी रुचि नहीं होती उसमे उसका मन नहीं लगता। मन नही लगेगा तो उसकी सिद्धि मे इन्द्रिया प्रवृत्त ही नहीं होगी और हुई भी तो ऊट-पटाग शारीरिक क्रियाए—जड यन्त्रवत होकर रह जायगी, जो समय है, लाभ के बदले हानि ही पहुचावें। अत

आदर और श्रद्धा से पहले रुचि उत्पन्न होनी चाहिए। आदरपूर्वक किसी काम को करने से हम उसकी प्रेरणा दूसरो को भी देने मे रुचि रखने लगते है। श्रद्धापूर्वक करने से फिर हमे उसमे से कोई हटा नही सकता। अत एक भगवान का गुणगान ही नही ससार और लोक-व्यवहार के भी यावत कर्म मनुष्य को रुचि, आदर और श्रद्धा के साथ करने चाहिए। तभी वे वास्तविक लाभ पहुचाते हैं—हमको भी दूसरो को भी।

"मुझ अनन्त गुण सम्पन्न आनन्दानुभव-स्वरूप परब्रह्म में भक्ति प्राप्त कर लेनेवाले साधु पुरुष को और क्या पाना शेष रह जाता हैं" ॥३०॥

भक्ति से भगवान मिल गए—अब पाना क्या शेप रहा? भगवान कहते है कि ससार मे जितने अचिन्त्य, अनन्त, कल्याण-मय गुण है, उन सबका मैं आश्रय हू। ये कही बाहर से नही आते, मुझमे ही, मेरे ही आश्रय से रहते है और फैलते है। मेरी भक्ति से ये सब मनुष्य को प्राप्त हो जाते है। फिर मेरा स्वरूप भी क्या है? भक्तो ने जो मेरी अनेक मूर्तिया मान रखी है या अपनी रुचि-श्रद्धा के अनुसार बना, रखी है, वही मेरा रूप नही है। वह तो मेरी बाह्य आकृतिया हैं—मेरे शरीर के अनेक रूपो की अपने भावानुसार कल्पना करके भक्तो ने बनाई है। मेरा असली भीतरी रूप तो केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा ही है। मै साक्षात परब्रह्म हू। मेरी भक्ति से केवल मेरे शरीर का सान्निध्य, या मेरे थोडे-से ऊपरी गुणो की ही प्राप्ति नही होती, बल्कि इन भीतरी शक्तियो, गुणो और वास्तविक रूप की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी मेरी भक्ति जिसे मिल गई वह तो पूरा सन्त हो गया। अब उसे कुछ पाना-लेना शेप नही रहा। फिर मामूली सासारिक सुख-दुखो के प्रभावो की तो बात ही क्या? ये उसके पास तक फटकने नही पावेंगे।

"जिस प्रकार भगवान अग्निदेव का आश्रय लेनेवाले पुरुष के शीत, भय और अन्धकार तीनो की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार साधु पुरुषो का सेवन करने से पाप, ससार-भय और अज्ञानादि कोई नहीं रहते" ॥३१॥

"इस भयंकर संसार-सागर में डूबने-उतराने (नीची-ऊंची योनियो में जन्म लेने) वाले पुरुषो के लिए ब्रह्मवेत्ता और शांतिचित्त साधुजन ही परम अवलम्ब हैं, जैसे जल में डूबते हुओं के लिए नौका" ॥३२॥

"जैसे अन्न ही देहधारियो का जीवन है, मै ही दीन-दुखियो का सहारा हू तथा

परलोक मे जैसे धर्म ही मनुष्य का धन होता है, उसी प्रकार ससार से भयभीत पुरुषो के लिए सन्तजन ही परम आश्रय होते हैं" ॥३३॥

"आकाश-मण्डल मे उदय हुआ सूर्य मनुष्य को केवल बाह्य नेत्र देता है किन्तु, सन्तजन उसे ज्ञान-रूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं। अत सन्तजन देवता और बन्धु-रूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात मेरे स्वरूप ही हैं" ॥३४॥

अब भगवान कहते है—उन भक्तो और सन्तो की बात छोड दो। जो उन सन्तो की शरण म जाते है वे भी निहाल हो जाते है। उनका अज्ञान चला जाता है। उससे उत्पन्न कर्म-जडता, शिथिलता, आलस्य, प्रमाद मिट जाता है। ससार मे बार-बार आवागमन का भय, सासारिक मोह, लोभ, काम-क्रोध आदि विकारो का प्रभाव भी नही रहता। आग का आश्रय लेनेवालो को सर्दी और अधेरे का भय कैसे रह सकता है?

सीधे भगवान की प्राप्ति कठिन है तो ससार मे ऐसा भी साधन होना चाहिए, जिसके द्वारा मनुष्य सरलता से भगवान तक पहुच सके। अत भगवान कहते हैं कि सन्त ही, भक्त ही वह निरापद आश्रय हो सकता है। भक्त भगवान की तरफ जाना चाहता है, सन्त ब्रह्मवेत्ता होता है। भक्त व्याकुल रहता है, भगवान को पाने के लिए। सन्त को प्राप्ति हुई रहती है अत वह शान्त रहता है। भक्त जब ब्रह्मवेत्ता हो जाता है तो सत कहलाता है। ससारी जीवो के लिए ऐसे सन्त ही मार्गदर्शक या आश्रय हो सकते है जैसे जल मे डूब रहे लोगो के लिए दृढ नौका।

सतो की बडाई करते-करते भगवान यहातक कह गए कि अधिक क्या कहू—स्वय मैं ही सन्त के रूप मे विद्यमान रहता हू।

"हे उद्धव, इस प्रकार उसी क्षण से उर्वशी के देखने की इच्छा छोडकर सुद्युम्न-नन्दन राजा पुरुरवा अनासक्त और आत्माराम होकर इस पृथ्वी तल पर विचरने लगा" ॥३५॥

इलानन्दन पुरुरवा को जब इस तरह आत्म-ज्ञान हो गया, उसके मन मे उर्वशी की या उर्वशी लोक की कोई स्पृहा नही रही। वह जीवन की असलियत को पा गया। उसे परम सतोष हो गया। आसक्ति चली गई। अपनी आत्मा के ही अन्दर वह सुख मानने लगा—आत्माराम हो गया। फिर वह निर्भय, निर्द्वंद्व होकर पृथ्वी पर विचरने लगा।

२७

क्रिया-योग

[किसी भी व्यवस्था को परिपूर्ण बनाने के लिए मत्र, तन्त्र और यत्र तीनो की आवश्यकता होती है। मन्त्र से ज्ञान और मार्गदर्शन होता है, तन्त्र से उसकी पूर्ति की योजना बनती है और यन्त्र से कार्यक्रम बनता है। क्रिया-योग इस यन्त्र का ही दूसरा नाम है। इस अध्याय मे मुख्यत भगवान की प्राप्ति का क्रिया-योग बतलाया गया है।]

जिस समय श्रीमद्भागवत की रचना की गई भारत मे वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रचलित थी। अब भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे वह है। परन्तु अब उसकी जगह समाजवादी व्यवस्था की तैयारी हो रही है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के लिए विधि-विधान बने थे, जिनमे उनकी मर्यादाए और कर्तव्य-पालन की रीति-नीति व नियम बताये गए थे। उन सीमाओ के अन्दर ही वे घर तथा समाज का, धर्म-कार्यों का, सचालन करते थे। उस काल मे व्यक्ति का सारा जीवन ही, वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, धर्म पर आश्रित था तथा धर्म के दायरे मे आता था। इनके प्रतिबन्ध इतने बडे और विविध थे कि जन-साधारण की ओर से यह आवाज उठा करती थी कि भगवान को पाने की सरल विधि, सुगम व्यवस्था होनी चाहिए। इसी चिन्तन मे से भक्ति-मार्ग का उदय हुआ। इसमे सिर्फ इतना ही देखा जाता है कि व्यक्ति की गति, ध्यान, भगवान की ओर है या नही। यदि है तो फिर भगवान को पा लेना सहज है। वह केवल इतना ही ध्यान रक्खे कि उसके सब कर्म भगवान के लिए हो, अपने लिए नही। इसकी सिद्धि के लिए भगवतआराधन जरूरी है। व्यक्ति का भगवान के साथ मिलन, व्यक्ति का समष्टि मे समावेश, योग है। यह अनेक प्रकार का है। हठ-योग, राज-योग, कर्म-योग, भक्ति-योग क्रिया-योग। अर्थात जिस विधि से भगवान

को पाया जा सकता है वह सभी योग मे समा जाता है। पतजलि ने 'चित्त-वृत्ति के निरोध' द्वारा भगवान की प्राप्ति का मार्ग बताया है। यहा उद्धव भगवान से पूछते हैं कि आपकी पूजा-अर्चा सबसे सरल है। सभी उसे कर सकते हैं। धर्म और शास्त्र के विधि-निषेध से वह परे है। अत उसीकी विधि मुझे बताइए।

उद्धवजी बोले—"हे सात्वत-श्रेष्ठ प्रभो, भक्तजन आपके जिस विग्रह मे, जिस प्रकार आपकी उपासना करते हैं, वह अपना आराधना-रूप क्रिया-योग आप मुझसे कहिए" ॥१॥

"नारद भगवान, व्यासदेव तथा अगिरा के पुत्र आचार्य बृहस्पति आदि मुनिगण आपके इस क्रिया-योग को ही बारबार मनुष्यो के परम कल्याण का साधन बतलाते हैं" ॥२॥

"आपके मुखारविन्द से ही निकले हुए एक क्रिया-योग को पहले ब्रह्माजी ने अपने पुत्र भृगु आदि को और भगवान शकर ने पार्वतीजी को सुनाया था" ॥३॥

"हे मानद, यह क्रिया-योग समस्त वर्ण और आश्रमो को अभिमत है तथा मैं इसे स्त्री और शूद्रादि के लिए भी परम कल्याणकारी समझता हू" ॥४॥

यह क्रिया-योग न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि वर्णो के ही लिए या ब्रह्मचारी, गृहस्थ आदि आश्रमो के लिए ही उपयोगी है, बल्कि स्त्री-शूद्रादि के लिए भी भगवान का द्वार खोलना है। यह सभीके लिए कल्याणकारी है। भगवान सबका है—अकेले विद्वानो, धनवानो, सत्ताधारियो या गृहस्थो अथवा सन्यासियो का ही नही है। एक समय था जब स्त्री और शूद्र आदि वेद के अधिकारी नहीं समझे जाते थे। तब सुधारक आचार्यो ने उनके लिए रास्ता निकाला। सरल पूजा-विधि तैयार की। वैसे तो सारा भारतीय तत्वज्ञान या धर्म-शास्त्र, वेद के ही आधार पर खडा है, मूल स्रोत वेद ही हैं, फिर भी ऐसी तान्त्रिक विधिया पूजा-उपासना की निकाली गई कि जिनमे वेद-मर्यादा की रक्षा भी हो और स्त्री-शूद्रादि को भगवान के पाने का सरल मार्ग भी मिल जाय। उद्धव कहते हैं कि भगवान का यह क्रिया-योग शूद्र आदि सभी के लिए भी परम श्रेष्ठ है, सो उसीका विधान उन्होंने भगवान से पूछा।

"हे कमल-दल-लोचन, हे जगदीश्वरो के भी ईश्वर, इस कर्मबन्धन के छुडानेवाले परम धर्म का आप अपने अनुरक्त भक्त, मुझसे, वर्णन कीजिए" ॥५॥

ससार मे आये दिन दु ख, कष्ट, क्लेश आते रहते हैं। किसीको ये पसन्द नहीं

फिर भी ये आते है और मनुष्य को, इन्हे चाहे या न चाहे भोगना ही पडता है। मनुष्य इनसे छुटकारा चाहता है। इसके अनेक उपाय उसने खोजे। उसने समझा कि ये दु ख अधिकाश मे हमारे ही कर्मों के फल है। कर्मफल भोगने पडते है तो क्या कोई ऐसा उपाय नही है जिससे कर्म-फलभोग या कर्म-बन्धन से छुटकारा मिल जाय? उद्धव कहते है कि यह क्रिया-योग ऐसा है जिससे हम कर्मबन्धन से, अतएव दु ख-भोग, से बच सकते हैं।

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, इस अनन्तपार कर्म-काण्ड का कोई अन्त नहीं है। अतः पूर्वापर-क्रम से मै संक्षेप में ही उसका वर्णन करता हूं" ॥६॥

भगवान कहते है, न कर्मों की कोई सीमा है, न कर्मकाण्ड की हो सकती है। मनुष्य के मन मे जितने भाव आते है, सकल्प उठते है, या कल्पनाए आती है वे सब किसी-न-किसी रूप मे कर्म की प्रेरणा देती है और उनके फलस्वरूप नाना कर्म हमारी इन्द्रियो के द्वारा होते है। मन मे सकल्प या कल्पना का उठना स्वय भी एक मानसिक कर्म है। परन्तु हमने 'कर्म' उस क्रिया को कहा है जो इद्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है, और इन कर्मो के जो विधि-निषेध बताये गए है, उसी-को कर्मकाण्ड कहा है। कौन-सा कर्म उचित है, कौन-सा अनुचित, साथ ही कौन-सा कर्म किस विधि-विधान से किया जाय इसका वर्णन जिसमे हो उसे कर्म-शास्त्र कहेगे।

मनुष्य के कर्मों के दो विधान हो जाते हैं। एक वे जिन्हे किसी उद्देश्य से, किसी फल की प्राप्ति के लिए करते है। वे सकाम कहे जाते हैं। पुत्र, धन, सुख, यश, वैभव आदि की प्राप्ति तथा सकट, शत्रु, आदि के निवारण के उद्देश्य से, सकल्प से, जो कर्म किये जाते हैं वे 'सकाम' कहे जाते है। जो कर्म ऐसी किसी लौकिक कामना के लिए नही, केवल भगवान के प्रीत्यर्थ, भगवान को पाने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किये जाते है, वे निष्काम कर्म माने जाते हैं। अनुभव से यह देखा गया है कि 'सकाम' कर्मो से दु ख अधिक व सुख कम होता है—कर्म-बन्धन एक के बाद दूसरा आता ही रहता है। सुख या यश-वैभव की एक सीढी चढे तो दूसरी आगे की सीढी पर चढने का मन होता है। इन सीढियो का कोई अन्त नही आता। इसी तरह एक शत्रु-नाश के लिए उपाय किया तो दूसरा खडा होता है, या कुछ समय के बाद वही, दूसरे रूप मे, कष्ट देने और उपद्रव करने सामने आता है। यही सकाम कर्मो का तथा उनके फल-भोग का ताता लगा ही

रहना है। इसका कहीं अन्त होना चाहिए। विचार, चिन्तन और अनुभव ने बताया कि यदि हम उन कर्मों को निष्काम भाव से करे, भगवान के अर्पण करें, भगवान के निमित्त करे, तो फिर इनका फल भगवान पाते है, हम नही। हम तो केवल उनकी कृपा और अनुग्रह को ही पाकर रह जाते है। उन कर्मों से यदि सुख-दुख की उत्पत्ति होती है तो उनके भागी भगवान हैं, हम नही। भगवान जाने और उनका काम जाने।

जब हम किसी दूसरे के निमित्त उसे सुख या दुख पहुचाने की भावना से कर्म करते है, या दूसरे व्यक्ति समझते हैं कि हमे कष्ट या दु ख देना या हानि पहुचाने के लिए यह कर्म किया गया है, तो वे हमे कष्ट या हानि पहुचाते हैं। जब वे यह देखते हैं कि ये कर्म केवल पूजा, उपासना, भगवान की प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से किया जाता है तो उनकी ओर से हमे कष्ट या दु ख पहुचाने का कोई प्रयत्न नही होता, और यदि हुआ भी तो हमे उसके सहन करने का बल मिल जाता है और भगवान का अनुग्रह भी हमारी सहायता करता है। इस तरह निष्काम कर्म से हमारी बडी बचत और सहायता होती है

सो भगवान कहते हैं कि क्रिया-योग मे कर्मकाण्ड का बडा विस्तार है। पूरा सुनाऊगा तो तुम चक्कर मे पड जाओगे। अत मैं थोडे मे यहा बताता हू।

"मेरी पूजा की वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र तीन विधिया हैं। इन तीनो मे से जो भी अपनेको अनुकूल जान पड़े उसीसे मेरी उपासना करें" ॥७॥

पूजा की तीन विधिया बताई—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। वैदिक व तान्त्रिक विधि के बारे मे पूर्वार्ध मे अच्छा प्रकाश डाल चुके हैं। इनमे किसीपर भी जोर न देकर भगवान कहते है कि भक्त को जो भी अनुकूल जान पडे उसी विधि से मेरी आराधना करे। यहा भगवान का उद्देश्य है सरलतम विधि बताना। जिनको जो विधि अनुकूल पडेगी वही उनके लिए सरल होगी। यदि मानव-मात्र को भगवान की प्राप्ति सुलभ बनानी है तो उसके मार्ग भी ऐसे ही सुगम बनाने होंगे जिनसे प्रत्येक व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, युवा, अमीर, गरीब सब उनपर चल सकें। वे चलें भी और उन्हे कष्ट भी अनुभव न हो। जैसे नृत्य, सच पूछिये तो, एक कसरत है। परन्तु उसकी ऐसी रमणीय, सुकुमार विधि चला दी कि लोग उसे कसरत न समझकर एक कला समझते है। इसी तरह पूजा-विधान ऐसा होना चाहिए कि लोग खुशी-खुशी गृह-संसार, माया-प्रपच, को छोड़-

कर भगवान की तरफ जाने लगे। वह पूजा-विधि इतनी आकर्षक हो कि भक्त का मन उसीमे रम जाय और उसके कारण सासारिक सुख-वैभव छोडना पडे तो उसके मन पर जरा भी वजन न पडे। उत्तम शिक्षा-विधि इसीको कहते है। इसीलिए मै कहता हू कि यह भक्ति-मार्ग असल मे बडा योग है, परन्तु इसकी विधि ऐसी बनाई है कि भक्त के भोग अपने-आप पूरे होने या छूटने लगते है और वह बिना जाने ही योग-सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। भक्त समझता है कि मैं भोग भोग रहा हू, पर अन्दर से भोग छूटते जाते है और योग सधता जाता है। इसलिए भगवान भक्त के लिए उसकी अनुकूल विधि पर ही जोर देते है।

"शास्त्रोक्त विधि से यथासमय यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा द्विजत्व प्राप्त करके पुरुष को जिस प्रकार श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिए वह तुम मुझसे सुनो" ॥८॥

यहा यह बताया गया है कि अपने मन के अनुकूल विधि से तो पूजा करे, परन्तु करे श्रद्धा और भक्ति के साथ—अर्थात मन लगाकर, तन्मय होकर, यह विश्वास रखकर कि मैं अवश्य भगवान तक पहुचूगा। कोई बेगार काटने से, पूजा की खाना-पुरी करने से, काम नही बनेगा, वह तो भगवान को धोखा देना हो जायगा। पूजा-चर्चा-समर्पण जो कुछ है, उसका मन ही से तो गहरा ताल्लुक है। अत मन लगाकर सारी विधि-सम्मत क्रियाए करनी चाहिए।

"उपासको को उचित है कि निष्कपट भाव से प्रतिमा, चबूतरा, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय, अथवा ब्राह्मण में भक्तिपूर्वक यथोचित सामग्री से अपने गुरु-रूप मेरी पूजा करे" ॥९॥

इसमे एक-एक बात महत्त्व की, ध्यान देने योग्य है। केवल श्रद्धा, भक्ति नही, निष्कपट भाव भी होना चाहिए। यहा केवल भगवान को प्रसन्न नही करना है, उनमे मिल जाना है, तद्रूप हो जाना है। समुद्र का जल जो घडे मे आया है, उसे वापस समुद्र मे डाल देना हे। घडा एक शरीर है, उसमे समुद्र-जल जीव की तरह, घिर गया है। वह समुद्र मे पहुचने के लिए लालायित हो रहा है। घडा फोडकर भी उसे समुद्र मे पहुचाया जा सकता है। परन्तु यह विधि कष्टदायक है। अत अच्छा यह है कि घडा समुद्र मे विसर्जित कर दिया जाय। उसमे वह, उसकी मिट्टी, अपने-आप धीरे-धीरे गलकर समुद्र मे मिल जाती है, जल तो पहले ही मिल गया। मिट्टी का घट तो उस जल का आवरण है। यह मनुष्य-शरीर

जीवात्मा और परमात्मा के बीच मे रुकावट है। पूजा-अर्चा, भक्ति-भाव आदि के द्वारा पहले मन को भगवान मे लीन करे, फिर यह देह-रूपी घडा अपने-आप परमात्मा-भाव मे सरावोर हो जायगा। यदि मन सदा-सर्वदा परमात्मा मे लीन रहा, ससार के, गृहस्थी के, यावत् कर्म करते हुए भी, मन भगवान की तरफ रहा तो यह शरीर, ये इन्द्रिया, अपने-आप मन के अधीन होकर भगवान मे, भगवान के कार्य मे, भगवान के निमित्त सत्कर्मों मे लगी रहेगी। यही उसकी सार्थकता है, यही उसकी सरलतम विधि है। अतएव जीव के भगवान मे मिलने के लिए यह जरूरी है कि मन निष्कपट हो—उसमे छल-प्रपच, धोखा-धडी न हो, दिखावा न हो।

फिर यहा भगवान अपनेको पिता और गुरु रूप मे उपस्थित करते हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि पिता और गुरु को जिस पूज्य भाव से हम देखते है उसी भाव मे भगवान का पूजन करे। भगवान तो दीखता नही, साधारण आदमी के मन मे एकाएक उसके प्रति आकर्षण, तन्मयता नही हो सकती। लेकिन पिता और गुरु हमारे सबसे नजदीकी और प्रत्यक्ष देव हैं, जिन्हे हम अच्छी तरह जानते और पहचानते है। अत उनकी याद दिलाकर भगवान ने अपने पूजन का विधान बताया।

आराधन के लिए भगवान किसी एक ही साधन की सिफारिश नही करते है। प्रतीक के रूप मे चाहे आप मूर्ति को ले, चाहे और किसीको जो आपको अनु-कूल, सुविधाजनक नजर आवे उसीको ले लीजिए। और कुछ न हो तो आपका हृदय तो आपके पास है ही। उसीमे आप आराधना कीजिए।

"प्रथम दन्त धावन करके शरीर शुद्धि के लिए वैदिक अथवा तान्त्रिक मत्रो का उच्चारण करता हुआ, मृत्तिकादि लगाकर स्नान करे" ॥१०॥

पहले शरीर शुद्धि के लिए कहा। मिट्टी, भस्म आदि का लेप करके स्नान करना चाहिए, जिससे शरीर बिल्कुल स्वच्छ हो जाय। मिट्टी आदि लगाने से शरीर के रोए की जडे खुल जाती है जिससे बाहर की स्वच्छ हवा शरीर मे जा सकती है। आजकल इसके लिए अच्छा साबुन लिया जा सकता है। मिट्टी और भस्म का अभिप्राय यहा इतना ही है कि ऐसी वस्तु जिससे शरीर का मैल निकल जाय।

"सन्ध्योपासनादि कर्मों का वेद ने विधान किया है। अत सत्य-संकल्प पुरुषों

को चाहिए कि उनके द्वारा कर्मों को पवित्र (कल्याण-साधक) बनानेवाली मेरी पूजा करें" ॥११॥

शरीर-शुद्धि के बाद अब मन का नबर आया। मन को स्वस्थ और शुद्ध करने की आवश्यकता है। उसके लिए सध्या-वन्दनादि का विधान बताया है। यह प्राचीन काल की मन शुद्धि की और मनोबल बढाने की विधि है। जिनका इनपर विश्वास न हो वे कोई और विधि अपना सकते है। मूल आशय यह है कि भगवान की पूजा करने से पहले मन को भी ठीक-ठाक कर ले।

"मेरी प्रतिमा आठ प्रकार की बतलाई गई है। पत्थर की, काष्ठ की, धातु (लोहे, सोना, चांदी आदि) की, चन्दनादि लेप की चित्रित की गई, बालुकामयी, मनोमयी तथा मणिमयी" ॥१२॥

मूर्तियो के सबध मे भी भगवान ने बहुत छूट दे दी है। आठ प्रकार की मूर्तियो मे एक 'मनोमयी' भी बताई है और कोई वस्तु या साधन उपलब्ध न हो तो मन मे ही भगवान की मूर्ति की कल्पना या ध्यान कर लो।

"विधिवत प्राण-प्रतिष्ठा की हुई भगवान की निवास-स्थान-रूप प्रतिमा, चल और अचल दो प्रकार की होती है" ॥१३॥

"हे उद्धव, स्थिर प्रतिमा के पूजन में आवाहन, अथवा विसर्जन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अस्थिर प्रतिमा में चाहे करें, चाहे न करें, परन्तु बालुकामयी प्रतिमा में आवाहन तथा विसर्जन दोनो का करना आवश्यक है। लेपमयी और चित्रित प्रतिमाओ को केवल मार्जन करें, परन्तु और सबको स्नान करावें" ॥१४॥

"भक्तो को चाहिए कि जो सामग्री मिल जाय उसीसे निष्कपट होकर श्रद्धा-सहित मेरी प्रतिमा की पूजा करें। अथवा अपने हृदय में ही मनोमयी सामग्री से मानसिक उपासना करें" ॥१५॥

प्रतिमा भगवान नही, भगवान का मन्दिर है, शरीर है। हम शरीर का पूजन नही, उसमे रहे प्राण, देव, भगवान का पूजन करते है, इसे न भूलना चाहिए।

पूजा अनेक प्रकार के पदार्थों से की जाती है—उनमे प्रसिद्ध तथा मूल्यवान भी है। परन्तु भगवान कहते है, यदि ऐसे पदार्थ न मिले तो अनायास प्राप्त पदार्थ ही काफी है—अरे, वे भी न मिले तो भावना-मात्र से ही हृदय मे पूजा करना काफी है। भगवान पदार्थो के नही, भाव के भूखे हैं। परन्तु यह पद्धति निष्काम भक्तो के ही अनकूल पड सकती है। जो सकाम हैं, उन्हे सम्भवत इससे सतोष न होगा

—अभीष्ट फल-प्राप्ति भी न हो सके। मनुष्य जैसा करता है वैसा पाता है। जैसा चढाता है, वैसा मिलता है।

"हे उद्धव, स्नान और वसनालकार तो (धातु अथवा पाषाणादि की) प्रतिमा के पूजन मे ही उपयोगी हैं। वालुकामयी मे मंत्रो द्वारा अंग और प्रधान देवताओ की प्रतिष्ठा करनी चाहिए तथा अग्नि मे घृत-मिश्रित शाकल्यादि से उपासना करनी चाहिए"॥१६॥

"सूर्य की उपासना मे अर्घ्यदान करना उत्तम है। तथा जल मे तर्पणादि से मेरी उपासना करनी चाहिए। मेरे भक्त द्वारा तो श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी मुझे अत्यन्त प्रिय है"॥१७॥

भिन्न-भिन्न प्रतीको की उपासना की विधि वतलाते है। परन्तु यहा फिर हार्दिक श्रद्धा पर जोर देते है और कहते हैं कि यदि ऐसा भक्त जल भी चढा दे तो मैं उसे वडे प्रेम से स्वीकार करता हू। 'सवरी के वेर सुदामा के तन्दुल रुचि-रुचि भोग लगायो' प्रसिद्ध ही है।

"भक्तिहीन पुरुष के द्वारा समर्पित तो बहुमूल्य सामग्री भी मुझे सतुष्ट नहीं कर सकती, फिर चन्दन, धूप-दीप, पुष्प, नैवेद्य की तो बात ही क्या है?" ॥१८॥

यदि भक्त श्रद्धा से जल भी चढावे या केवल मन से ही पूजन कर ले, तो भगवान उसे पसन्द करते हैं, परन्तु अ-भक्त यदि सोने-चादी के या रत्नो के पदार्थों से भी पूजन करे, निवेदन करे तो उससे भगवान राजी या सतुष्ट नही होते।

कहते है कि जब जल से ही, जो भक्तिपूर्वक समर्पित किया जाय, मैं प्रसन्न हो जाता हू तो फिर बहुमूल्य पदार्थो से क्यो नही? वशर्ते कि गन्ध, पुष्प, नैवेद्य आदि भक्तिपूर्वक अर्पित किये हो।

"स्नानादि से पवित्र होकर पूजन-सामग्री एकत्र कर पूर्व की ओर अग्र भाग करके कुशासन पर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा यदि स्थिर प्रतिमा हो तो उसके सम्मुख बैठकर पूजन करे"॥१९॥

यहा पूजा-सामग्री इकट्ठी करले—यह ध्यान देने योग्य है। यदि सब सामग्री एक जगह जुटाकर सुव्यवस्थित नही कर ली है तो पूजा के समय कठिनाई होगी। मन पूजा मे एकाग्र नही होगा। सामग्री के लिए इधर-उधर दौडेगा, जिससे पूजा मे विक्षेप आवेगा—विक्षेप से अभीष्ट फल की प्राप्ति न होगी। चाहे वह फल इहलौकिक हो, चाहे पारलौकिक।

"फिर विधिवत करन्यास और अंगन्यास करके प्रतिमा में मंत्रन्यास करे और हाथ से प्रतिमा का निर्माल्य (पूर्व-समर्पित सामग्री) हटाकर उसका मार्जन करे तथा कलश और प्रोक्षणीपात्र का यथावत संस्कार करे" ॥२०॥

इसमे अगन्यास, करन्यास और मत्रन्यास को समझने की जरूरत है। न्यास का अर्थ है समर्पित, निवेदित होना—तद्रूप होने की प्रक्रिया। अगन्यास, करन्यास का यह अर्थ है कि पूजा के समय यह भावना मन मे करना कि मेरा अग, मेरा हाथ-पाव, आदि इद्रिया, भगवान के अर्पण हो रही है—उनके अग मे विलीन हो रही है, मेरा अपना स्वतत्र अस्तित्व नही है—सबकुछ भगवान मे है, भगवानमय है—आदि। इसी तरह मूर्ति मे केवल प्रतिमा का नही, भगवान का भाव लावे व ध्यान करे—यह ध्यान करे कि वह मूर्ति नही प्रत्यक्ष भगवान मेरे सामने बैठे है। मूर्ति भगवान के रूप मे बदल रही है, न मुझमे और मूर्ति मे कोई भेद रह रहा है, न मूर्ति मे और भगवान मे।

"तदनन्तर पूजा करनेवाले को चाहिए कि उस जल से पूजा-स्थान, सामग्री और अपने शरीर का प्रोक्षण करे। तथा पाद्य, अर्घ्य और आचमन के लिए तीन पात्रो में जल भरकर उनमें यथायोग्य शास्त्रविहित सामग्री डाले (अर्थात पाद्य-पात्र मे श्यामाक, दूब, विष्णुक्रान्ता—वाराहीकन्द या गेंठी—और तुलसी दल आदि, अर्घ्य-पात्र में गंध, पुष्प, यव, तिल, कुश, सरसो और दूब—ये सब वस्तुएं तथा आचमन-पात्र में जायफल, लवग आदि डाले) और फिर उन्हे क्रमशः हृन्मंत्र, शिरोमत्र और शिखा-मंत्र से अभिमन्त्रित कर अन्त में केवल गायत्री-मंत्र से अभिमन्त्रित करे" ॥२१-२२॥

"फिर प्राणवायु और जठराग्नि से शुद्ध हुए शरीर के भीतर हृदय-कमल मे रहनेवाली मेरी जिस परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ जीवकला की सिद्धगण इसके पश्चात नाद[1] के अन्त मे भावना करते हैं, उसका ध्यान करे" ॥२३॥

"उस आत्मभूत जीव-कला के द्वारा व्याप्त पिण्ड में पहले मानसिक उपचारो से मेरी पूजा करे। फिर तन्मयभाव से आवाहन करके और मत्रो द्वारा अगन्यास करके उसमे मेरा पूजन करे" ॥२५॥

---

१ ॐकार की पाच कलाए हैं—अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद परात्पर ब्रह्म है।

यहातक पूजा के उपचारो का वर्णन किया। यह सामग्री और पद्धति देश-कालानुसार विविध हो सकती है। कमी की पूर्ति मानसिक भाव के द्वारा की जा सकती है।

अब भीतरी क्रिया का वर्णन करते है। पहले प्राणायाम के लिए कहते हैं। इससे एक तो प्राणवायु शुद्ध होती है, दूसरे भावनाओ पर भी प्रभाव पडता है। शरीर मे जो तेज-रूप अग्नि है, वह जाग्रत होती है, शुद्ध होती है। तब ध्यान आरभ करे। शरीर मे कई केन्द्र हैं जहा भगवान का ध्यान किया जा सकता है। पहले हृदय मे कल्पना करे कि कमल खिल रहा है। उसमे परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीप-शिखा जल रही है। यह मेरी जीव-कला का ध्यान है। सिद्ध मुनि ॐकार के ध्यान से जो आरम्भ करते हैं अन्त मे वे भी इस जीव-कला के ध्यान पर आ जाते हैं।

यह जीव-कला और कुछ नही, आत्मा का ही स्वरूप या प्रतिबिम्ब है। थोडे अभ्यास मे सारा अन्त करण और शरीर उसके तेज से भर जाता है। तब मन-ही-मन उसका पूजन करे। इसके लिए वाह्य उपचारो की, पूजा-सामग्री की आवश्यकता नही है। यह भावना करे कि यह तेज मेरे सारे शरीर, प्राण, आत्मा को व्याप रहा है, मैं इसमे डूबा जा रहा हू, खोया जा रहा हू। जब ऐसी तन्मयता आने लगे तो मेरा आवाहन करे और प्रतिमा आदि मे मेरी स्थापना करे। फिर मत्रो द्वारा अगन्यास करके उसमे मेरी पूजा करे। यह सूक्ष्म मानसिक पूजन है।

"धर्म आदि नवशक्तियो से युक्त मेरे आसन की कल्पना करे और उसमे अत्यन्त उज्ज्वल कर्णिका और केसरो सहित अष्टदल-कमल की भावना करे, तथा पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत कर भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिए वैदिक तथा तात्रिक विधि से मेरा पूजन करे"॥२५-२६॥

"फिर सुदर्शन चक्र, पाचजन्य, शख, गदा, खड्ग, वाण, धनुष्य, हल, मूसल, कौस्तुभ मणि, वैजयन्ती माला तथा श्रीवत्सचिह्न की यथास्थान स्थापना करके उनकी पूजा करे"॥२७॥

अब अगले कुछ श्लोको मे विस्तार मे पूजा की प्रक्रिया बताते है। पहले भगवान के आसन के सबध मे जो भावना करनी है, वह बताते हैं। ऐसी भावना करने मे वह आसन अत्यन्त शक्ति-रूप देदीप्यमान प्रतीत होने लगता है और भक्त को ऐसा लगता है मानो वह प्रत्यक्ष तेजोमय कमल-आसन है जिस पर मैं विराज-मान हू।

आसन के वाद फिर भगवान के आयुध, चिह्न, पार्षद, लोकपाल आदि की स्थापना करके उनका पूजन करे। भगवान के विग्रह की सागोपाग पूजा करने के वाद वे कुण्ड मे अग्नि की स्थापना करके उसमे भगवान का ध्यान करने के लिए कहते है। पहले तो भक्त ने प्रतिमा मे भगवान को देखने की विधि की अव अग्नि मे भगवान का ध्यान करने के लिए कहते है। यह वडा आकर्षक, दिव्य ध्यान है। मूर्ति या प्रतिमा की अपेक्षा अग्नि अधिक सूक्ष्म है। प्रतिमा मे अग-प्रत्यग थे— उसमे भगवान का ध्यान करना फिर आसान था। अग्नि की लौ मे भगवान के सपूर्ण, सुसज्जित, सुन्दर अगो का ध्यान करना कठिन है। परन्तु वह साधना, या पूजन मे आगे की ऊपर की सीढी है।

"तदनन्तर नन्द, सुनन्द, गरुड़, चण्ड, प्रचण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विश्वक्सेन, गुरुगण तथा देवगण को अपने-अपने स्थान में स्थापित करके उनका प्रोक्षण आदि क्रम से पूजन करे" ॥२८-२९॥

"यदि सामर्थ्य हो तो नित्य प्रति चन्दन, उशीर, कर्पूर, कुंकुम और अगरु द्वारा सुगधित जल से स्वर्णधर्मानुवाक, महापुरुष विधा, पुरुष-सूक्त तथा सामवेदोक्त राजनादि मंत्रो का पाठ करता हुआ मुझको स्नान करावे" ॥३०-३१॥

"वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गंध, चन्दनादि से मेरा भक्त यथोचित रीति से प्रेमपूर्वक मेरा शृंगार करे" ॥३२॥

'उपासक को उचित है कि श्रद्धापूर्वक पाद्य, आचमन, गंध, पुष्प, अक्षत, धूप और दीप आदि मुझको निवेदन करे" ॥३३॥

"और हो सके तो गुड, खीर, घृत, पूरी, पुए, लड्डू, हलवा, दही और दाल आदि विविध व्यंजनो का नैवेद्य समर्पण करे" ॥३४॥

"नित्य प्रति अथवा पर्व दिनो पर सुगंधित तैल, उवटन, दर्पण, दन्त-धावन, अभिषेक, भाति-भांति के भोज्य एव भक्ष्य पदार्थ तथा नृत्य, वाद्य और गान आदि से मेरा उत्सव मनावे" ॥३५॥

"मेखला, गर्त और वेदी से युक्त विधि-विहित अग्निकुण्ड में अग्नि स्थापित करे और अपने हाथ की हवा से उसे प्रज्वलित करके एकत्र करे" ॥३६॥

"फिर वेदी के चारो ओर कुशा बिछाकर उनका प्रोक्षण करे, तथा विधि-पूर्वक अन्वाधान-कर्म कर होमोपयोगी सामग्री रख उसका प्रोक्षणीय पात्र से प्रोक्षण करे और अग्नि में मेरा ध्यान करे। जो तप्त स्वर्ण के समान तेजोमय है, जिसकी

चारो भुजाए शख, चक्र, गदा और पद्म से सुशोभित हैं, जो शान्त है, तथा कमल केसर के समान जिसके पीत वस्त्र हैं, जिसके दिव्य अंगो में यथास्थान किरीट, केका, करधनी और भुजवन्ध झिलमिला रहे हैं तथा वक्ष-स्थल मे श्रीवत्स, कान्तिमान कौस्तुभमणि और वनमाला सुशोभित होती है, ऐसे मेरे रूप का ध्यान और पूजा कर घृत मे भीगी हुई समिधाओ की आहुति दे और फिर आघार और आज-भाग नाम की दो-दो घृताहुतिया देकर घृत से भीगे हुए शाकल्य की आहुतिया दे"॥ ॥३७-३८-३९-४०॥

"तदनन्तर मूलमत्र से तथा पुरुष सूक्त के १६ मन्त्रो में से प्रत्येक के द्वारा आहुति छोडता हुआ, बुद्धिमान उपासक पूजन-क्रम से धर्मादि देवताओ के लिए, मन्त्रो-द्वारा आहुति दे और स्विष्टकृत हवन भी करे"॥४१॥

"इस प्रकार पूजा और नमस्कार करके पार्षदो को वलि प्रदान करे और भगवान का स्मरण करता हुआ भागवत-स्वरूप का, मूल मत्र का जप करे॥४२॥"

"फिर भगवान को आचमन कराके उनका प्रसाद विश्वक्सेन को निवेदन करे तथा सुगन्धित ताम्बूल और मुखवास अर्पण कर अन्त मे पुन: पुष्पाजलि द्वारा पूजन करे"॥४३॥

"मेरे कर्मो का गान, कथन और अभिनय करता हुआ, प्रेमोन्मत्त होकर नाचता हुआ, मेरी कथाओ को सुनता और सुनाता हुआ एक मुहूर्त के लिए अवकाश ग्रहण करे"॥४४॥

"पुराणो के, अथवा सर्व-साधारण मे प्रचलित नाना प्रकार के छोटे-वडे स्तोत्रो से मेरी स्तुति करके कहे—हे प्रभो, प्रसन्न होइए। और फिर दण्ड की भाति पडकर साष्टाग प्रणाम करे"॥४५॥

"अपना सिर मेरे चरणो मे रक्खे और अपने दोनो हाथो से दायें से दाया और वाए से वाया, मेरे दोनो चरण पकड़कर कहे कि हे प्रभो, मृत्युरूप ग्राह से युक्त इस ससार-सागर मे डरे हुए मुझ शरणागत की आप रक्षा कीजिए"॥४६॥

"इस प्रकार स्तुति कर मुझे समर्पण की गई माला को प्रसाद रूप से आदर-पूर्वक अपने मस्तक पर रखे। और यदि विसर्जन करना हो तो प्रतिमा मे स्थापित ज्योति को हृदयस्थ ज्योति मे लीन करके इस रूप मे विसर्जन करे"॥४७॥

"प्रतिमादि मे जिस समय और जहा उपासक की श्रद्धा हो, तव और उसीमे

मेरी उपासना करे, क्योंकि मैं सम्पूर्ण प्राणियो में और अपने स्वरूप में सर्वात्म-भाव से विराजमान हू" ॥४८॥

"इस प्रकार वैदिक और तांत्रिक क्रिया-योग की विधि से उपासक मेरा पूजन करके लौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार की अभीष्ट सिद्धियां मेरे द्वारा पाता है" ॥४९॥

"उपासक को उचित है, यदि शक्ति हो तो मेरी प्रतिमा की प्रतिष्ठा करके सुदृढ देवालय बनवावे। सुन्दर पुष्पोद्यान लगवावे और मेरी नैत्यिक पूजा पर्व-दिनो पर विशेष-यात्रा तथा वसन्त महोत्सवादि के लिए क्षेत्रादि का प्रबन्ध कर दे" ॥५०॥

"बड़े पर्व-दिनो पर अथवा नित्य प्रति पूजा और उत्सवादि चालू रहने के लिए क्षेत्र, बाजार, पुर अथवा ग्राम के देने से दाता को मेरे समान ऐश्वर्य मिल जाता है" ॥५१॥

"प्रतिमा प्रतिष्ठा करने से सार्वभौम राज्य, देवालय बनवाने से त्रिलोकी का आधिपत्य, पूजादि करने से ब्रह्मलोक और तीनो कर्म करने से मेरी समानता की प्राप्ति होती है" ॥५२॥

"निष्काम भक्ति-योग से भक्त मुझे ही प्राप्त कर लेता है। और जो कोई उपर्युक्त विधि से मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्ति-योग प्राप्त होता है" ॥५३॥

अब विसर्जन ध्यान देने योग्य है। वैष्णव-सम्प्रदाय की रीति-नीति के अनुसार पूजन की विधि बताकर अन्त मे कहते है कि ऐसी भावना करनी चाहिए कि प्रतिमा मे से एक दिव्य ज्योति निकली है और मेरी हृदयस्थ ज्योति मे विलीन हो गई है। बस यही विसर्जन है। पूजा के प्रारभ मे मूर्ति मे भगवान का आवाहन किया जाता है, अन्त मे विसर्जन। पहले उसमे भगवान की प्रतिष्ठा की गई है, अब उनकी ज्योति अपने मे समा लेने के बाद उनका विसर्जन किया गया। भक्त का काम पूरा हुआ। वह इस विशिष्ट पूजा-विधि के द्वारा भगवान मे मिलना चाहता था, विसर्जन के समय भगवान की ज्योति का अपने हृदय मे समावेश करके वह उस स्थिति को पहुचा।

अन्त मे भगवान इस पूजा की बाह्य फलश्रुति कहते है। जो सकाम भाव से पूजा करते है वे इस लोक तथा परलोक मे मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते है। और जो निष्काम भाव से पूजा करते है वे मेरा भक्ति-योग प्राप्त करते है। और

फिर निरपेक्ष भक्तियोग के द्वारा वह स्वय मुझे भी प्राप्त कर लेता है। सकाम भक्त को भगवान निराश नही करते, परन्तु यदि हम भगवान को ही चाहते हैं तो फिर निष्काम कर्म ही उचित है। सकाम कर्म से जो फल मिलते है वे तात्कालिक होते है। सुख-दु खमय होते हैं। निष्काम कर्म से अखण्ड ऐश्वर्य-सम्पन्न भगवान की प्राप्ति होती है।

"जो कोई अपनी दी हुई अथवा दूसरे की दी हुई अथवा किसी और की दी हुई ब्राह्मण या देवता की वृत्ति को हर लेता है वह लाख वर्ष तक विष्टा का कीडा होता है" ॥५४॥

"वृत्ति-हरण आदि अनुचित कर्म का करनेवाला सहायक, प्रेरक अथवा अनुमोदक ये चारो मरने के अनन्तर उस कर्म के समान फल के भोगी होते हैं और अधिक कर्म का फल भी अधिक ही होता है" ॥५५॥

भगवान ने पूजा का सुफल भी बताया और जो अभक्त हैं, दुष्ट हैं, दूसरो को सताते हैं, उनके लिए कुफल का भी विधान कर दिया।

पाठक स्मरण रक्खे कि श्रीमद्भागवत वैष्णव-सम्प्रदाय का ग्रथ है। अत उस सम्प्रदाय की स्वीकृत पूजा-विधि इसमे बताई गई है। वैष्णव-सम्प्रदाय में जैसे भगवान की मूर्ति, अग, आयुध, चिह्न आदि की कल्पना की गई है, उसीके अनुकूल यह विधान है। कहना नहीं होगा कि पूजा-आराधना की पद्धति विविध है और हो भी सकती है। जो इससे भिन्न विधि बनाना या अपनाना चाहे, उन्हे इसमे कोई रुकावट नही माननी चाहिए। यह तो अपनी-अपनी श्रद्धा, अनुकूलता, परपरा और आत्म-सतोष की बात है। यह जरूर है कि यदि इससे भिन्न कोई पूजा-विधि अपनाता है तो हमे उसे निंद्य नहीं मानना चाहिए। हम चाहे उसे न भी अपनावें तो भी अपनी जगह उसका आदर हमे अवश्य करना चाहिए, क्योकि आखिर भगवान तो एक ही है—भले ही उसे पाने के मार्ग भिन्न हो। हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म की यही महिमा है।

२८

परमार्थ-निरूपण

[क्रिया-योग के द्वारा आखिर क्या प्राप्त करना है ? परमार्थ। उसीका निरूपण इस अध्याय मे किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा का मेल-मिलाप ही वह परमार्थ है—यह वताया गया है। सृष्टि का मूलतत्व—आत्मा एक है। उस एकता की सिद्धि मनुष्य को अभीष्ट है। आत्मा की इसी एकता या अद्वैत-तत्त्व का निरूपण इस अध्याय मे किया गया है।]

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, विचारवान पुरुष को चाहिए कि प्रकृति और पुरुष के सहित इस विश्व को एकात्मक देखता हुआ किसीके स्वभाव अथवा कर्म की न तो प्रशंसा ही करे, न निन्दा ही" ॥१॥

क्रिया-योग वताकर भगवान परमार्थ-निरूपण करते है। पहले पूर्वार्ध के तीसरे अध्याय मे, 'माया-ब्रह्म-कर्म-निरूपण' मे तथा कुछ अन्यत्र भी इसका दिग्दर्शन किया गया है। परन्तु अव भगवान स्वय अपने मुख से उसका सागोपाग वर्णन करते है। भागवत का मुख्य विषय ही अद्वैत-सिद्धि है और उसका मार्ग है भक्ति। भक्ति के लिए कोई आधार, आलम्वन चाहिए। वह भगवान है। मनुष्य के लिए कोई जीवन का आदर्श, अतिम लक्ष्य चाहिए। वह है भगवान की प्राप्ति। इसीको अद्वैत-सिद्धि कहते है। जीवात्मा और परमात्मा जो दो समझे जाते है, वे एकत्व को प्राप्त हो। परमात्मा भी जीवात्मा को वापस अपनी ओर खीचता है, इधर जीव भी परमात्मा को पाने के लिए विलखता है। दोनो के वीच जो ममत्व का आकर्षण है, उसीको भक्ति कहा है।

भगवान कहते है, उद्धव सर्वदा अद्वैत दृष्टि रखनी चाहिए, क्योंकि जगत पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्य के भेद से यद्यपि दो—द्विधा दिखाई देता है, फिर भी सवका अधिष्ठान एक ही परमात्मा है।

तब फिर जगत मे रहे कैसे ? यह तो द्वन्द्व, द्वैत, विविधता से भरा हुआ है। लोग नाना प्रकार के है, कर्मो की विविधता का पार नही, मनुष्यो के तरह-तरह के स्वभाव हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय ? साधारणतः हम अच्छे की तारीफ, बुरे की निन्दा करते हैं। किसीका स्वभाव शात होता है, कोई अनिगामी होता है, कोई बिल्कुल मट्ठ, मुड्ढ होता है। अब भगवान का कहना है कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है तो उसका फल वह पावेगा। हम उसकी निन्दा-स्तुति मे क्यो पडे ? हमे सबमे एक ही नारायण के दर्शन करने चाहिए।

"जो कोई दूसरो के स्वभाव या कर्मो की स्तुति या निन्दा करता है वह असत् (द्वैत प्रपंच) मे अभिनिवेश (सत्यत्व बुद्धि) हो जाने से शीघ्र ही परमार्थ साधन से पतित हो जाता है" ॥२॥

हमे अपनी जीवन-सिद्धि करनी है। यदि मनुष्य इस निन्दा-स्तुति के झगडे मे पड गया तो वह यथार्थ परमार्थ साधन से च्युत हो जायगा, अपने लक्ष्य से पीछे हट जायगा। जो साधना उसे करनी है उसके अनुसार तो उसे द्वैत का जो अभिनिवेश है, अद्वैत होते हुए भी द्वैत का दिखाई देना है—उसे सत्य नहीं मानना है, परन्तु यदि वह एक की प्रशसा और दूसरे की निन्दा करता है, तो द्वैत को सत्य मानकर ही ऐसा कर सकता है। इससे उस सत्यता का भ्रम और भी दृढ हो जायगा। यदि द्वैत मे से अद्वैत की ओर प्रयाण करना है तो द्वैत-भाव को निर्बल और अद्वैत दृष्टि को प्रबल बनाने का ही प्रयास करते रहना है।

"राजस अहकार के कार्य-रूप इन्द्रियो के निद्राग्रस्त होने पर शरीरस्थ जीव चेतना-शून्य होकर स्वप्नरूप माया अथवा सुषुप्ति-रूप मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार भेददर्शी पुरुष, विक्षेप या लय को प्राप्त होकर स्वार्थ-साधन से भ्रष्ट हो जाता है" ॥३॥

पहले बता चुके है कि राजस अहकार से इन्द्रिया उत्पन्न हुई है। जीव शरीर का अभिमानी है—अर्थात शरीर के आधार को लेकर ही परमात्मा 'जीव' की सज्ञा पाता है। तो जब इन्द्रियां सो जाती है तो शरीर शिथिल और जीव चेतना-शून्य हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बाहरी शरीर की स्मृति उसे नहीं रहती। यदि मन जाग्रत रहा तब तो वह नाना प्रकार के स्वप्न देखता रहता है। स्वप्न के ये दृश्य झूठे ही होते है, क्योंकि स्वप्न टूटने के साथ ही वे गायब हो जाते हैं।

इन झूठे दृश्यो मे वह भटकता रहता है। किन्तु यदि मन भी लीन हो गया तो फिर जीव गाढ निद्रा मे, सुषुप्ति मे डूब जाता है। मानो वह मर ही गया हो।

यह तो बात हुई जीव के परमात्मा मे लीन हो जाने की—द्वैत से अद्वैत का अनुभव करने की। अब इससे उल्टी बात देखी। जीव यदि इस मूल सत्य को—अद्वैत को भूलकर नाना वस्तुओ का दर्शन करने लगता है—जगत के विविध पदार्थों को सत्य मानकर व्यवहार करने लगता है, तो मानो वह स्वप्न के पदार्थो को सच्चा, वास्तविक समझने लगता है। उन्हीमे फसा रहता है। यही उसकी भूल है, गफलत है, अज्ञान है।

"इस असत् द्वैत मे शुभ अथवा अशुभ क्या है? और कितना है? जो कुछ वाणी से कहा जाता अथवा मन से चिन्तन किया जाता है, वह सभी तो मिथ्या है" ॥४॥

जब हम यह मानकर चले है कि द्वैत नाम की वस्तु की कोई सत्ता ही नही है, तब उनमे भली-बुरी की कल्पना करना ही बेकार है। वे अपेक्षा से ही भली या बुरी हो सकती है। यह हमारी दृष्टि का प्रभाव है। काटा एक दृष्टि से अच्छा, दूसरी से बुरा है। खेत की रक्षा करने की दृष्टि से अच्छा, चुभ जाने के भय या दुःख के कारण बुरा है। पदार्थ मात्र भगवान का स्वरूप है। बाह्य गुण-धर्म उनके भिन्न-भिन्न है। तो ये होते रहे। हम उनमे अलिप्त, रहकर, उनके अन्दर रहे परमात्म-तत्व पर दृष्टि रक्खे, ध्यान जमाये रक्खे। तो फिर हमारे लिए किसीको बुरा और किसीको अच्छा कहने का प्रश्न ही कहा रहा? ससार की जितनी वस्तुए है, वाणी से जिन-जिनका उल्लेख किया जा सकता है, या मन मे जिन-जिन को सोचा जा सकता है, वे सब अनित्य है—आज है, कल नही है। आज एक रूप है, कल उनका दूसरा रूप हो जाता है। वे केवल दृश्य रूप है, तो उनका मिथ्यात्व स्पष्ट ही है। आज पानी है, कल भाप हो गया, परसो बादल बन गया, चौथे दिन फिर पानी बनकर बरसने लगा, फिर बरफ बन गया, गर्मी पाकर फिर पानी हो गया। बताइए, उनमे कौन-सा रूप सत्य है? जिन तत्वो से पानी बना ये तत्व भी तो आखिर कही से आये है? तो इन तत्वो का जो अन्तिम अधिष्ठान है, स्वामी है, उसीको हमने भगवान, परमात्मा, परात्पर, अव्यय, अकाल, कहा है, वही एकमात्र सत्य है। उसीको हमे समझना है, और उसी की आराधना करनी है।

"छाया, प्रतिध्वनि और आभास असत् होकर भी (सत्यवत भासने से) जैसे कार्यकारी होते हैं, उसी प्रकार देह आदि उपाधियां भी मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार से भय देती रहती हैं"॥५॥

मनुष्य ससार मे विविध वस्तुए देखता है, किसीको देखकर मन रम जाता है, मुग्ध हो जाता है, किसीसे भयभीत हो जाता है, किसीसे आनदित होता है। क्यो? इसलिए कि वह उन्हे सत्य मानता है, कल्पित या दृश्य मात्र नही। सीपी मे हमे चादी का आभास होता है—क्या वह सत्य है? पानी मे परछाई दीखती है, क्या वह वास्तविक है? प्रतिध्वनि क्या सचमुच ही हमारी मूल ध्वनि है? पर हम धोखे मे आ ही जाते है। लेकिन कबतक? जबतक यह बोध नही होता कि यह तो सीप, परछाई या प्रतिध्वनि है। इसी तरह जगत की विविधता का धोखा हमे तब मालूम हो जाता है जब यह ज्ञान उपजता है कि अरे ये तो सब एक ही परमात्मा के अनेक प्रतिबिम्ब है या नाम-रूप आकार है। मनुष्य को ऐसा धोखा बार-बार होता रहता है, क्योकि बारबार वह इस बोध को भूल जाता है। तो साधना मनुष्य को यही करनी है कि यह बोध सदा-सर्वदा जाग्रत रहे। इसके लिए जप, सकीर्तन, स्तोत्र, भजन, सन्ध्या-वन्दन, सत्सग, भगवान या समाज के सेवा-कार्य, आदि कई साधन है। इस भ्रम की आत्यन्तिक निवृत्ति स्थिर और दृढ ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है।

"वह आत्मा ही यह विश्व है। यह प्रभु आत्मा ही विश्व रूप से रचा जाता है। और स्रष्टा रूप से रचता है। वह विश्वात्मा ही रक्षित होता और रक्षा करता है तथा वह ईश्वर ही संहृत होता और सहार करता है"॥६॥

ऊपर, पहले बता चुके है कि भगवान इस सृष्टि का निमित्त कारण तो है ही, उपादान कारण भी है। अर्थात न केवल सृष्टि को बनाने मे भगवान का हाथ है, बल्कि जिस द्रव्य से ससार बना है वह भी भगवान तत्त्व मे से ही लिया गया है। यह कल्पना बुद्धि को अटपटी जरूर लगती है। परन्तु क्या किया जाय? जहा तक मनुष्य की बुद्धि दौडी है, उसने सृष्टि की उत्पत्ति तथा परमात्मा की गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न किया है। यदि परमात्मा को केवल सृष्टि-कर्त्ता मानते है तो प्रश्न होता है कि ये विविध नाम-रूप-पदार्थ जिन द्रव्यो से बने है वे कहा से आये? यदि उस विविधता को या सांख्यमतानुसार इनके मूलभूत दो तत्त्वो की पृथक सना-तन सत्ता मानते है तो ये सनातन रहती कहा है, किसमे है? आखिर कोई आधार

तो होना चाहिए ? तो कहते हैं परमेश्वर इसका अधिष्ठान है। किसी भी तरह हो, घुमा-फिराकर, हमे एक मूल तत्व या अधिष्ठान पर आना ही पडता है। इसमें भी बुद्धि का पूर्ण समाधान तो नही होता। इस चक्कर का बुद्धि के पास या तो यह उत्तर है कि कुछ समझ मे नही आता कि क्या है, अज्ञात और अज्ञेय है। या यह जवाव हो सकता है कि अनेक नही, दो नही, मूल रूप-तत्व, अधिष्ठान एक है। कोई कहते है कि जैसे रेल की पटरी दो जुदा-जुदा है पर जाती एक ही दिशा मे है। उसीपर रेलगाडी चलती है। यह जीव इस तरह रेल की पटरी पर दौड रहा हे, पर ये पटरिया तो आसमान मे, हवा मे नही, जमीन पर पडी हुई है। पुरुप-प्रकृति-रूपी पटरिया किसपर विछी हुई है ? उसीको हमने व्रह्म, परमात्मा आदि कहा है। इससे अधिक बुद्धि की दौड नही है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान ही विश्व-रूप वनता है और वही वनाता भी है। वही तो रक्षक है, वही रक्षित भी है। इसका सहार भी वही सर्वात्मा करता है और जिसका सहार होता है वह भी वही है। यह रहस्य एकाएक बुद्धि मे नही समाता। इसीलिए महात्माओ ने—ऋपियो ने व्रह्म, परमात्मा को कल्पनातीत कहा है। केवल अनुभवगम्य वताया है। उसे पाया जा सकता है, समझा या समझाया नही जा सकता। माँ के स्नेह को पाया जा सकता है, बुद्धि से विश्लेषण करके समझाया नही जा सकता।

"इसलिए आत्मा से भिन्न प्रतीत होनेवाले सारे भाव आत्मा से भिन्न किसी अन्य पदार्थ द्वारा निरूपित नही है। आत्मा से यह आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार की प्रतीति अकारण ही देखी गई है। इस त्रिविध प्रतीति को मायाकृत और गुणमयी ही समझो" ॥७॥

मनुष्य को विश्व प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसे असत्य नही कह सकते। यह व्यावहारिक सत्य है। परन्तु आत्म-दृष्टि से विश्व आत्मा से भिन्न नही रह जाता—सर्वत्र आत्मा ही ओत-प्रोत हे। सृष्टि, स्थिति, सहार या अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत जो तीन-तीन प्रकार की प्रतीतिया होती है, ये क्या है ? ये निर्मूल हैं। जैसे सत्व रज और तम—इन गुणो के कारण द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ये त्रिविध दिखाई देते है, उसी तरह आत्मा मे ये त्रिविध रूप भासमान होते है। इसीको माया कहा है। उसीका यह खेल है। ज्यो-ज्यो आत्म दृष्टि प्रवल होती जायगी, त्यो-त्यो यह त्रिविधता ओझल होती जायगी। एकता की अनुभूति वढती जायगी।

"इस प्रकार मेरी कही हुई ज्ञान-विज्ञान की प्रवीणता को जानकर पुरुष लोक

मे न किसीकी स्तुति ही करता है और न निन्दा ही। वह तो सूर्य के समान निर्लिप्त रहकर समान-भाव से विचरता रहता है" ॥८॥

"इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और अपने अनुभव से इन अनात्म पदार्थों को आदि-अन्त-युक्त और असत् जानकर ससार में असग होकर विचरे" ॥९॥

ऊधो, मैंने तुम्हारे सामने सारे ज्ञान और विज्ञान का रहस्य खोलकर रख दिया है। जब अपने सिवा जगत मे दूसरा कोई है नही तो किसकी प्रशसा और किसकी निन्दा? जब यह बात मनुष्य की समझ मे आ जाती है तो वह निर्द्वन्द्व निर्भय, निश्चिन्त, होकर ससार मे विचरता है, जैसेकि सूर्य समभाव मे ससार मे अपना परिभ्रमण करता रहता है।

इसे कभी मत भूलो कि यह जगत अनित्य और असत्य है। एक-सी स्थिति इसकी कभी नही रहती, इसलिए अनित्य और जो अनित्य है वह सत्य कैसे हो सकता है? ससार की अनित्यता को हम नित्य प्रत्यक्ष देखते है तो अनुमान और शास्त्र प्रामाण्य की आवश्यकता नही। फिर भी चाहिए तो भरे पडे है। जिन्होंने आत्मा नुभूति की है वे भी यही कहते है, तो इसमे अविश्वास का कोई कारण नही। त अब जो वस्तु नाशमान है, परिवर्तनशील है, अस्थायी है, उसमे मन को लिप्त कर से लाभ क्या? सिवा उसके सुख-दुखो के धक्के खाने के। इसलिए जगत मे अस होके रहना उचित है। जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसे अपनी जगह रहने दो। उसका तुम उपभोग भी करो। परन्तु उसमे डूब मत जाओ—अपने को खो मत दो डूबने और खोने के लायक वस्तु तो एक परमात्मा ही है, जहा अखण्ड आन सन्तोष, शाति, कल्याण का निवास है।

उद्धवजी बोले—"हे प्रभो, यह प्रतीत होता हुआ प्रपच न तो साक्षी आत्मा है और न दृश्य देह मे ही, क्योकि आत्मा स्वयं प्रकाश है और देह जड है तो फि इसकी उपलब्धि किसको होती है?" ॥१०॥

"आत्मा तो अग्नि के समान अव्यय, निर्गुण, शुद्ध स्वयं-प्रकाश और अनाद है तथा देह काष्ठवत जड है, फिर यह ससार किसमे है? सो आप कहिये" ॥११

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, संसार सर्वथा असत् है, तथापि जबत अविवेकी पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन से संबध रहता है तबतक उस यह सुख-दुख-रूप फल का देनेवाला होता है" ॥१२॥

"स्वप्न मे प्राप्त हुए अनर्थ के समान अत्यन्त असत् होते हुए भी,

पुरुष इसके विषयो का चिन्तन करता रहता है, उससे यह संसार निवृत्त नहीं होता" ॥१३॥

"सोये हुए मनुष्य को जैसे स्वप्नावस्था बहुत-से अनर्थों की प्राप्ति कराने वाली होती है, किन्तु जाग पड़ने पर उसे उस (स्वप्नावस्था) से कोई मोह नहीं होता (उसी प्रकार अज्ञानावस्था में मनुष्य को देहादि असत् पदार्थों से भय लगा रहता है, ज्ञानोदय हो जाने पर उसे कोई भय नहीं रहता)" ॥१४॥

यह सारा, ज्ञान-विज्ञान का विवेचन, सुनकर उद्धव के मन मे एक शका उत्पन्न हुई। कहते है कि आत्मा द्रष्टा है और देह दृश्य है। फिर यह भी कहते है कि आत्मा स्वय-प्रकाश है और देह है जड। तो फिर यह जन्म और मृत्यु होता किसे है? आत्मा को या शरीर को। यदि कहे कि आत्मा को तो आत्मा को पहले ही अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणो से रहित, शुद्ध, स्वय-प्रकाश, सभी आवरणो से रहित मान लिया है, तो उसका जन्म-मृत्यु से क्या सबध? सर्वथा अशक्य। नित्य चेतन वस्तु का जन्म कैसा और मत्यु भी कैसी? यदि कहे कि देह के साथ जन्म-मृत्यु का सबध है तो वह तो जड है, अर्थात विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य, आवृत है, काठ की तरह अचेतन है, उसे जन्म-मरण कहा से होगा?

तो श्रीकृष्ण इसका समाधान करते है—उद्धव, तुम जो ससार या देह का अस्तित्व मानते हो, आत्मा से उसकी पृथक स्वतत्र सत्ता मानते हो, यही तो भूल है। यह ससार वास्तव मे है ही नही, यह केवल भ्राति है। हमारे देह, इन्द्रिय, और प्राण के कारण हमे इसकी प्रतीति होती है। हमारी इन उपाधियो ने आत्मा मे ससार की, विश्व की, कल्पना कर ली है जिनसे हमे यह स्वप्न-सा दीखता है, स्फुरित होता है। इसके लिए स्वप्न और उनमे दीखनेवाले पदार्थो का दृष्टान्त अच्छा है। स्वप्न के दृश्य आते-जाते हैं, यह बात सच है। इस आने-जाने को उनका जीवन-मरण कह दो। तो उन दृश्यो की जन्म-मृत्यु सही है, मगर स्वप्न मे ही, जागृति मे नही। राम की भूमिका करनेवाला नट अभिनय के समय राम है—इसका कोई कैसे खण्डन करेगा—इसे कोई कैसे असत्य या मिथ्या कहेगा? परन्तु यह दृश्य कब तक? जबतक वह राम का वेश बनाये हुए है तभी तक। बाद मे असली सत्य तो उसका अपना रूप ही है। वही स्थायी है। इसी तरह भगवान जगत सृष्टि के रूप मे दीखते हैं—यह सृष्टि असत्य नही है, पर कबतक? जबतक प्रलय न हो, इसका रूपान्तर न हो। इसीलिए इसे अनित्य

और असत्य कहते हैं। आत्मा की सत्यता और नित्यता की तुलना मे, उनकी अपेक्षा मे।

हमे कई बार विपत्ति मे डूबने के सपने आते है। सपना जबतक चलता रहता है, तबतक हम उसमे घबराये, सहमे रहते है, क्योंकि उसको सत्य समझ रहे है। स्वप्न टूटते ही विपत्ति काफूर हो जाती है, और हम अपने पर ही हँसते है कि अरे यह तो सपना था—हम व्यर्थ ही परेशान होते रहे। यह भान होते ही मन को आनन्द होता है।

"इसी तरह यह ससार एक महान स्वप्न है। यह सृष्टि के एक सर्ग से दूसरे सर्ग तक उत्पत्ति से प्रलय तक चलता है। या मनुष्य-देह के जन्म से उसके मृत्यु तक चलता है। हमारे स्वप्न क्षणिक होते हैं—यह सृष्टि-रूपी स्वप्न बहुत लम्बा चलता है। अज्ञानी मनुष्य इसे सच्चा समझकर जीवन-भर इसीमे गोते खाता रहता है, दु ख-सुख के चक्कर मे पडा रहता है, परन्तु जैसे ही उसे यह बोध होने लगता है कि यह तो एक सपना है, मिथ्या है, वैसे ही उन विषयो का चिन्तन छूट जाता है, वृत्ति ससार से हटकर भगवान मे लीन होने लगती है। अब न ससार का मोह रह पाता है, न अन्य विकार"॥१४॥

"शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा (इच्छा) आदि तथा जन्म और मृत्यु—ये सब अज्ञान-जनित अहकार मे ही होते हैं, शुद्ध आत्मा से इनका कोई सबध नहीं है"॥१५॥

"देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि का अभिमानी अन्त करण ही जीव है, वह गुण और कर्ममयी मूर्तिवाला है। उसीका सूत्र अथवा महान आदि अनेक नामो से वर्णन किया गया है। वही कालाधीन होकर संसार मे ऊच-नीच योनियो मे जाता है"॥१६॥

जन्म, मृत्यु, एवं शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, आदि का सबंध 'जीव' मे है न कि परमात्मा मे। अव्यक्त और अपार परमात्मा मे जब 'अहं' का स्फुरण हुआ तो वही जीव बन गया। इस 'अहं' के कारण ही 'जीव' पृथक हुआ, उसे एक आकार या देह मिली और जब देह मिल गई तो उसके साथ पूर्वोक्त जन्म-मृत्यु आदि विकार अपने आप ही आ गये या लग गये। यह 'जीव' जब देह इन्द्रिय, प्राण आदि से अपनापन महसूस करने लगता है, इनमे रम जाता है—एक रूप हो जाता है, इनमे अभिमान कर बैठता है, अपना स्वरूप मान लेता है तो

इन विकारो का स्पर्श उसे होता है। स्थूल जीव का एक अति सूक्ष्म शरीर भी होता है जो लगभग आत्मा की मूर्ति होता है—गुण और कर्मों से बना लिंग-शरीर। उसमे कोई अवयव नही होते सिर्फ गुण और कर्म ही चिपके रहते है। उसे कही तो सूत्रात्मा कहते है, कही महत्व। उसके भी जुदा-जुदा नाम है। वही जीव-काल के अधीन होकर जन्म-मृत्यु-रूप ससार मे भटकता रहता है। जन्म और मृत्यु का जो बोध हमे होता है, वह काल के ही कारण।

"अनेक रूप से प्रतीत होनेवाले किन्तु निर्मूल मन, वाणी, प्राण, शरीर और कर्म आदि को गुरु की उपासना द्वारा तीक्ष्ण किये हुए ज्ञान-खड्ग से काटकर मुनि तृष्णाहीन होकर पृथ्वी पर विचरता है"॥१७॥

जहा पृथकता है, वहाँ अहकार है। अहकार का मतलब यहा घमण्ड या गर्व से नही है, तात्विक अर्थ है। अहकार कहते है, 'अह' यानी मैं की स्फुरणा को। 'मैं' कहते ही, या 'मै' का भाव मन मे आते ही मैं 'सर्व' से भिन्न, अलग हो गया। यही अहकार है। इसीकी बदौलत मन, वाणी, प्राण शरीर की पृथक सत्ता का बोध होता है। परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म की अपेक्षा से यह पृथकता है तो अवास्तविक, फिर भी मनुष्य आदि अनेक रूपो मे इसकी प्रतीति होती है। यह साधारण लोगो की बात हुई। किन्तु जो मननशील है, उसकी बात दूसरी है। वह उपासना के द्वारा जब ज्ञान की तलवार को चमकाता है, उसकी धार बहुत तीखी कर लेता है, तो यह देहाभिमान—अहकार कि 'मै अमुक हू' कट जाता है। अन्दर के जीवात्मा और बाहर के परमात्मा मे अलगाव नही नजर आता—फिर अब उसे किस बात की चिन्ता। कैसी दुविधा, क्या परेशानी? सबकुछ एक ही ब्रह्म है, दुख पानेवाला ब्रह्म, दुख देने वाला ब्रह्म और स्वय दु.ख भी ब्रह्म—ऐसी भावना होने लगे तो फिर द्वन्द्व कहा रहा? और आशा-तृष्णा के लिए भी स्थान कहा रहा? उसकी तरह अपने-आपमे मस्त-मौला दूसरा कौन होगा? श्रीकृष्ण कहते है कि इस तरह ब्रह्म-वृत्ति मे रहकर मनुष्य को जीवन के यावत कर्म करना चाहिए।

"इस ससार में आदि और अन्त में जो तत्व है, मध्य में भी केवल वही इसके प्रकाशक और उपादान-कारण रूप से स्थित है—इस प्रकार का विवेक ही ज्ञान है, तथा इसके निश्चय के निगम (वेद) तप (स्वधर्म) प्रत्यक्ष (अपना अनुभव) ऐतिह्य (उपदेश) और अनुमानादि प्रमाण, साधन है"॥१८॥

ऊधो, ऊपर मैंने जो कुछ बताया उससे तुमने यह अच्छी तरह समझ लिया होगा कि आत्मा और उसके विपरीत जो अनात्मा दीखता है, उसके स्वरूप को भली-भांति समझ लेना ही ज्ञान है। जबतक हमने अपने पुत्र को अपने से अलग समझा तबतक वह बाह्य दृष्टि से देह के कारण ठीक है, व्यावहारिक दृष्टि से सही है, पर जब उसके शरीर का ख्याल न करके आत्मा की तरफ ध्यान देते हैं, यह ख्याल में आ जाता है कि अरे, इसकी और मेरी आत्मा तो एक ही है—यह मेरी ही आत्मा है, तो फिर भेद कहां रहा ? उस समय इस एकता के ज्ञान से जो हर्ष, जो परमानंद होता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसा विवेक होते ही द्वैत का अस्तित्व मिट जाता है। पर यह ज्ञान हो कैसे ? मन पर 'भेद' के, अलग-अलग देखने के जो संस्कार पड़े हुए हैं, वे मिटें कैसे ?

इसके लिए, पहले मन को एकाग्र करने का अभ्यास करो। एकाग्र होने में जो विघ्न और कठिनाइयां आती हैं, उन्हें दृढ़ता से सहन करो। कष्ट और मनस्ताप को सहन करने का ही नाम तपस्या है। बाहरी धूप, सर्दी, गर्मी को दृढ़ता से सहन करना भी तप है। परन्तु यह बाह्य तप है। इसके द्वारा भी वास्तव में मन को ही साधा जाता है। उसे शांति के साथ इन कष्टों को सहन करने में सुविधा होती है। परन्तु भीतरी ताप को सहन करना, मन को सीधे अपने या दूसरों के उत्पन्न किये अनेक कारणों से जो कष्ट पहुंचता है, उसे सहन करने का अभ्यास डालना, मानसिक तपस्या है। इससे विकार या उत्तेजक कारण दबने लगते हैं—उनका प्रभाव कम होता जाता है। जब विकार दबते हैं तो हृदय के भाव शुद्ध होते हैं। जैसे सोना तपने से शुद्ध होता है, वैसे ही हृदय के भाव भी तपस्या से शुद्ध होते हैं। पश्चात्ताप भी तपस्या का एक अंग है। अपने दोषों को पहचानने पर, अपनी गलती महसूस करने पर, जो पछतावा होता है, वह आगे गलती न करने की प्रेरणा देता है, यह हृदय-शुद्धि की प्रक्रिया है।

इस तरह मन की एकाग्रता द्वारा, हृदय की शुद्धि करते हुए वेदादि शास्त्रों को श्रवण करे। वेदादि शास्त्रों से अभिप्राय है—ज्ञान के ग्रंथ, धर्म पर, सन्मार्ग पर ले चलने की प्रेरणा देनेवाले ग्रंथ, कर्तव्य अकर्तव्य का बोध करानेवाले, तथा और विधि-विधान बतानेवाले ग्रंथ। इनको पढ़े या श्रवण करे। गुरु और ग्रंथ—ये दो ज्ञान-प्राप्ति के अच्छे सहायक हैं। गुरु प्रत्यक्ष अपनी वाणी से बोध देता है, अपनी संगति से सन्मार्ग में ले जाता है और अपने आशीर्वाद से उसपर

चलने का बल देता रहता है। ग्रथ मे गुरु या लेखक, प्रत्यक्ष नही बोलते, परन्तु उनका ज्ञान-दर्शन उनमे भरा रहता है। गुरु एक जगह रह-रहकर थोडे लोगो को लाभ पहुचाता है तो ग्रथ अनेको को, घर घर जाकर वर्षों तक लाभ पहुचाता रहता है। गुरु की अपेक्षा ग्रथ अधिक सुलभ होते हैं। उनका पठन, श्रवण, इसमे सहायक होता है। उनमे जो युक्तिया दी होती हैं, उनसे मन-बुद्धि का समाधान होता है। महापुरुषो के उपदेश से नवीन प्रेरणा, जागृति होती है, इनके फल-स्वरूप हमे भी कुछ-कुछ स्वानुभूति होने लगती है। द्वैतभाव कम होने का, दृश्य पदार्थों मे एकत्व-बुद्धि होने का अनुभव होने लगता है। इससे आत्मविश्वास बढता है। यह समझ मे आने लगता है कि जो परमात्मा ससार के आदि मे था, वही अन्त मे भी रहेगा और बीच मे भी उसीकी स्थिति है। वही इस जगत का मूल कारण और प्रकाशक है। वही शरीर मे बद्ध होकर जीव रूप मे आया है। भले ही नेत्रो से ये अलग-अलग दिखाई देते है, फिर भी अन्दर से वही अद्वितीय, उपाधि-शून्य, परमात्मा सर्वत्र बिखरा-छाया हुआ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

"जिस प्रकार सोने की वस्तुओं के बनने से पूर्व और पश्चात सोना अपने (बिन गढ़े हुए) स्वरूप में रहता है, तथा वही मध्य मे भी विविध नामों से व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस दृश्यमान संसार का कारण, होने से इसके आदि, अन्त और मध्य में स्थित हू" ॥१९॥

"हे प्रिय जिस तुरीय के अन्वय-व्यतिरेक से (जाग्रत, स्वप्न और सुषप्ति रूप) तीन अवस्थाओ वाला मन (सत्व, रज, तम) तीनो गुण और कारण कार्य तथा कर्ता—ये सभी सिद्ध होते हैं, वही सत्य स्वरूप ब्रह्म है" ॥२०॥

ब्रह्म का अनुभव दो तरह से किया जा सकता है। ज्ञान के द्वारा और योग के द्वारा। ज्ञान के द्वारा बुद्धि से, योग के द्वारा सयम से। बुद्धि ने यदि यह समझ लिया कि जो आत्मतत्व है वह सत् है और जो विश्वतत्व या ससार-तत्व है, वह असत् है तो इसे आत्म-ज्ञान कहेगे। इद्रियो और मन-बुद्धि को एकाग्र करके सयम के द्वारा, जिसका परिपाक समाधि मे होता है, नानात्व मे एकत्व का अनुभव करना योग है। जबतक मन की तीन अवस्थाए कायम रहती है—जाग्रत, स्वप्न, सपुप्ति —जबतक तीन गुणो—सत्व, रज, तम का प्रभाव रहता है—जबतक अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव—आदि त्रिविध सत्ता हमे सत्य मालूम होती है, तबतक

एकत्व का बोध या प्रतीति नहीं हो सकती। जब इस त्रिविधता से ऊपर उठते हैं तो तुरीय स्थिति का अनुभव होने लगता है। ऐसी गाढ़ी नींद जिसमे मन भी सो जाता है और हमे अपने अस्तित्व तक का बोध नही होता, उसे तुरीय अवस्था कहते हैं—सुषुप्ति के भी परे की। उसमे सिर्फ आत्मा—द्रष्टा जागृत रहता है—और सब विभेद विलीन हो जाते हैं। उस स्थिति मे केवल एक सत तत्व ही—ब्रह्म ही बाकी रह जाता है।

"जो न तो उत्पत्ति से पूर्व ही था और न लय के पश्चात ही रहेगा। वह बीच में भी कथन-मात्र को ही है, क्योंकि जो पदार्थ किसी अन्य से उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं वे वही (अपने उत्पादक और प्रकाशक के रूप ही) होते हैं—ऐसी मेरी धारणा है" ॥२१॥

जो बात ब्रह्म पर घटित होती है, उससे उलटी ससार पर घटित होती है। ब्रह्म था, है और होगा, परन्तु ससार, विश्व या सृष्टि के लिए ऐसा नही कह सकते। वह उत्पत्ति से पहले नही था—पृथक नही था, ब्रह्म मे अलबत्ते समाया हुआ था, दूध मे घी की तरह, और प्रलय के पश्चात भी नहीं रहेगा, सिर्फ बीच मे दीखता है वह केवल नाम और रूप के कारण प्रतीत होता है। परमात्मा या ब्रह्म की दृष्टि से कल्पना-मात्र है, व्यावहारिक सत्ता-मात्र है। इसके विपरीत परमार्थ सत्ता है। जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक रूप है, वही उसकी परमार्थ—वास्तविक सत्ता है। लकड़ी की मेज बनती है, कुरसी बनती है खिलौने बनते हैं। इनमे मूल वस्तु या पदार्थ तो लकड़ी है, और चीजें तो रूपान्तर मात्र हैं। अत लकड़ी की यहा परमार्थ सत्ता है, कुरसी आदि की व्यावहारिक सत्ता है। इसी तरह जगत परमात्मा से, आत्म-तत्व, से बना है, उसीके द्वारा प्रकाशित होता है, सो जगत की व्यावहारिक और परमात्मा या ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मानी जाती है।

"यह जो विकार-समुदाय-रूप राजस सर्ग विद्यमान न होने पर भी भासता है, यह स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है। अत इन्द्रिय, विषय, मन और पच भूतादि विचित्र रूपों मे ब्रह्म ही भास रहता है" ॥२२॥

लकड़ी मूल वस्तु है और कुरसी उससे बनी है। तो कुरसी लकड़ी का विकार हुआ। यह सृष्टि ब्रह्म का विकार है—ब्रह्म स्वयं प्रकाशक है। अब हम शरीर, चित्त मन इन्द्रियों को ले या सृष्टि के सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, पवन, नदी, नद

आदि चित्र-विचित्र नाम रूप हैं ये सब ब्रह्म या परमात्मा के ही विकार है। सब उसीकी पृथक-पृथक सत्ताएँ व्यावहारिक है।

"इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के हेतु रूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अनात्म पदार्थों के निपुण बोध से अपने हृदय के सन्देह को भले प्रकार दूर करके आत्मानन्द से तृप्त हो समस्त विषय-कामनाओ से ऊपरत हो जाय"॥२३॥

ब्रह्म का विचार कैसे हो सकता है? उसके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यास और अन्त मे स्वानुभूति ये साधन हैं। कोई आत्म-ज्ञानी पुरुष मिल जाय तो इसमे और भी सहायता मिल जाती है। ऐसे व्यक्ति को गुरुदेव कहने और मानने मे कोई हर्ज नही है। इनकी सहायता से अनात्म पदार्थो की अवास्तविकता को समझे और उनका निषेध करे। देह, आदि अनात्म विषय है। ये सुख-दुःख, शोक, के निमित्त होते है। जबकि आत्मा आनद-स्वरूप है, उसमे मग्न रहने का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए विषय-वासना से बचने की जरूरत है, शरीर को चलाने या सासारिक कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए जितना भोग अनिवार्य है उसको स्वीकार करे, परन्तु उसमे लिप्त न हो, आसक्त न हो।

"यह पार्थिव शरीर आत्मा नहीं है। और इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठाता, देवता, प्राण, वायु, जल, एवं अग्नि भी आत्मा नहीं है, तथा अन्नमय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आकाश, पृथिवी और प्रकृति में से भी कोई आत्मा नहीं है, क्योकि ये सभी जड़ है"॥२४॥

ऊपर 'निषेध', का जिक्र है तो अब उसकी प्रक्रिया बताते है। शरीर को आत्मा क्यो नही कहते? तो उत्तर है वह पृथ्वी तत्व से बना है, पृथ्वी का विकार है। विकृत वस्तु को आत्मा नही कहते, अत शरीर आत्मा नही है। अब इन्द्रिय को ले। उनके अधिष्ठातृ देवता प्राण, वायु, जल, अग्नि, मन को ले। क्या इन्हे आत्मा कहना चाहिए? इनका भी धारण-पोषण शरीर के समान ही, अन्न के द्वारा होता है। अन्न से अभिप्राय यहा उन भौतिक पदार्थो से है जिनके द्वारा इनका धारण-पोषण होता है। अब और आगे चले। बुद्धि, चित्त, अहकार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणो की साम्यावस्था—प्रकृति—को ले ले। क्या वह भी आत्मा है? नही है, क्योकि ये सबके सब दृश्य और जड पदार्थ है।

"जिसको मेरे स्वरूप का भली भांति ज्ञान हो गया है, उसको गुणमयी इन्द्रियों

के समाहित होने से लाभ क्या? और विक्षिप्त रहने से हानि क्या? भला बादलो के आ जाने से सूर्य को क्या लाभ अथवा हानि है" ॥२५॥

अब आत्म-ज्ञान का लाभ बताते है। जिसने मेरे (भगवान के) स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है, तो फिर उसकी वृत्तिया और इन्द्रिया प्राय समाहित सयम मे ही रहेगी। एकाएक वे स्वच्छद नही हो सकती है। उनका समाहित होना और विक्षिप्त होना—सयम मे रहना या चचल हो जाना कोई महत्व नही रखता। उसमे रहना कोई हानि नही हो सकती। क्योकि उसके मन मे यह दृढ धारणा रहती है कि अन्त करण और बाह्यकरण भीतरी और बाहरी दोनो प्रकार की इन्द्रिया—सभी गुणमय है—सत्व, रज, तम से आच्छादित है। इनका आत्मा से कोई सबध नही और मैं जो हू सो स्वय आत्मा हू—अत इनके प्रभावो से मुक्त हू। आकाश को लीजिए। उसमे बादल छाते है और तितर-बितर हो जाते है तो उनसे सूर्य का क्या बनता बिगडता है?

"जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के गुणो से अथवा आने जानेवाली ऋतुओ से गुणो से आकाश लिप्त नहीं होता उसी प्रकार अहकार से अतीत अक्षर आत्मतत्व ससार के कारण रूप सत्व, रज और तम के मल से मलिन होता है" ॥२६॥

आत्मा की अलिप्तता को फिर दूसरी तरह से समझाते है। इसके लिए आकाश का उदाहरण देते है। वायु अग्नि, आदि जैसे आकाश को प्रभावित नही कर सकते, उसी प्रकार ये भाव जो क्षणिक है, तथा गुण-कर्म, अविनाशी आत्मा को स्पर्श नही कर पाते। जो व्यक्ति इनमे अहकार कर बैठता है, वही इनके चक्कर मे आता है और भटकता फिरता है।

"तथापि जबतक कि मेरे दृढ भक्ति योग द्वारा मन का मल रूप रजोगुण निकल न जाय तबतक इन माया रचित गुणो का सग त्यागना ही चाहिए" ॥२७॥

उसके लिए साधना आवश्यक है। मन को सात्विक बनाना चाहिए। रजोगुण के मल दूर होने चाहिए। यह सुदृढ भक्तियोग से हो सकता है। भक्ति मे मन को सब तरफ से हटाकर भगवान मे लगाना होता है। इससे मन अपने-आप सयम मे आता है, जिससे उसके मल दूर होते है। जबतक रजोगुण का प्रभाव प्रबल रहता है तबतक मायानिर्मित गुण और कार्यों का सग छोडना उचित है। माया के गुण ही तो मनुष्य को कार्यों मे प्रवृत्त करते है। उन कार्यों मे विवेक रखने की आवश्यकता है। बुरे का त्याग और अच्छे का अवलम्बन करना चाहिए।

ऐसा करने से सात्विक गुणो का विकास होता है, जोकि आत्मतत्व को समझने के लिए जरूरी है।

"जिस प्रकार भलीभांति चिकित्सा न किया गया रोग बार-बार उभरकर मनुष्य को कष्ट पहुचाता है, उसी प्रकार वासना और कर्मों के परिपाक से रहित तथा (स्त्री पुत्रादि) सबमे आसक्त हुआ मन अधूरे योगी को भ्रष्ट कर देता है"॥२८॥

साधना मे गडबड होने से मनुष्य का पतन हो जाता है। साधक योग-भ्रष्ट हो जाता है। जिस मन की वासनाए और कर्मों के सस्कार, नही मिटे है, जो स्त्री-पुत्र मे आसक्त हो गया है, उसकी कुशल नही है।

"जो देवताओ द्वारा उपस्थित किये हुए मनुष्य-रूपी विघ्नो से बाधित होकर कुयोगी (मार्ग-च्युत) हो जाते है, वे अपने पूर्वाभ्यास के कारण फिर योग में ही प्रवृत्त होते हैं, कर्मादि में नहीं"॥२९॥

अब यह बताते हैं कि यदि योग-भ्रष्ट हो भी जाय तो चिन्ता नही। घबराने की बात नही है। क्योकि उसका पूर्वाभ्यास उसका सहायक बनता है। वह फिर अपने योगाभ्यास मे लग जाता है। भूल मालूम होने पर हर मनुष्य अपनेको सुधारने का कुछ-न-कुछ प्रयत्न अवश्य करता है।

"यह जीव किसी अन्य ही की प्रेरणा से मरण-पर्यन्त कर्म करता रहता है, तथापि (अविवेकी तो अपनेको कर्ता मानकर उनमें बंध जाता है परन्तु,) विवेकी पुरुष आत्मानन्द के अनुभव से तृष्णाहीन हो जाने के कारण लौकिक विषयों में रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता"॥३०॥

ऊधो, जीव जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्म करता ही रहता है। उन कर्मो के लिए अनेक प्रेरणाए होती हैं। उनमे पूर्व कर्म, सस्कार, वातावरण मुख्य होते है। उनमे वह इष्ट-अनिष्ट का भी विचार करता है और इसलिए हर्ष-विषाद आदि विकार मन मे खडे होते है और वह ऊपर-नीचे झूले मे झूलता रहता है। इससे उसे शान्ति नही मिलती। शाति मन की वह अवस्था है जिसमे बहुत उछल-कूद न हो। यह तभी समव है, जब मनष्य को तत्व का साक्षात्कार होता है। यह समझ लेता है कि आत्मा इन सब विकारो से, द्वन्द्वो से परे है, देह और देह-जन्य विकार का उससे कोई सबध नही है, और मै स्वय भी देह नही आत्मा हू—तो फिर इन विकारो के प्रभाव से बच जाता है। फिर प्रकृति मे स्थित रहते हुए भी, पूर्व-सस्कार

के अनुसार कर्म-प्रवृत्ति होते हुए भी, उनमे द्वेष-अनिष्ट-बुद्धि नही रहती और उनमे हर्ष और विषाद के असर भी नही पडते। जब आत्मा आनद-स्वरूप है, यह मन मे समा गया, तो मनुष्य उसीकी प्राप्ति का प्रयत्न करेगा और जैसे-जैसे वह देखेगा कि ससार-सबधी आशा-तृष्णाए आकर उसे दु ख-सुख के चक्कर मे डालती है तो वह जाग्रत होकर 'मैं आनद-स्वरूप आत्मा हू' यह स्मरण करके सावधान हो जाता है और ससार के विषय-भोगो मे अलिप्त रहता हुआ आत्मा की ओर अग्रसर होता है।

"जिसकी बुद्धि आत्म-स्वरूप मे स्थित है वह ठहरते, चलते, बैठते, सोते, मल-मूत्र त्याग करते, भोजन करते अथवा और कोई स्वाभाविक क्रिया करते हुए भी अपने शरीर को नहीं जानता" ॥३१॥

तो स्वरूप मे स्थित होना ही मुख्य बात है। एक बार स्वरूप-स्थिति हुई तो फिर बाह्य आचार, शरीर-धर्म उसके लिए गौण हो जाते है। उनपर उसका ध्यान उतना नहीं रहता जितना आत्मा के आनद-स्वरूप पर। इसलिए उसके बाह्य कर्म—आचार कभी-कभी ऐसे भी हो सकते हैं जो दुनियादार या ससार-ग्रस्त लोगो को अटपटे लगे। जब वृत्ति ब्रह्माकार रहती है, तो बुद्धि विकार-रहित और इसलिए भेद-रहित हो जाती है। तब उसका बाहरी रग-ढग दूसरो से कुछ भिन्न ही होने लगता है। अतएव हमे उसके बाह्य आचार पर ध्यान न देकर आत्म-स्थिति पर ही दृष्टि रखनी चाहिए।

"यदि विद्वान, इन्द्रियो के किसी बाह्य असत् विषय को देखता है तो नाना प्रकार के अनुमानो से उसे आत्मा से भिन्न वास्तविक नहीं मानता, जिस प्रकार सोकर उठने पर लीन हुए स्वप्न के पदार्थों को कोई भी सत्य नहीं मानता" ॥३२॥

"हे प्रियवर, नाना प्रकार के गुण और कर्मों से युक्त जिन देह और इन्द्रिय आदि अज्ञान-जन्य पदार्थों को वह पहले आत्मा से मिले हुए मानता था, अब वे आत्मनिरीक्षण मे ही निवृत्त हो जाते हैं तथा आत्मा का तो न ग्रहण होता है न त्याग" ॥३३॥

जिस व्यक्ति ने आत्मा के महत्व को समझ लिया और उसके मुकाबले मे शरीर और जगत को गौण मानने लगा वह ज्ञानी है। ज्ञान के द्वारा आत्म-स्थिति हो जाने पर उसकी दृष्टि बदल जाती है। पहले इन्द्रियो के विविध बाह्य विषयो

को सत्य मानता था, अब वह उन्हे असत् मानने लगता है और यदि वे आते भी हैं तो उन्हे आत्मा से गौण स्थान देता है। वे युक्तियो, प्रमाणो से स्वतंत्र सिद्ध नही होते और अन्त मे स्वानुभव से पृथक अनुभव मे नही आते। समुद्र की लहरे क्या समुद्र से पृथक् है ? क्या नीद टूटने पर स्वप्न मे देखे पदार्थ सत्य प्रतीत होते है ? वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपने से भिन्न प्रतीयमान पदार्थो को, आत्मा या ब्रह्म के मुकाबले मे, आत्म-दृष्टि से, सत्य नही मानते और इसीलिए उनके प्रभावो से परे रहते हैं।

ऊधो, लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि अज्ञानी आत्मा को छोड देता है और ज्ञानी उसको ग्रहण करता है। वह कही से आता-जाता नही। वह तो सदा सर्वदा स्थित ही है। ज्ञानी तो केवल इतना ही करता है कि देह और जगत को—इन्द्रिय तथा सृष्टि की विविध वस्तुओ को जो आत्मा से भिन्न मानता था, अब नही मानता। विवेक-दृष्टि से वह समुद्र को समुद्र और लहर को लहर मानता है। लहर के उतार-चढावो से समुद्र की स्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता। हवा के हलके-हलके झोके लगते रहने से पर्वत का क्या बिगडता है ?

"जिस प्रकार सूर्योदय मनुष्यो के नेत्रो के आवरण-रूप अन्धकार को हटा देता है किसी पदार्थ की रचना नहीं करता, उसी प्रकार मेरा सुदृढ़ एवं सम्यक ज्ञान मानव-बुद्धि के अज्ञान-अन्धकार को नष्ट कर देता है"॥३४॥

ज्ञान को सूर्य की तरह समझो। सूर्योदय से अन्धकार हट जाता है और वस्तुए हमे दीखने लगती है तो क्या उनका यह नया निर्माण हुआ ? नही वे पहले से ही थी और हैं—अन्धकार हो जाने से हमे दिख नही रही थी—अब प्रकाश होने से दीखने लगी। इसी तरह ज्ञान के प्रकाश से मनुष्य का बुद्धिगत अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है तो मेरा असली स्वरूप साफ दिखाई देने लगता है। वह अब किसी वस्तु को 'यह' अनुभव नही करता—'मैं' का ही अनुभव होता है। उसका 'मैं' वस्तु-मात्र मे फैल गया—आत्म-स्वरूप हो गया, देहादि-अभिमान सब गल गये।

"यह आत्मा स्वयं प्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभवरूप, सर्वानुभवस्वरूप एक और अद्वितीय है तथा वाणी का अविषय होने के कारण जब वाणी उसे न पाकर निवृत्त हो जाती है, उस समय भी इसीकी प्रेरणा से वाणी और प्राण अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं"॥३५॥

फिर मे आत्मा का वर्णन करते है। ऊवो, आत्मा नित्य है। जिसका न जन्म होता है, न मृत्य, उसे नित्य कहते हैं। जिसका जन्म होता है, उसका कोई आकार होता है, और वह दिखाई देता है, लेकिन आत्मा अपरोक्ष है—दिखाई नही देता। वह अपनी जगह सदा एक-रूप, एक-रस रहता है, अत उसकी प्राप्ति नही करनी पडती। उसकी केवल प्रतीति या अनुभव करना पडता है। वह स्वय प्रकाश है। किसी दूसरे के प्रकाश या शक्ति की उसे आवश्यकता नही है। वह स्वय ज्ञान-रूप है, अत उसमे अज्ञान आदि विकार नही होते। जब आत्मा जगत के रूप मे प्रतीत होने लगता है, या जगत रूप धारण करता है तब ये विकार दृग्गोचर होते हैं। उसके पहले मूलरूप मे जबतक उसकी स्थिति रहती है तबतक विकारो का प्रादुर्भाव नही होता। वह किसी एक देश, स्थान, काल, अवस्था से बधा हुआ नही है। न वह किसी वस्तु मे ही सीमित है। इसलिए उसमे अस्तित्व वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास विनाश का स्पर्श भी नही होता। जो आत्म-स्वरूप मे स्थित हो गये है उन सबकी यही अनुभूति है। जो कुछ अनुभूतिया होती वे सब आत्म स्वरूप ही हैं। जब मन यह समझ लेता है कि आत्मा तक मेरी गति नही, आत्मा मेरा विषय नही है वाणी भी यही मान लेती है, तब वही एक अद्वितीय आत्मा रह जाता है। मन-वृत्ति उसमे भेद की कल्पना करती है। जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है उसे जबतक सत्य मानते है तबतक भेद रहेगा ही। सजातीय, विजातीय यह भाषा रहेगी ही। जब इस भेद से ऊपर उठ जाते है, इन भेदो के मूल मे रहे एक आत्मतत्व की प्रतीति हो जाती है तो ये भेद एक नाटक के खेल की तरह अवास्तविक हो जाते हैं। अगर उसका कुछ निरूपण करते भी हैं, किसी भी शब्द के द्वारा उसका वर्णन करते हैं तो वह केवल व्यवहार-दृष्टि से-बाह्य-दृष्टि से। वास्तव मे तो वह वर्णनातीत है, शब्दो द्वारा उसका निरूपण ही नही किया जा सकता। शब्द केवल सकेत है, जिनसे उसकी कुछ प्रतीति कराई जा सकती है।

"अभिन्न आत्मा मे जो विकल्प मानता है वही चित्त का बडा भारी मोह है, क्योंकि इस (विकल्प) का भी अपने आत्म-स्वरूप मन के अतिरिक्त और कोई अवलम्ब नहीं है"॥३६॥

जब आत्मा अद्वितीय है तो फिर उसमे नाम-रूप के द्वारा जो विविधता दरसाई जाती है, वह भ्रम ही है। मजा तो यह है कि यह भ्रम भी उसीके अधिष्ठान से उत्पन्न होता है। सबकुछ परमात्मा ही है तो सृष्टि, उसके सब भाव, विकार

इन्द्र आदि परमात्मा के ही अधिष्ठान को लेकर स्थित हैं। पेड़ के तने पर डालियाँ, पत्ते, फूल लगे हुए हैं तो क्या वे मूलतः पेड़ से अलग हैं? अलग दीखते हैं केवल पेड़ की अपेक्षा से। जैसे टहनी पत्ते, फूल फल सब पेड़ ही में है वैसे ही यह सारा जगत उनके अंग-प्रत्यंग परमात्मा में ही समाये हुए हैं।

'नाम और रूप के द्वारा ग्रहण किया जानेवाला जो पंच भौतिक द्वैत है, वह बाधित नहीं है; इस सिद्धान्त को स्वीकार कर अपनेको पंडित माननेवाले मीमांसकों को यह वेदान्त-कथित ब्रह्माद्विवाद व्यर्थ (अकारण ही) अर्थवाद प्रतीत होता है।[1] तत्वज्ञानियों को ऐसी प्रतीति नहीं होती[2] ॥३७॥

देह इन्द्रियाँ आदि आकार से, नाम-रूप से, भिन्न हैं तत्त्वतः नहीं। आकार को ले कर इनकी सत्यता मानी जा सकती है, मूलतः तत्त्वतः नहीं।

'योग-साधन के पूर्ण होने से पूर्व ही यदि किसी साधक का शरीर अकस्मात उत्पन्न हुई व्याधियों से पीड़ित हो जाय तो उसके लिए ये उपाय कहे हैं' ॥३८॥

"किन्हीं उपद्रवों को योग-धारणा से, किन्हींको धारणायुक्त आसन से, और किन्हींको तप, मंत्र तथा औषधि से शांत करे" ॥३९॥

---

१. मीमांसक कहते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होनेवाला यह प्रपंच बाधित (मिथ्या) नहीं हो सकता, इसलिए द्वैत सत्य है। वेदान्त में जो 'तत्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन है, वह यज्ञादि के कर्ता यजमान की स्तुति में तात्पर्य रखनेवाला होने से अर्थवाद है। क्योंकि जीव का ईश्वर होना प्रत्यक्ष-बाधित है। जैसे—आदित्यो यूपः (यूप आदित्य है) इस श्रुति-वाक्य में यूप का सूर्य होना प्रत्यक्ष बाधित है, इसलिए यह वाक्य-यूपगत उज्ज्वलत्व आदि गुणों को लेकर उसकी प्रशंसामात्र में तात्पर्य रखने के कारण अर्थवाद है।

२. ज्ञानी कहते हैं—वेदान्त-गत अद्वैत-प्रतिपादक वचनों की यज्ञादि विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता नहीं है। इसलिए ये अर्थवाद नहीं हैं, क्योंकि विधि शेष ही अर्थवाद होते हैं। इसके अतिरिक्त नामरूपात्मक होने से तथा स्वप्न के समान असत्य होने के कारण भी प्रपंच बाधित ही है। "वाचारंभणंविकारः" इत्यादि श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

"किन्हीं अशुभप्रद दोषो को मेरे निरन्तर ध्यान से, किन्हींको नाम-संकीर्तन आदि से और किन्हींको योगेश्वरो का अनुवर्तन (सेवन) करके शनैः-शनैः नष्ट कर दे" ॥४०॥

आत्म-ज्ञान के वाद योग-धारण के द्वारा जव मनुष्य साधना करता है तो कई रोग, विघ्न वाधाएं आती हैं, विकारो का उद्रेक होता है तो उसके लिए भिन्न-भिन्न उपाय वताये गए हैं। साधक अपने लिए जो उपाय अनुकूल, सुविधाजनक, लाभदायी हो, उनका अवलम्बन करे। यदि कोई नवीन उपाय सूझे तो उससे भी लाभ उठाना चाहिए। इन विघ्न-बाधाओ से डर जाने या साधना छोड देने की जरूरत नही है। इससे ज्ञान हो जाने पर भी योग अधूरा रह जाता है—पूर्ण सिद्धि नही मिलने पाती। यह बात केवल आध्यात्मिक साधना के ही लिए नहीं है—व्यावहारिक, सासारिक कार्यों और कर्तव्यो के लिए भी है। आत्म-ज्ञान और योग-साधन का मतलव यह नही है कि सासारिक कामो और कर्तव्यो के प्रति मनुष्य लापरवाह हो जाय या असावधान रहे, उसकी अवगणना करे। वल्कि यह है कि आध्यात्मिक साधना को प्रधानता दे, उसे मुख्य माने।

"कोई-कोई धीर योगिजन इस देह को विविध उपायों से सुदृढ़ और युवावस्था मे स्थिर करके फिर (अणिमादि) सिद्धि के लिए योग-साधन करते हैं" ॥४१॥

"चतुर पुरुष को इस मार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहिए, यह तो व्यर्थ प्रयास-मात्र है। क्योकि वृक्ष में लगे हुए फल के समान यह शरीर तो नाशमान ही है" ॥४२॥

"नित्य प्रति योग-साधन करनेवाले योगी का शरीर यदि सुदृढ़ भी हो जाय तो भी मुझे भजनेवाला बुद्धिमान पुरुष साधन को छोड़कर उसीसे संतुष्ट होकर न बैठ जाय" ॥४३॥

जव योगी अपनी साधना मे तत्पर होता है तो अनेक प्रकार की सिद्धिया प्राप्त होती हैं। योग-दर्शन मे उनका वर्णन किया गया है। मेरी राय मे उनका उपयोग यदि मनुष्य-जाति की या जीव-जगत की भलाई मे किया जाय तो हानि नही—स्वार्थ के लिए नही करना चाहिए। दूसरो को कष्ट या दु ख देने के लिए नही करना चाहिए। परन्तु महात्मा पुरुषो का कहना है कि जो साधक आगे बढना चाहता है, जिसे आत्म-प्राप्ति की लगन लगी है, उसे इन सिद्धियो तक ही नही रुक जाना चाहिए। इन्हीसे चमत्कृत और प्रभावित होकर नही मान लेना चाहिए कि

वह अपने अतिम गन्तव्य स्थान को पहुच गया। सिद्धिया आखिर तो नाशवान है, अत जो व्यक्ति अविनाशी तत्व की साधना मे लगा है, यदि वह इनमे ही अटक जायगा तो अपने असली लक्ष्य से दूर रह जायगा। •

"जो निष्काम और स्वानन्दानुभव करनेवाला योगी मेरा आश्रय लेकर इस प्रकार योग-साधन में लगा रहता है, उसको कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता" ॥४४॥

अन्त मे भगवान आश्वासन देते है कि जो मेरा आश्रय लेकर मेरी बताई योग-साधना मे तत्पर रहता है, वह आत्मानद की प्राप्ति अवश्य करेगा।

२९

भागवत-धर्मों का निरूपण

[भागवत-धर्म मे पहले अन्त करण की शुद्धि, फिर सब प्राणियो मे भगवान को देखना, दूसरे शब्दो मे भगवान के प्रति सर्वस्व समर्पण करना है। भगवान मे लीन होने का, उनके दिव्य गुणो के चिन्तन करने का सुगम साधन नाम-स्मरण या नाम-सकीर्तन है। यह भागवत-धर्म का सार—इस प्रकरण मे पुन' बताया गया है।]

उद्धवजी बोले—"हे अच्युत, इस योग-चर्या को तो मैं अजितेन्द्रिय पुरुष के लिए अति दु साध्य समझता हू। अत. आप स्पष्टतया मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइए जिससे लोग अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लें" ॥१॥

"हे कमललोचन, मन को एकाग्र करने मे लगे हुए योगिजन उसके निग्रह करने मे अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण प्रायः उदास रहा करते हैं" ॥२॥

"इसलिए हे अरविन्दाक्ष, हे विश्वेश्वर, सारग्राही विवेकीजन अनायास ही आपके परम आनन्ददायक चरण-कमलों का आश्रय लेते हैं। किन्तु जो योग-कर्मों के कारण अभिमानी हो रहे हैं, वे आपकी माया से मारे हुए हैं, उन्हें कभी सुख नहीं मिल सकता" ॥३॥

"हे सर्वसुहृद अच्युत, यदि आप अपने अनन्य शरणदासो के अधीन हो जाते हैं तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? क्योकि जिनके चरण कमलो मे स्वय ब्रह्मा आदि लोकपालगण भी अपने दीप्तिशाली मुकुट घिसा करते हैं उन्हीं आपने रामावतार में वानरो से मित्रता की थी" ॥४॥

"अपने भक्त पर किये हुए आपके उपकारो को जानकर भी ऐसा कौन पुरुष होगा जो संपूर्ण प्राणियो के आत्मा, प्रियतम, ईश्वर एवं शरणागतो को सबकुछ देनेवाले प्रभु आपको भूल जायगा? अथवा ऐसा कौन विचारवान होगा जो

परिणाम में मोह उत्पन्न करनेवाले और केवल भोग के ही साधन तुच्छ भोगों की इच्छा करेगा? और फिर आपके चरणरज का सेवन करनेवाले हम लोगो के लिए दुर्लभ भी क्या है?" ॥५॥

परमार्थ-निरूपण से उद्धव शायद चिन्ता मे पड गए। उन्होने कहा—आपने जो योग-साधन वतलाया वह तो वडा कठिन है। आपके परम-पद पाने का सरल उपाय वताइए। योग-साधन और कर्मानुष्ठान से मनुष्य अभिमान के वशीभूत हो जाता है। आपकी माया, उनकी मति हर लेती है। लेकिन आपकी शरण आ जाने से माया का कुछ नही चल सकता। 'ज्ञान' और 'योग' अमूर्त की साधना है, साधारण मनुष्य को तो मूर्त, शरीर-धारी की सेवा-भक्ति से सतोष मिलता है। कोरा तत्व, सिद्धान्त, अमूर्त, आदर्श सभी मनुष्यो के मन मे आकर्षण नही पैदा कर सकता। वे तो किसी-न-किसी शरीरधारी के साथ चलना, वैठना, वात करना, सीखना, झुकना, सुख-दु ख मे शरीक होना पसद करते है। इसलिए हमे तो अपनी चरण-कमल के रज का उपासक वनाइए।

"हे ईश्वर, जो आचार्य और अन्तर्यामी रूप से शरीरधारियो का बाह्य और आन्तरिक मल दूर करके उन्हे अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते है, उन आपके उपकारों का वदला विवेकी ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्मा के समान आयु पाकर भी नहीं चुका सकते। वे तो आपके उपकारो का स्मरण करके मन ही-मन प्रसन्न हुआ करते हैं" ॥६॥

आपकी यह खूबी है कि आप प्राणियो के भीतर वाहर सव जगह रहते है। भीतर तो अन्तर्यामी के रूप मे छिपे वैठे है और वाहर गुरु के रूप मे पथ-प्रदर्शक वने हुए। ससार मे जितने महापुरुष हो गए है, युग-प्रवर्तक, सुधारक हो गए हैं, सव आपकी ही तो विभूतिया है। आप ही ने तो उनका शरीर धारण करके महान अद्‌भुत कार्य किये और कराये है। दोनो रूपो से आप मनुष्य और प्राणियो पर जो उपकार करते है, उसका कैसे व कहातक वर्णन किया जाय। उसका वदला चुकाना तो ब्रह्माजी के भी वस की वात नही है। इसलिए वह उनको स्मरण कर-करके ही गद्‌गद होते रहते है।

श्री शुकदेवजी बोले—"हे राजन, उद्धव के इस प्रकार अत्यन्त प्रेमपूर्वक पूछने पर जगत जिनकी क्रीड़ा की सामग्री है और जो अपनी माया-शक्ति के त्रिदेव-रूप होकर जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, वे ईश्वरो के भी ईश्वर मधुर-मधुर मुसकाते हुए प्रेमपूर्वक बोले" ॥७॥

श्रीभगवान ने कहा—"हे तात, मै तुम्हें अपने अत्यन्त मगलमय (भागवत) धर्म सुनाना चाहता हूं जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करने से मनुष्य ससार रूप दुर्जय मृत्यु को जीत लेता है" ॥८॥

"निरन्तर मुझीमे मन और चित्त को लगाये रखनेवाला तथा जिसके आत्मा और मन का मेरे धर्मों मे ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मों को धीरे-धीरे मेरे ही लिए करता रहे" ॥९॥

"जहा मेरे भक्त साधुजन रहते हो उन पुण्य स्थानो मे रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्यो मे से जो मेरे अनन्य भक्त हुए हैं, उनके आचरणो का अनसरण करे" ॥१०॥

"पर्व के दिनो पर अकेला ही अथवा सवके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-वाट से मेरी यात्रा आदि के महोत्सव करावे" ॥११॥

"निर्मल चित्त होकर सपूर्ण प्राणियो मे और अपने-आपमे मुझ आत्मा को ही आकाश के समान निरावरण-रूप से वाहर भीतर व्याप्त देखे" ॥१२॥

"हे महातेजस्वी उद्धव, इस प्रकार केवल ज्ञान-दृष्टि का आश्रय लेकर जो समस्त प्राणियो को मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण-भक्त, सूर्य और स्फुलिंग तथा कृपालु और क्रूर मे समान दृष्टि रखता है वही पडित माना गया है" ॥१३-१४॥

"अधिक समय तक सव पुरुषों मे निरन्तर मेरी ही भावना करने से मनुष्य के स्पर्द्धा, असूया (परनिन्दा), तिरस्कार और अहकार आदि दोष दूर हो जाते हैं" ॥१५॥

"अपनी हँसी करानेवाले स्वजनो को, मैं अच्छा हू, वह वुरा है, ऐसी देह-दृष्टि को तथा लोभ-लज्जा को छोडकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टाग प्रणाम करे" ॥१६॥

अव भगवान श्रीकृष्ण स्वय अपने श्रीमुख से 'भागवत-धर्म' का उपदेश देते हैं। ऊधो, भागवत-धर्म परम मगलमय है। उसका सार यह कि भक्त अपने सारे कर्म मेरे लिए ही करे और उनको करते समय धीरे-धीरे मेरे स्मरण का अभ्यास वढावे। इससे उसका मन और चित्त मुझमे—मेरे धर्मो मे रम जायगे।

पहले वह अन्त करण को शुद्ध रक्खे, फिर मुझे—परमात्मा को सव प्राणियो मे, और अपने भी हृदय मे स्थित देखे। मैं भीतर-वाहर सव जगह फैला

हुआ हू। मैं परिपूर्ण हूँ। मुझमे कोई कोर-कसर नही है, न कोई आवरण ही मुझे घेरे हुए है। ऐसे मेरे शुद्ध स्वरूप को देखे। यह ज्ञान दृष्टि है। ज्ञानी सब मे समान-दर्शी होता है। कृपालु और क्रूर, राम और रावण सबमे मुझको, भगवान को देखता है, इसीलिए वह समदृष्टि हो जाता है। इस ज्ञान-दृष्टि के साथ ही वह सब नर-नारियो मे मेरी ही भावना करता रहे। इससे थोडे ही दिनो मे उसके मन से ईर्ष्या, तिरस्कार, अहकार आदि दोष दूर हो जाते है।

'गौ और गधे को भी पृथ्वी पर गिरकर साष्टाग दण्डवत करे', इसका अभिप्राय यह है कि आलोचना का भय छोडकर सबके साथ सम-व्यवहार करता रहे।

"जबतक सम्पूर्ण प्राणियो में मेरी भावना न हो तबतक उक्त प्रकार से मन-वाणी और शरीर के समस्त व्यापारो द्वारा मेरी उपासना करता रहे"॥१७॥

इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि रूप ब्रह्म-विद्या के द्वारा उसे सबकुछ ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जाने पर सर्वथा निःसदेह होकर उपरत हो जाय। फिर लौकिक, वैदिक किसी प्रकार के कर्म-कलाप में न पड़े"॥१८॥

"मन, वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियो से संपूर्ण प्राणियो में मेरी ही भावना करना—इसीको मै अपनी प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन समझता हू"॥१९॥

"हे प्रिय उद्धव, आरम्भ कर देने के उपरान्त फिर मेरे इस धर्म का अणु-मात्र भी ध्वंस नहीं होता, क्योकि निर्गुण होने के कारण मैंने ही इस निष्काम-धर्म का भलीभांति निश्चय किया है"॥२०॥

जब मन के सभी सकल्पो और कर्मो द्वारा मेरी उपासना करता रहेगा तब समस्त प्राणियो मे मेरी भावना—भगवत-भाव होने लगेगा। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म-बुद्धि, आत्म-भाव होने मे सबकुछ ब्रह्म-स्वरूप ही दीखने लगता है, फिर मन के सब सशय अपने-आप निवृत्त हो जाते है। जब ब्रह्म-भाव हो गया तो ससार-विषयक दृष्टि अपने-आप ही गौण हो गई। बादल छट गए और सूर्य साफ-साफ चमकने लगा। बस, सब प्राणियो और पदार्थो मे मन, वाणी और शरीर की समस्त वृत्तियो से मेरी ही भावना करे। यही मेरा भागवत धर्म है। यह निष्काम है और मैंने इसे सर्वोत्तम माना है।

"हे साधु-श्रेष्ठ (अवश्यम्भावी मृत्यु आदि) भय से व्यर्थ भागने-रोने आदि के समान जो-जो निरर्थक प्रयास है वे भी यदि मुझ परमात्मा को फलाभाव के

लिए (अर्थात् निष्काम भाव से) अर्पण कर दिया जाय तो वह भी (मेरी प्राप्ति का साधक) धर्म ही है" ॥२१॥

"मनुष्य जो इस असत् और नाशवान मनुष्य-शरीर के द्वारा मुझ अजर-अमर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, यही बुद्धिमानो की बुद्धिमानी और चतुरो की चतुराई है" ॥२२॥

"इस प्रकार मैंने तुम्हें देवताओ को भी दुर्लभ यह ब्रह्मवाद का सपूर्ण सार-सग्रह संक्षेप और विस्तार से सुना दिया" ॥२३॥

"हे उद्धव, मैंने स्पष्ट युक्तियो से युक्त यह ज्ञान तुमसे बारबार कहा है। इसको जान लेने पर पुरुष नि सदेह होकर मुक्त हो सकता है" ॥२४॥

"हे उद्धव, मैंने तुम्हारे प्रश्न का भली प्रकार से विवेचन कर दिया। जो पुरुष हमारे इस प्रश्नोत्तर को ध्यानपूर्वक मनन करके धारण करेगा वह वेदो के भी परम रहस्य सनातन परब्रह्म को प्राप्त कर लेगा" ॥२५॥

"जो मनुष्य मेरे भक्तो को इसे भली भाति स्पष्ट करके समझावेगा उस ज्ञान-दाता को मैं अपना आत्म-समर्पण कर दूगा" ॥२६॥

"जो पुरुष इस परम पवित्र प्रसग का श्रद्धापूर्वक नित्य प्रति सम्यक प्रकार से अध्ययन करेगा, वह ज्ञान-रूपी दीपक से मेरा साक्षात्कार करके पवित्र हो जायगा" ॥२७॥

"जो कोई एकाग्र चित्त से इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा वह मेरी पराभक्ति प्राप्त करके फिर कर्मबन्धन मे नहीं पडेगा" ॥२८॥

"हे सखे उद्धव, तुमने ब्रह्म का स्वरूप भलीभाति समझ लिया न? और तुम्हारे चित्त का मोह और शोक तो दूर हो गया न?" ॥२९॥

"तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, दुष्ट प्रकृति, सुनने की इच्छा न रखनेवाले भक्तिहीन और नम्रताहीन पुरुषो को कभी मत सुनाना" ॥३०॥

"जो इन दोषों से रहित हो, ब्राह्मण भक्त हो, प्रेमी हो, साधु स्वभाव हो, पवित्र चरित्र हो, उससे तथा स्त्री-शूद्रो से भी यदि उनकी मुझमे भक्ति हो तो इस प्रसग को कहना चाहिए" ॥३१॥

"जिस प्रकार अमृत-पान कर लेने पर और कुछ पीना नहीं रहता, उसी प्रकार इसको जान लेने पर जिज्ञासु को और कुछ जानना नहीं रहता" ॥३२॥

अब तो भगवान इस हद तक कहने लगे कि निरर्थक कर्म भी निष्काम भाव से

मुझे समर्पित कर दे तो वे धर्म रूप हो जाते है। कर्ता की भावना के अनुसार फल देते है, न कि कर्म के स्वरूप के अनुसार। भावना भगवानमय होती है तो उसका फल भी भगवत स्वरूप होता है। जो भी फल मिलेगा उसे वह भगवान समझ के ही ग्रहण करेगा।

अत बुद्धिमानी इसीमे है कि इस विनाशी और असत्य शरीर के द्वारा मनुष्य मुझ अविनाशी और सत्यतत्व को प्राप्त कर ले।

अव इस भागवत धर्म का माहात्म्य बताकर फलश्रुति वताते है, फिर पूछते है—अव तो तुम्हारे मन का मोह, शोक दूर हुआ न !

भगवान से ऊधो ने उनके परमधाम जाने की कल्पना से, मोह-शोक-ग्रस्त हो, भगवान के निजधर्म के वारे मे प्रश्न किया था, उसके उत्तर मे भगवान ने सारा ज्ञान-विज्ञान वता दिया। अन्त मे कहते हैं कि समाज मे जो कोई भी नीचे के स्तर पर रहे हो तो उनको भी इसका उपदेश करना चाहिए। मेरा द्वार सव के लिए खुला है, अकेले गण्य-मान्य व्यक्तियो के लिए ही नही।

मगर एक वात की चेतावनी अवश्य देते है। तुम इसे वुरे आदमियो को मत देना। वुरो की गिनती मे कई तरह के लोग बताये। गीता मे भी उन्होने अर्जुन का इस वात की ओर ध्यान खीचा था।

वुरे लोगो की मति उल्टी हुआ करती है। ज्ञान और शक्ति स्वय अच्छी या वुरी नही होती। ये तो आग की तरह है। हरा-सूखा सभी जल जाता है। सज्जन आग मे उगली डालेगा तो जलेगी, दुर्जन डालेगा तो भी जलेगी। एक वहुत अच्छा सुभाषित है—

विद्या विवादाय धनं मदाय।
शक्तिः च तेषां परपीडनाय॥
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्।
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

मनुष्य के पास तीन वल होते है—विद्या, धन और शक्ति (शरीर-शक्ति या शस्त्रास्त्र आदि)। खल इनका उपयोग विवाद वढाने मे, मदोन्मत्त होने मे और दूसरो को सताने मे करते है तथा सज्जन साधु—ज्ञान मे, दान मे तथा पररक्षण मे करते है। सो जिनकी टेढी वुद्धि है वे इस आत्म-ज्ञान का उलटा अर्थ लगाकर अनर्थ खडा करते है। सव मे एक ही आत्मा है तो दूसरे का धन अपना ही है, ऐसा

मतलव निकाल लेते है। अत सावधान रहने की और वुरे तथा पाखण्डी लोगो से इस ज्ञान को वचाने की आवश्यकता है।

किन्तु भक्ति-मार्ग मे यह सकट या चिन्ता नही रहती। उसमे सव कुछ भगवान को समर्पित करना पडता है, उमके लिए छोडना पडता है। इसमे दुरुपयोग की जगह कहा है ? यो तो ढोंगी और दुष्ट सभी जगह मिलते हैं, अत पात्र-कुपात्र का विचार रखना साधारण-रूप से अच्छा ही है।

जो मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हो वे फिर कैसे ही हीन श्रेणी मे हो, (उस काल मे सभी शूद्र वेद-ज्ञान या ब्रह्म-विद्या के अधिकारी नही माने जाते थे, अत सभी शूद्रो का उल्लेख किया है) उन्हे यह ज्ञान देने मे आपत्ति नही है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष अमृत ही है।

"हे तात, ज्ञान, कर्म, योग, वाणी और राजदण्डादि मनुष्यो को जो फल प्राप्त होता है, वह चारो प्रकार का फल तुम जैसे अनन्य भक्तो के लिए मैं ही हू"॥३३॥

अलग-अलग विषयो के अलग-अलग फल मिलते है। ज्ञान से मोक्ष, कर्म से धर्म, योग से दृष्टि-सिद्धि तथा वाणिज्य और राज-शक्ति से अर्थ—वैभव की प्राप्ति होती है। यह साधारण मनुष्यो की वात है। जो मेरे अनन्य भक्त, तुम्हारे जैसे हैं, उनकी वात दूसरी है। वे मेरी शक्ति के द्वारा ये चारो फल एकत्र पा जाते हैं।

एक मेरी भक्ति के साथ होने से उनका सव-कुछ सध जाता है। और सच पूछिए तो उनकी दृष्टि फल की तरफ रहती ही नही। ये फल उनकी दृष्टि मे मैं ही हू, मेरी ही प्राप्ति के लिए उनकी आराधना भक्ति होती है। इन फलो को वे देखते ही नही। ये आते हैं तो वे इन्हे मेरे अर्पण कर देते हैं। इनमे उन्हे मेरा ही रूप दिखाई देता है।

"जिस समय मनुष्य समस्त कर्म छोडकर मुझे आत्म-समर्पण कर देता है उस समय मैं उसे विशिष्ट वना देना चाहता हू, इससे वह मोक्ष-रूप अमर पद को पाकर मेरा ही स्वरूप हो जाता है"॥३४॥

समस्त कर्मों को जव भक्त मेरे ही अर्पण करता है तो फिर उस भक्त का सारा भार मेरे ऊपर आ जाता है। उसको मैं जीव-भाव से छुडाकर भगवतभाव—मोक्ष की प्राप्ति करा देता हू। मुझमे और उसमे कोई फर्क ही नही रहता।

श्री शुकदेवजी वोले—"हे राजन्, पुण्य-कीर्ति भगवान कृष्णचन्द्र से इस

प्रकार योग-मार्ग का उपदेश पाने पर, उनके वचन सुनकर, उद्धवजी की आंखो में आंसू भर आये, प्रेम के कारण उनका गला तक रुक गया, और वह कुछ न बोल सके, केवल हाथ जोड़े रह गये" ॥३५॥

"हे राजन्, फिर धैर्यपूर्वक प्रेमावेश से विकल हुए, अपने चित्त को रोककर उद्धवजी अपनेको बड़भागी मानते हुए, भगवान यदुनाथ के चरणो पर सिर रखकर उनसे हाथ जोड़कर बोले" ॥३६॥

"हे ब्रह्माजी के भी उत्पत्तिकर्त्ता प्रभो, मैने जिस मोहमाया (घोर) अन्धकार को आश्रय दे रखा था वह आपके सहवास से भाग गया। अग्नि के समीप पहुच जाने पर भी क्या शीत, अन्धकार और भय आदि ठहर सकते हैं" ॥३७॥

"हे प्रभो, जिसे आपकी मोहिनी माया ने हर लिया था, आपने कृपा करके वह ज्ञान-दीपक मुझ सेवक को फिर लौटा दिया। आपके किये हुए अनुग्रह को जानकर भी ऐसा कौन होगा जो आपके चरण-कमलो का आश्रय छोडकर किसी और की शरण मे जायगा" ॥३८॥

"आपने अपनी माया से सृष्टि-वृद्धि के लिए जो दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवो में मेरा सुदृढ़ पाश फैला रक्खा था, उसे आज आपने आत्म-बोध रूपी तीक्ष्ण खड्ग से काट डाला" ॥३९॥

"हे महायोगिन्, आपको नमस्कार है। अब आप मुझ शरणागत को ऐसी आज्ञा दीजिए जिससे आपके चरण-कमलो में मेरी अचल भक्ति हो" ॥४०॥

भगवान श्रीकृष्ण के इस अनग्रह से गद्‌गद होकर ऊधो प्रार्थना करने लगे—भगवन्, आपके सत्सग से मेरा मोह सदा के लिए चला गया—क्यो न हो, सारी माया और ब्रह्मा आदि के मूल कारण आप ही जो है। आपमे वैसे वडी मोहिनी शक्ति है। माया ने मेरी आखो पर परदा डाल दिया था। मैं आपके सत् स्वरूप को भूलकर आपके शरीर-रूप के सग मे ही लिप्त हो रहा था। अव मैंने यथार्थ वात को समझ लिया—मेरा रिश्ता आपके शरीर से नही आपकी आत्मा से है। अत यह रिश्ता स्थायी है, यह सवध अमर है।

इससे पहले आपकी माया के वश हो मैंने अपनेको दाशार्ह आदि यादवो के साथ स्नेह ही नही, मोहपाश मे वाघ लिया था। अव आत्म-वोध की तीखी तलवार से यह वन्धन कट गया। अव तो कृपा करके ऐस कर दीजिए जिससे आपके चरण-कमलो मे मेरी अनन्त भक्ति वनती रहे—फिर मे इस मोहपाश मे न वध जाऊ।

श्री भगवान बोले—"हे उद्धव, मेरी आज्ञा से अब तुम बदरीनारायण नामक मेरे आश्रम को जाओ। वहा मेरे चरण-कमलो से उत्पन्न गगाजी के अति पुनीत जल के स्नान और पान से तुम पवित्र हो जाओगे" ॥४१॥

"अलकनन्दा के दर्शनो से तुम्हारे समस्त पाप दूर हो जायगे। हे प्रियवर वहा तुम वल्कल-वस्त्र धारण कर वन के कन्द, मूल, फल भोजन करते हुए, नि स्पृह वृत्ति से सुखपूर्वक रहना" ॥४२॥

"तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वो को सहन करते हुए, सुशील और जितेन्द्रिय होकर शान्त चित्त हो एकाग्र बुद्धि से ज्ञान और विज्ञान से युक्त रहना" ॥४३॥

"मुझसे तुम्हें जो कुछ शिक्षा मिली है, उसका अच्छी तरह विचारपूर्वक अनुभव करते हुए मेरे धर्मों मे ही तत्पर रहना। ऐसा करते रहने से तुम तीनो गुणो की गतिको लाघकर अन्त मे मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो जाओगे" ॥४४॥

भगवान ने कहा—यह तो अच्छी बात है कि अब तुम्हारा मोह दूर हुआ, किन्तु यह क्षणिक भी हो सकता है। अत तुम बदरीकाश्रम मे, जो मेरा ही आश्रम है, चले जाओ। वहा अलकनदा गगा है। वहा सब पाप-ताप नष्ट हो जाते है। तुम वहा बहुत सादगी से रहकर, मेरे बताए ज्ञान को सुदृढ रखते हुए सयम-पूर्वक, मुझमे ही डूबे रहो। मेरे स्वरूप का अनुभव करते रहो। इससे अन्त मे तुम त्रिगुण और उनसे उत्पन्न गतियो को पार करके, उनसे भी परे, मेरे परमार्थ-स्वरूप मे मिल जाओगे।

श्री शुकदेवजी बोले—"हे राजन्, जिनका ज्ञान संसार-भ्रम को हर लेनेवाला है, उन श्रीकृष्णचन्द्र के ऐसा कहने पर उद्धवजी ने उठकर उनकी परिक्रमा की और उनके चरणो पर अपना सिर रख दिया। वह द्वन्द्वो से परे थे, तो भी वहा से चलते समय उनका चित्त प्रेमवश भर आया और अपने नेत्रो की अश्रुधारा से उन्होंने भगवान के चरण भिगो दिये" ॥४५॥

"जिनके स्नेह को छोडना अति कठिन है उन श्रीकृष्ण का वियोग होने से वह व्याकुल हो गए, तथा उन्हे एकाकी न छोड़ सकने के कारण उन्होंने अति आतुर होकर स्वामी की चरण-पादुकाए ले लीं और उन्हें अपने सिर पर रखकर बारबार प्रणाम करने के अनन्तर जैसे-तैसे अपना मन मसोसकर वहा से चले" ॥४६॥

"महाभागवत उद्धवजी हृदय मे भगवान की दिव्य छवि धारण किये बदरिका-

श्रम पहुचे और वहां संसार के एकमात्र सुहृदय श्री हरि के आदेशानुसार तपोमय आचरण करते हुए अन्त में परमगति को प्राप्त हुए" ॥४७॥

"योगेश्वर जिनके चरणो की सेवा करते है, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र ने आनन्द-समुद्र से उत्पन्न हुआ यह ज्ञानामृत अपने अनन्य भक्त उद्धव को सुनाया। जो पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा भी सेवन करता है (वह संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है) अधिक क्या, जगत ही उसके संग से मुक्त हो जाता है" ॥४८॥

यद्यपि इस समय उद्धव ज्ञानी बन चुके थे, फिर भी माया-मोह के पूर्व-सस्कार-वश श्रीकृष्ण से विदा लेते समय उनके मन मे प्रेम इस हद तक उमड आया कि वह आपे मे न रहे और अश्रु-धारा से उनके चरण कमलो को भिगो दिया। अन्त मे भगवान की चरण-पादुका लेकर वहा से प्रस्थान किया। इतने ज्ञानी हो जाने पर भी भगवान का कुछ चिह्न—स्मृति साथ लिये बिना उनसे न रहा गया।

उनके हृदय मे भगवान की दिव्य छवि समाई हुई थी। भगवान के आदेशा-नुसार वह बदरिकाश्रम पहुचे और तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए भगवान के स्वरूप-भूत परमगति प्राप्त की।

यहा एक तरह से उद्धव-गीता समाप्त हो जाती है। उद्धव को उपदेश देने के बहाने यह ज्ञानामृत व्यासदेव के द्वारा ससार के लिए सुलभ हो गया।

"जिन वेद-प्रकाशक भगवान ने संसार-भय को दूर करने के लिए फूलो से साररूप मधु को निकाल लेनेवाले भ्रमर के समान एक तो समस्त वेद-वेदान्तो का साररूप यह ज्ञान-विज्ञान का सार निकाला और दूसरा समुद्र से अमृत निकाला तथा इन्हे अपने (निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी) भक्तो को पिलाया, उन श्रीकृष्ण नामक परमश्रेष्ठ आदि पुरुष को मै प्रणाम करता हू" ॥४९॥

अब शुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं श्रीकृष्ण ने मधु-मक्खी की तरह ज्ञान-विज्ञान का यह सार निकालकर रख दिया है। पहले क्षीर-सागर से मन्थन मे अमृत निकाला था जिससे रोग-जरादि भय से निवृत्ति हुई। अब इस अमृत से भक्त लोग ससार के समस्त तापो से निवृत्त होकर भगवत-स्वरूप परम शाति को पा जायगे। यह प्रवृत्ति-मार्गी हो, चाहे निवृत्ति-मार्गी, सबके लिए समान-रूप से लाभप्रद है, उपकारी है। भगवान श्रीकृष्ण ही ससार मे सबकुछ है। मैं उनके चरणो मे नमस्कार करता हू।

३०

यदुकुल का संहार

राजा परीक्षित ने पूछा—"हे ब्रह्मन्, महान भगवदभक्त उद्धवजी के वन को चले जाने पर भूत-भावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने द्वारका मे क्या किया॥१॥

"उन यदुकुल-भूषण ने ब्रह्म-शाप से अपने कुल के ग्रस्त हो जाने पर समस्त नेत्रों (इन्द्रियो) को सुख देनेवाले अपने शरीर को किस प्रकार त्यागा?"॥२॥

"जिसमे लगे हुए नेत्र को स्त्रिया नहीं मोड सकीं, कर्ण-मार्ग से भीतर प्रविष्ट होने पर जो सज्जनों के चित्त मे गड़-सा जाता है, फिर वहा से नहीं निकलता, जिसकी शोभा (वर्णित होने पर) कवियो का मान बढाती है, इसके लिए तो, कहना ही क्या है? उनकी वाणी को भी आनन्दित करती है तथा जिसे अर्जुन के रथ पर विराजमान देखकर युद्ध मे मरनेवाले योद्धाओ को सारूप्य भक्ति प्राप्त हुई उस अति अद्भुत शरीर को भगवान ने कैसे छोड़ा?"॥३॥

यह न भूलना चाहिए कि भागवत कोरा ज्ञान-विज्ञान का ग्रथ नही, वह एक महाकाव्य है। जरूर उसमे ज्ञान-विज्ञान प्रधान-रूप से जगह-जगह विखरा पडा है, परन्तु उसका मूल उद्देश्य कविता के माध्यम से उसे सरस-रोचक बनाना है। अत जहा भी अवसर मिला है व्यासदेव ने अपने कवित्व का चमत्कार बताया है। इसके सैकडो श्लोक कठाग्र करने योग्य हैं—नित्य पाठ करने योग्य हैं। उनका सौंदर्य और वैशिष्ट्य मूल सस्कृत पढने से ही मालूम होता है, अनुवाद से नहीं। मेरा उद्देश्य इस ग्रथ को तैयार करने मे, कविताकार-सा स्वाद कराना नही है, बल्कि ज्ञान-विज्ञान का विवेचन करना है। उसे सुगम और सुलभ बनाना है। अलबत्ते काव्यगत विशेषताओ पर एक स्वतत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। जहा भी कही काव्यमय भाषा के प्रयोग का अवसर मिला है, व्यासदेव ने उसे छोडा नही है।

इसी अध्याय के आरभ मे भगवान के श्री-विग्रह का विशेषण 'प्रेयसी सर्व नेत्राणा' इन शब्दो मे उनके रूप-सौदर्य का वर्णन किया है।

कहते है कि जब स्त्रियो के नेत्र उनके श्री-विग्रह-शरीर-सौदर्य मे लग जाते थे तो वे उन्हे वहा से हटाने मे असमर्थ हो जाती थी। एकटक देखती रहती थी, फिर भी आखे प्यासी-की-प्यासी रह जाती थी। सन्तो तक को उनकी रूप-माधुरी का वर्णन करना पडा और उनके कान उसे सुनते-सुनते नही अघाते थे। उसकी शोभा ने अनेक कवियो को काव्य की प्रेरणा की है और उसमे अनुराग का रग भर दिया है। उनके श्री-विग्रह का ऐसा सामर्थ्य था कि महाभारत युद्ध मे जिन-जिनने उनके रूप को देखते हुए शरीर छोडा उन सबको सारूप्य मुक्ति मिल गई—वे उनके रूप को पा गये।

श्री शुकदेवजी बोले—"हे राजन्, श्रीकृष्णचन्द्र ने आकाश, पृथ्वी, और अंतरिक्ष में महान उत्पातो को देखकर 'सुधर्मा' नाम की सभा में बैठे हुए यादवो से कहा" ॥४॥

श्री भगवान बोले—"हे यादवश्रेष्ठगण, द्वारकापुरी में होने वाले ये महान उत्पात मानो यमराज की ध्वजा ही हैं। अब हमको यहां एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए" ॥५॥

"स्त्री, बालक और बड़े-बूढ़ो को तो यहा से शंखोद्धार क्षेत्र को जाने दो। और हम सब लोग प्रभास-क्षेत्र को चलेंगे, जहां कि पश्चिम की ओर बहनेवाली सरस्वती नदी है" ॥६॥

"उस तीर्थ में स्नान करके, पवित्र हो, हम उपवास करेंगे। और एकाग्र-चित्त से स्नान, चदन, आदि सामग्रियो से देवताओ का पूजन करेंगे" ॥७॥

"तदनन्तर स्वस्तिवाचन हो चुकने पर हम गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र, गज, अश्व, रथ और गृह आदि से महाभाग ब्राह्मणो का सत्कार करेंगे" ॥८॥

"यह विधि हमारे अरिष्ट का नाश करनेवाली और अत्युत्तम मंगलकारिणी है। देवता, ब्राह्मण और गौओ की पूजा ही प्राणियो के जन्म का परम लाभ है" ॥९॥

"भगवान मधसूदन के इस कथन को सुनकर सब वृद्ध यादवो ने उसका अनुमोदन किया और तुरन्त नौकाओ से समुद्र पार करके रथो द्वारा प्रभास-क्षेत्र को चल दिये" ॥१०॥

"वहा भगवान यदुनाथ के आदेश को सब यादवो ने परम श्रद्धा और भक्ति से समस्त मगल कृत्यो के सहित पालन किया" ॥११॥

"फिर प्रारब्ध-वश बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने के कारण उन्होंने, जिसके पीने से बुद्धि ठिकाने नहीं रहती उस मैरेयक नामकी अति सुरम्य महा मदिरा का पान किया" ॥१२॥

"उस तीव्र मदिरा से उन्मत्त और भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की माया से मोहित उन गर्वीले वीरो मे परस्पर वडा भारी झगडा छिड गया" ॥१३॥

"उस समय अति क्रोधावेश से वे आततायी धनुष-बाण, खड्ग, भाला, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शास्त्रों से वहा समद्रतट पर लड़ने लगे" ॥१४॥

"फहराती हुई पताकोवाले रथो, हाथियो, गधो, ऊटो, बैलो, भैसो, खच्चरो और मनुष्यो के सहित परस्पर भिडकर वे मदोन्मत्त यादव वन में दन्त प्रहार करके लडते हुए हाथियो के समान आपस मे लडने लगे" ॥१५॥

"उस युद्ध मे प्रद्युम्न और साव, अक्रूर और भोज, अनिरुद्ध और सात्यकि, दारुण योद्धा सुभद्र और सग्रामजित (श्रीकृष्णचन्द्र का भाई और उनका पुत्र) दोनो गद तथा सुमित्र और सुरथ—ये सब वीर परस्पर अत्यन्त मत्सर-पूर्वक भिड गये" ॥१६॥

"इनके सिवा निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित और भानु आदि जो अन्य वीर थे, वे भी भगवान की माया से मोहित और मद से अन्धे होकर परस्पर एक दूसरे को मारने लगे" ॥१७॥

"दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ती आदि कुलो के लोग परस्पर स्नेह छोडकर लडने लगे" ॥१८॥

"तब (मदिरापान से) उन्मत्त वे पुत्र पिता से ,भाई-भाई से, (मामा) भानजो से, (नाना) धैवतों से, (भतीजे) चाचाओ से तथा (भानजे) मामाओं से लडने लगे। इसी प्रकार मित्रो से मित्र और बन्धुओ से बन्धु भिड ग‌ए तथा सजातीयगण अपने सजातीयो पर प्रहार करनें लगे" ॥१९॥

"अन्त मे बाणो के समाप्त होने पर धनुषो के टूट जाने पर, और अन्य समस्त शस्त्रो के भी क्षीण हो जाने पर उन्होने मुट्ठियों से (समुद्र तट पर उस मूसल के चूर्ण से ही उत्पन्न हुए) सरकण्डों को उखाडा" ॥२०॥

"उनकी मुट्ठियो मे लगे हुए वे सरकण्डे लोह-दण्ड और वज्र के समान हो

गये। वे रोष में भर-भरकर उन्हीसे प्रहार करने लगे और जब श्रीकृष्णचन्द्र ने उन्हें रोका तो वे उन्हें भी मारने को दौड़े" ॥२१॥

"हे राजन्, उन मूढ़-बुद्धि आततायिओ ने बलरामजी को भी अपना शत्रु मानकर उन्हे मारने के विचार से आक्रमण किया" ॥२२॥

"हे कुलनन्दन परीक्षित, तब कृष्ण और वलदेव भी क्रोध में भरकर युद्ध-भूमि में घूमते हुए उन सरकण्डो और मुट्ठी-रूप लौह-दण्डो से उनपर प्रहार करने लगे" ॥२३॥

"वासो के वन को जिस प्रकार दावानल भस्म कर देता है उसी प्रकार ब्रह्मशाप से ग्रस्त और श्रीकृष्णचन्द्र की माया से मोहित उन यादवों के स्पर्द्धा-जनित क्रोध ने उनका ध्वंस कर दिया" ॥२४॥

वडे-वडे उत्पात और अपशकुन होने लगे। यह भावी अशुभ की सूचना थी। इससे सतर्क होकर श्रीकृष्ण ने यादवो की सुधर्मा-सभा बुलाई और कहा कि लक्षण अच्छे नही है, इसलिए हमको अभी यहा से चल देना चाहिए। अनिष्ट की आशका होते ही तुरन्त उसका विचार करना, आवश्यक कदम उठाना बुद्धिमत्ता का लक्षण है। श्रीकृष्ण ने अमगल का नाश करने के हेतु से भगवान की आराधना-पूजा की विधि वताई और उस काल की प्रथा के अनुसार देवता, ब्राह्मण और गौ की पूजा करने का लाभ बताया। उसके अनुसार उन्होने शातिपाठ तथा मगल कृत्य तो किये परतु साथ ही यादवो को कुबुद्धि भी उपजी। 'होनहार हिरदे बसे विसर जाय सब सुध'। सोने का हिरण होता नही, परन्तु विपत्ति ने रामजी की बुद्धि हर ली और सोने के मृग के पीछे दौडकर सीताजी को खो वैठे। इस तरह यादवो को सुरापान की सूझी और उसमे मदोन्मत्त होकर एक दूसरे से लडने लगे, प्रहार-प्रतिप्रहार होने लगे, यहातक कि श्रीकृष्ण और बलरामजी को भी कुपित होकर उसमे पडना पडा। अन्त यह हुआ कि सब यादव आपस मे मारे गए, केवल श्रीकृष्णजी वच रहे। और अन्त मे उन्होने शस्त्रास्त्र भी कहा से पाये ? वही की ऐरा घास, जो उस शाप के मूसल के घिसने के फलस्वरूप पैदा हुई थी, उनके लिए हथियार वन गई। वही ऋषि का शाप उनके विनाश का कारण-साधन वन गया।

"इस प्रकार अपने समस्त स्वजनो के नष्ट हो जाने पर भगवान ने विचार किया कि अव तो पृथ्वी का रहा-सहा भार भी उतर गया" ॥२५॥

इस स्कन्ध के आरभ मे ही श्रीकृष्ण भगवान ने कहा था कि "वैभव से उच्छृखल

हुए इस यदुकुल का दमन किसी दूसरे से किसी तरह नही हो सकता। इसलिए वासो के वन मे उत्पन्न अग्नि के समान इनमे पारस्परिक कलह उत्पन्न करके शाति-पूर्वक अपने धाम को जाऊगा।" (अध्याय १ श्लो० ४) उन्होंने सतोप की सास ली कि पृथ्वी का बचा-खुचा भार भी उतर गया। उनका यह अतिम अवतार-कृत्य समाप्त हुआ। अव वह स्वय वच रहे। उनके स्वधाम-गमन का रास्ता साफ हो गया।

"बलरामजी ने भी समुद्र-तट पर परम पुरुष के चिन्तन-रूप योग का आश्रय ले अपने आत्मा को आत्मा (उसके शुद्ध स्वरूप) मे स्थित कर अपना मनुष्य-शरीर छोड दिया" ॥२६॥

किस प्रकार मनुष्य को देह छोडना चाहिए, इसका नमूना बलरामजी ने दिखाया। अन्त समय मन मे अशाति हो तो वह मृत्यु अच्छी नही कही जा सकती। जीवन भर जैसी साधना, जैसा जीवन-क्रम रहा हो वैसी ही मति अत समय होती है। फिर भी यह अच्छा है कि कम-से-कम मरते समय मनुष्य ऐसी विधि अपनाए, ऐसी क्रिया करे, जिससे मन मे सन्तुलन, शाति रहे। परमात्म-चिन्तन उसका अच्छा उपाय है। इससे मन अपने-आप, एकाग्र हो जाता है, जो कि शाति का उत्पादक है। इसीलिए एक साधक ने भगवान से प्रार्थना की—

"कृष्ण त्वदीय पद-पंकज-पंजरान्ते अद्यैव मे विशतु मानस-राजहस ।
प्राण-प्रयाण समये कफवातपित्तै: कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥"

भाव यह हे कि भगवन्, अभी से हमारा मन तेरे चरण-कमल मे लगे, मरते समय फिर जो दुरवस्था होती है, उसमे कहा से तेरा स्मरण हो सकेगा ?

"इस प्रकार बलरामजी की परमपद-प्राप्ति देखकर भगवान देवकीनन्दन अति देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर अपनी दिव्य काति से दशो दिशाओं को अन्धकारहीन करते हुए धूम्रहीन अग्नि के समान सुशोभित हो एक पीपल के वृक्ष की छाया मे पृथिवी पर शात-भाव से मौन होकर बैठ गये" ॥२७-२८॥

"उस समय भगवान का परम मगलमय स्वरूप मेघ के समान श्यामवर्ण तथा श्रीवत्सचिह्न से सुशोभित एव दो रेशमी पीताम्बरो से विभूषित होने के कारण तपाये हुए सुवर्ण-सा कातिमान हो रहा था" ॥२९॥

"जो मनोहर मुसकानयुक्त मुख कमलवाला, नील अलकावलि से सुशोभित, कमलदल के समान सुन्दर नेत्रो से युक्त तथा झिलमिलाते हुए, मकराकृत कुण्डलो वाला था" ॥३०॥

"(वह मंगलमय विग्रह) करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कंकण, भुजबन्द, हार, नूपुर, अंगूठियो और कौस्तुभ मणि से सुशोभित था" ॥३१॥

"उसके सर्वांग में वन-माला सुशोभित थी तथा शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुध मूर्तिमान होकर सेवा मे उपस्थित थे। उस समय वह भगवन्मूर्ति अपना अरुण कमल सदृश वामचरण-दाहिनी जघा पर रखकर विराजमान थी" ॥३२॥

उस समय के उनके मगलमय रूप का बडा ही रोचक वर्णन यह है। वलदेवजी को तो चित्त एकाग्र करना पडा। उनका पूर्व जीवन तो ऐसा नही रहा था कि अन्त समय अपने-आप मन मे शाति आ जाय। लेकिन श्रीकृष्ण ने अपने शरीर और मन को खूब साधा था। वह योगेश्वर कहे जाते है। प्रसन्न मन से शरीर की काति खूब निखर रही थी। जीवन की कृत-कृत्यता का भाव मन को प्रफुल्लित किये हुए था। उसीको दर्शित करनेवाले अलकार व्यासदेव ने भगवान के शरीर पर धारण कराये है। वह आराम से एक पीपल के पेड के नीचे धरती पर ही वैठे हुए है। दाहिनी जाघ पर वाया चरण रक्खा हुआ था। लाल-लाल तलुवा लाल कमल की तरह चमक रहा था।

"तब जरा नामके व्याध ने, जिसने कि (मछली के पेट से प्राप्त हुए) मूसळ के वचे हुए टुकड़े से अपने वाण की गांसी (फलस) बनाई थी, मृग के मुख जैसे आकार वाले भगवान के चरण को दूर से मृग समझकर (उसी वाण से) वेध दिया" ॥३३॥

"पास जाने पर उस चतुर्भुज मूर्ति महापुरुष को देखकर वह अपराधी होने के कारण भय से कापता हुआ दैत्य-दलन भगवान के चरणो मे गिर पड़ा" ॥३४॥

"(और कहने लगा—) हे मधुसूदन, मुझ पापी से अनजान में यह अपराध हो गया है। हे उत्तम श्लोक, हे अनघ, मै आपका अपराधी हू। कृपा करके क्षमा करो" ॥३५॥

"हे विष्णो, हे प्रभो, जिनका स्मरण मनुष्यो के अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला कहा जाता है, हाय उन्हींका मैने अहित किया" ॥३६॥

"हे वैकुण्ठ, मै निरपराध मृगो को मारनेवाला महापापी हूं। आप शीघ्र ही मुझे मार डालिए जिससे कि फिर मुझसे महापुरुषो का ऐसा अपराध न हो" ॥३७॥

"जिनकी आत्मयोग-रचित सृष्टि को ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्रआदि भी जो सम्पूर्ण विधाओ के पारदर्शी हैं, नहीं जानते, क्योकि उनकी दृष्टि भी आपकी माया

से आवृत है, फिर हम तो स्वभाव से ही पापयोनि हैं—हम उसके विषय मे क्या कह सकते हैं?" ॥३८॥

एक बहेलिये ने हरिण समझकर तीर मार दिया—पास आने पर मालूम हुआ कि अरे ये तो श्रीकृष्ण भगवान है। इसमे और भी होनहार यह कि तीर मे जो गासी लगी हुई थी उसमे लोहा उसी मूसल का बचा हुआ टुकडा था, जिसके कारण ऋषि ने यदुकुल के नाश का शाप दिया था। उस शाप ने स्वय श्रीकृष्ण को भी नही छोडा। बुराई, कपट, कहा-कहा जाकर किस प्रकार विचित्र फल लाता है, उसका यह उपयुक्त उदाहरण है।

बहेलिया बडा पछताया। भगवान के सामने बहुत गिडगिडाया, रोया भगवन आपकी लीला को, योग-माया के विलास को, ब्रह्माजी, रुद्र आदि भी नही जान पाते तो मैं मूर्ख, अपढ, बहेलिया हूँ—पापयोनि हूँ—मै अज्ञान-रूपी अन्धकार मे पडा होऊँ तो क्या आश्चर्य है ?

श्री भगवान् बोले—"अरे, जरा, तू मत डर। खड़ा हो, यह सब तो मेरी ही इच्छा से हुआ है। अब तुम मेरी आज्ञा से पुण्यवानो के प्राप्य स्थान स्वर्ग को जाओ" ॥३९॥

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"स्वेच्छा से शरीरधारी श्रीकृष्ण का ऐसा आदेश पाकर वह व्याध भगवान की तीन परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम करने के अनन्तर विमान पर चढ़कर स्वर्ग को चला गया" ॥४०॥

श्रीकृष्ण की महानता का कहना ही क्या ? वे तो पूर्णावतार ही माने गए हैं। कहते हैं, अरे, तू क्यो डरता है ? तूने तो मेरे मन का ही काम किया है, जा तू स्वर्ग मे जायगा।

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे 'शठे शाठ्य समाचरेत्" का उपदेश किया है। "ये यथा मा प्रपद्यन्ते स्ता तथैव भजाम्यहम्।" का उल्लेख करके इस नीति का समर्थन करते हैं। परन्तु उनका अन्त समय का यह व्यवहार क्या सिखाता है ? मेरे मन का काम किया—"काम एप कृतो हि मे", इतना ही नहीं किया, उसे केवल उदारतापूर्वक क्षमा ही नही किया, उलटे स्वर्ग मे जाने का पारितोषिक भी दिया। "न पापे प्रतिपापस्यात्" ही नही "असाधु साधुना जिने" का उदाहरण प्रस्तुत किया। आधुनिक समय मे महर्षि दयानन्द का उदाहरण भी यहाँ याद आ जाता है। उन्होंने भी अपनेको जहर देनेवाले रसोइये को अपने पास से

टिकट के पैसे देकर दूर भिजवा दिया था और पुलिस को जवाब दिया था—"मैं ससार को मुक्त कराने आया हू। किसीको बन्धन मे डलवाने के लिए नही।"

"इधर भगवान का सारथी दारुक उनके चरण चिह्नो को खोजता हुआ उनका पता पाकर तुलसी की गन्धयुक्त वायु को सूँघता हुआ उसीकी ओर चला" ॥४१॥

"वहा अपने स्वामी को अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे आसन लगाये तीव्र तेजोमय मूर्तिमान आयुधो से घिरे हुए देखकर वह रथ से उतर पड़ा। उसकी आंखो में आसू भर आये और वह प्रेमातुर हो उनके चरणो में गिर पड़ा" ॥४२॥

वह कहने लगा—"हे प्रभो, रात्रि में चन्द्रमा के अस्त हो जाने से जैसी दशा होती है, उसी प्रकार आपके चरण-कमलो को न देख पाने से मेरी दृष्टि नष्ट और घोर अन्धकार से आच्छादित हो गई है। मै दिशाओ को नहीं जानता और न मुझे शाति ही मिलती है" ॥४३॥

"हे राजेन्द्र, जिस समय सारथि ऐसा कह रहा था उसी समय भगवान का गरुड़ चिह्न सुशोभित रथ, घोड़ो के सहित, उसके देखते-देखते आकाश में उड़ गया" ॥४४॥

और फिर उसके पीछे भगवान के दिव्य आयुध भी चले गए। यह सब देखकर अति विस्मित हुए सारथि से जनार्दन श्रीकृष्णचन्द्र बोले" ॥४५॥

"हे सूत, अब तुम द्वारकापुरी को जाओ और हमारे बन्धु-बान्धवो को यादवों का पारस्परिक विध्वंस, बलरामजी की परमगति और मेरी दशा का वृत्तान्त सुनाओ" ॥४६॥

"अब तुम लोगो को अपने बन्धु-बान्धवो सहित द्वारका में नही रहना चाहिए, क्योंकि मेरी त्यागी हुई उस यदुपुरी को समुद्र डुबो देगा" ॥४७॥

"सब लोग अपने-अपने धन, कुटुम्ब और मेरे माता-पिता आदि को लेकर अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ चले जाय" ॥४८॥

"और तुम मेरे भागवत-धर्मो का आचरण करते हुए ज्ञान-निष्ठ और निरपेक्ष होकर इस सम्पूर्ण प्रपंच को मेरी माया की रचना समझो और शाति को प्राप्त होओ" ॥४९॥

"भगवान के यह वचन सुनकर दारुक वारंबार उनकी परिक्रमा कर और चरणो में सिर रख प्रणाम करने के अनन्तर अति उदास मन से द्वारकापुरी को चला गया" ॥५०॥

इतने मे उनका सारथि दारुक रथ लेकर खोजता हुआ आया। तुलसी-माला जो भगवान धारण कर रहे थे उसकी गन्ध से पता लगाते हुए दारुक उनके पास पहुचा था। देखते ही उसकी आखो मे अधेरा छा गया। वह कुछ कह ही रहा था कि वह रथ आसमान मे उड गया। उसके साथ उनके दिव्य आयुध भी चले गये। दारुक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। तब भगवान ने उसे अपना अतिम सदेश दिया---

"तुम भागवत धर्म का आश्रय लो। इस दृश्य को मेरी माया समझकर शान्त हो जाओ।"

· ३१

श्रीकृष्ण का स्वधाम-गमन

[इस अध्याय मे श्रीकृष्ण के परम समर्थ और महान दिव्य जीवन के अन्त की कथा कही गई है—जो एक ओर से महान रोमाचक और दूसरी ओर से अतीव शिक्षाप्रद है। पीपल के वृक्ष के नीचे धरती पर बैठे हुए कृष्ण भगवान को एक व्याध ने हरिण के धोखे से तीर से मार डाला। उस समय वह अकेले थे—जब व्याध का भ्रम दूर हुआ तो घबराया—कृष्ण ने उसे दिलासा देते हुए कहा, 'नही, तुमने तो मेरा मनचाहा ही किया है।' अन्त समय मे भी यह महानता, यह उदारता ! ! जीवन-भर अनेक शिक्षाए दी, मरते समय भी यह अनुपम शिक्षा दे गये।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"परीक्षित, दारुक के चले जाने पर ब्रह्मा, शिव-पार्वती, इंद्रादि लोकपाल, मरीचि आदि प्रजापति, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पितर, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, क्निन्नर, अप्सराएँ तथा गरुड़-लोक के विभिन्न पक्षी अयवा मैत्रेय आदि ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण के परमधाम-प्रस्यान को देखने के लिए बड़ी उत्सुकता से वहाँ आये। वे सभी भगवान श्रीकृष्ण के जन्म और लीलाओ का गान अयवा वर्णन कर रहे थे। उनके विमानो से सारा आकाश भर-सा गया था। वे बड़ी भक्ति से भगवान पर पुष्पो की वर्षा कर रहे थे" ॥१-४॥

इस ग्रथ के आरभ मे ही कह आये है कि भगवान श्रीकृष्ण ने सोचा था कि यदुकुल का सहार करके मै अपने धाम को जाऊगा, वह समय जब आ गया। व्यास भगवान लिखते है कि उस समय आकाश विमानो से भर गया। ब्रह्मादि तथा शिव-पार्वती से लेकर राक्षस-गण और अप्सराएँ, पक्षी, तथा मैत्रेय ब्राह्मण सभी उस महान दृश्य को देखने के लिए उपस्थित हुए थे और वे भगवान पर पुष्प-वृष्टि कर रहे थे। कैसा विलक्षण योग है कि जिन श्रीकृष्ण ने अपने बचपन से लेकर

अन्त समय तक भिन्न-भिन्न प्रकार के अद्भुत साहस, पराक्रम और बुद्धिमानी के काम किये, युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ मे जिनको अग्र-पूजा का सम्मान मिला, कौरव और पाण्डव ही नही समस्त देश के राजागण जिन्हे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे, उनका अन्त समय आने पर पृथ्वी मे, वह अकेले रह गये। लेकिन आकाश से स्वर्ग के तथा दिव्य धामो के निवासियो की बडी भीड उमड पडी व पृथ्वी पर से, भूलोक से उनकी विदाई और स्वर्ग मे उनका स्वागत करने के लिए उत्सुक थे।

प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ अपना जीवन-कार्य लेकर जन्मता है। स्पष्ट रूप से उनको अपने जीवन के लक्ष्य का, जीवन के अभीष्ट का, भलीभाति भान हो या न हो, सृष्टि मे बिना उद्देश्य के कोई काम नही होता। जिनके सस्कार प्रबल होते है, उन्हे होश सभालने पर स्वय भी ऐसी प्रतीति होती रहती है—अन्दर से वह सु-प्रेरणा उठती रहती है कि उनमे कोई विशेषता है। जो ऐसी स्पष्ट प्रेरणा देख पाते हैं वे ही ससार मे कुछ कर दिखाते हैं तथा छोटे-बडे महापुरुष कहलाते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता मे स्पष्ट ही कहा है कि "जब-जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का बोलबाला होता है, अर्थात जब-जब समाज मे दुराचार बढ जाता है और समाज पतनोन्मुख हो जाता है तब-तब मैं जन्म लेता हू।" उस बुराई को दूर करने के लिए भगवत्-शक्ति किसीका कोई शरीर धारण करके, किसी-न-किसी नाम-रूप का आश्रय ले कर आती है और समाज का कायापलट करती है और फिर तिरोहित हो जाती है। जब ऐसी कोई दैवी शक्ति ससार मे आती है तो उसके जीवन-कार्य मे सहायक अन्य शक्तिया भी ससार मे आ जाती हैं, उनके जीवन-कार्य मे सहायक होती हैं और अन्त मे उस शक्ति के चले जाने के समय वे भी अपने-अपने लोक को चली जाती हैं। गाधीजी के विषय मे ऐसा ही अनुभव हमे हो रहा है। गाधीजी के पहले भारत मे न जाने कितने छोटे-बडे नेता आये और उनके चले जाने के बाद उनमे से दो-चार को छोडकर सब चले गए। मनुष्य यदि अपने मन की प्रेरणाओ, अपने सस्कारो की चेतना और अपनी चित्त-वृत्ति का सूक्ष्म रूप से और ध्यान देकर अवलोकन करे तो देख सकता है कि मैं किस काम के लिए पैदा हुआ हू। उसकी यह भीतरी ध्वनिया उसको सकेत करती रहती है। यदि वह उन्हे सुन ले और उनके अनुसार अपना जीवन-क्रम चलाये तो वह न केवल अपने जीवन मे सफलता का ही अनुभव करेगा, अपितु समाज व देश को समुचित सेवा भी उसके द्वारा हो सकती

है। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से, उनके अन्त समय से, यह शिक्षा भली प्रकार ले सकते है।

"सर्व व्यापक भगवान श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी और अपने विभूतिस्वरूप देवताओ को देखकर अपने आत्मा को स्वरूप में स्थित किया और कमल के समान नेत्र बन्द कर लिये" ॥५॥

अब जब श्रीकृष्ण ने ऊपर इतनी बडी उत्सुक भीड को देखा तो उन्होने विचार किया कि अब शीघ्र ही यहा से चल देना चाहिए। मन को उन्होने अपनी आत्मा मे लीन किया, अपने जीवन, जीवन-कार्य तथा दूसरे सासारिक विचारो को रोकने का प्रयत्न करने के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये। पीपल के वृक्ष के नीचे खुली धरती पर वे बैठे ही थे कि व्याध ने तीर मार दिया।

जो मनुष्य मरते समय शाति धारण कर सकता है, उसीके जीवन को सफल और कृतार्थ समझना चाहिए। यदि जीवन मे हमने अनेक प्रकार के तामस और राजस कार्य किये हैं तो अन्त समय मन मे जाने या अनजाने मे जब हम जीवन का लेखा-जोखा लगाते है तो हमारे सब दुष्कृत्य तथा सुकृत्य अपने सामने आ कर खडे हो जाते है। अगर हमने सुकृत्य अधिक किये है तो मन प्रसन्न और पुलकित हो जाता है, यदि दुष्कृत्य अधिक किये हैं तो मन खिन्न और उदासीन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे तरह-तरह की भावी चिन्ताए आकर सताने लगती हैं। साधारण लोग तो किसी-न-किसी बीमारी का शिकार होकर मर जाते है, किन्तु पूर्व-जीवन मे जिनसे सुकृत्य ही हुए हो, नाना प्रकार की सु-तरगे उनके मन को प्रभावित और प्रफुल्लित कर देती हैं। श्रीकृष्ण अपने जीवन मे कृतार्थता का यह अनुभव करते थे, इसलिए उनका मन तुरन्त एकाग्र हो गया।

"भगवान क. श्रीविग्रह उपासको के ध्यान और धारणा का मंगलमय आधार और समस्त लोको के लिए परम रमणीय आश्रय है, इसलिए उन्होने (योगियो के समान) अग्नि-देवता-संबंधी योगधारणा के द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाम में चले गये" ॥६॥

कहते हैं कि उच्चकोटि के योगियो की मृत्यु साधारण तौर से नही होती। वे योग-धारणा के द्वारा अपने शरीर मे ही योगाग्नि प्रज्ज्वलित करके अपना प्राणान्त और शरीरान्त कर लेते है। कई जीवित समाधि ले लेते है, जैसे सन्त ज्ञानेश्वर के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु श्रीकृष्ण तो योगेश्वर थे, उन्हे इसकी भी आवश्यकता

नही पडी। वह स-शरीर अपने धाम को चले गए। प्राणान्त के समय उनका शरीर अवनी पर नही रह गया। प्राण के साथ-साथ शरीर भी स्वर्गधाम को चला गया।

व्यास भगवान कहते है कि ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि उनका श्री-विग्रह भू-लोक मे भक्तो के काम आनेवाला था। क्योकि उपासको तथा भक्तो के चिन्तन और ध्यान का तथा जनसाधारण के दर्शन और कल्याण का वह आश्रय था। भगवान कृष्ण की सुन्दरता का वर्णन हर जगह मिलता है। उस वर्णन के आधार पर पृथ्वी पर लोगो ने नाना प्रकार के उनके श्री-विग्रहो की कल्पनाएं करके मूर्तियाँ वनाई। भक्तो का यह विश्वास है कि उनका शरीर यदि भू-मण्डल पर रह जाता और वह जला दिया जाता तो उनका एक प्रश्रय उनसे छिन जाता। भगवान राम के लिए भी सदेह स्वर्ग जाने की कथा प्रसिद्ध है।

"उस समय स्वर्ग मे नगारे वजने लगे और आकाश से पुष्पो की वर्षा होने लगी। परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे इस लोक से सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्री देवी भी चली गईं" ॥७॥

भगवान कृष्ण के जाते ही इस लोक मे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्री देवी भी उनके साथ चली गई। जितने गुणो और शक्तियो से मण्डित और सुसज्जित वह थे, स्वभावत वह भी उनके साथ चले गए।

मनुष्य अपने अच्छे और वुरे सस्कारो को लेकर ससार मे आता है, ससार मे रहकर वह नये, अच्छे, वुरे सस्कार प्राप्त करता है, अन्त समय मे जो सस्कार शेष रह जाते हैं उनको पल्ले वाधकर वह अपने साथ ले जाता है, जो उसके पुनर्जन्म के कारण वनते हैं। इन शेष सस्कारो के समूह को हमारे यहा 'लिंग-देह' कहा गया है। भगवान श्रीकृष्ण के ऐसे कोई सस्कार ही शेष नही वचे थे जिससे उनका पुन जन्म होता। उनके जाने के वाद समस्त पृथ्वी सूनी पड गई और उन सव को जो उनके पीछे वाकी वच रह गए थे, ऐसा लगा कि मानो सव प्रकार से श्री-हत हो गये हो।

"भगवान श्रीकृष्ण की गति मन और वाणी के परे है तभी तो जब भगवान अपने धाम में प्रवेश करने लगे तव ब्रह्मादि देवता भी उन्हें न देख सके। इस घटना से उन्हे वड़ा ही विस्मय हुआ" ॥८॥

"जैसे विजली मेघ-मण्डल को छोड़कर जव आकाश मे प्रवेश करती है, तब

मनुष्य उसकी चाल नही देख पाते वैसे ही बड़े-बड़े देवता भी श्रीकृष्ण की गति के संबंध में कुछ न जान सके" ।।९।।

"ब्रह्माजी और भगवान शंकर आदि देवता भगवान की यह परमयोगमयी गति देखकर बड़े विस्मय के साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोक में चले गये" ।।१०।।

"परीक्षित, जैसे नट अनेक प्रकार के स्वाग बनाता है, परन्तु रहता उन सबसे निर्लिप्त—वैसे ही भगवान का मनुष्यों के समान जन्म लेना, लीला करना और फिर उसे संवरण कर लेना उनकी माया का विलास मात्र है, अभिनय मात्र है। वह स्वयं ही इस जगत की सृष्टि करके इसमें प्रवेश कर विहार करते हैं, और अन्त में संहार-लीला करके अपने अनन्त महिमामय स्वरूप में ही स्थित हो जाते है" ।।११।।

भागवत-धर्म अद्वैत सिद्धान्त को मानता है। सारे भागवत मे जहा भी व्यास देव को अवसर मिला स्तुतियो द्वारा या अन्य प्रकार से अद्वैत मत का प्रतिपादन, विवेचन और विवरण किया है। यहाँ भी वह नट का उदाहरण देते है। नट नाना प्रकार के स्वाग बना कर अनेक लीला करता है। उसी प्रकार भगवान भी नाना प्रकार के रूप लेकर अभिनय करते है और जो रूप लेते है, उसकी लीला को निभाना भी पडता है। तत्वरूप मे भगवान स्वय जगत की सृष्टि करते है और जीवात्मा के रूप मे उसमे प्रवेश करके तरह-तरह के कर्म करते हैं और अन्त मे अपने महिमामय रूप मे लीन हो जाते है। इस स्तुति के द्वारा वे हमे यह समझाना चाहते है कि मनुष्य को भी सदा यह बात याद रखना चाहिए कि वह जड नही चेतन जीवात्मा है और अद्वैत मत के अनुसार स्वय भगवान या भगवान का अश छोटे रूप मे है। इसलिए जीवन मे यथा-प्राप्त अथवा प्रयत्न पूर्वक वह जो कुछ भी कर्म करे नट की लीला की तरह करे। जीवन मे तमाम अभिनय करते हुए वह अपनेको उससे अलग रखे।

"सान्दीपनि गुरु का पुत्र यमपुरी चला गया था, परन्तु उसे ये मनुष्य शरीर के साथ लौटा लाये। तुम्हारा ही शरीर ब्रह्मास्त्र से जल चुका था, परन्तु उन्होने तुम्हे जीवित कर दिया; वास्तव में उनकी शरणागत-वत्सलता ऐसी ही है। और तो क्या कहूँ, उन्होंने कालो के महाकाल भगवान शंकर को भी युद्ध मे जीत लिया और अत्यन्त अपराधी, अपने शरीर पर ही प्रहार करनेवाले व्याध को भी सदेह

स्वर्ग भेज दिया। प्रिय परीक्षित! ऐसी स्थिति मे क्या वह अपने शरीर को सदा के लिए यहां नहीं रख सकते थे? अवश्य ही रख सकते थे।" ॥१२॥

"यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत की स्थिति, उत्पत्ति और सहार के निरपेक्ष कारण हैं तथापि उन्होने अपने शरीर को इस ससार मे बचा रखने की इच्छा नहीं की। इससे उन्होंने यह दिखाया कि इस मनुष्य शरीर से मुझे क्या प्रयोजन है? आत्म-निष्ठ पुरुषो को लिए यही आदर्श है कि वे शरीर रखने की चेष्टा न करें" ॥१३॥

"जो पुरुष प्रात काल उठकर भगवान श्रीकृष्ण के परमधाम गमन की इस कथा का एकाग्रता और भक्ति के साथ कीर्तन करेगा उसे भगवान का यही सर्वश्रेठ परमपद प्राप्त होगा" ॥१४॥

यहा प्रश्न उठता है जब वह सर्व-समर्थ भगवान हैं तो अपना शरीर क्या सदा के लिए यहा नही रख सकते थे। जब उन्होंने इतने अद्भुत कर्म श्रीकृष्ण-रूप मे ही नही अनेको अवतारो और विभूतियो के रूप मे किये तो क्या वह अपने इसी शरीर को कायम रखकर यह चमत्कार नही दिखा सकते थे? इसके उत्तर मे यह श्लोक है।

उनके चाहने से तो सबकुछ हो सकता था तथा हो सकता है, परन्तु उन्होंने ऐसा चाहा ही नही कि शरीर सदैव ससार मे इसी रूप मे बना रहे। जब शरीर का कर्म पूरा हो गया तो उसे रहने की जरूरत ही क्या थी। मनुष्य के मार्ग-दर्शन और कल्याण के लिए उन्होंने अपने दिव्य जन्म, कर्म अनेक प्रकार के किये है तथा उनका गीता-ज्ञान ये काफी है। शरीर का मोह ही क्या जबकि वह एक भौतिक पदार्थ है। वह कहते हैं कि आज भी पुरुषो का यही आदर्श होना चाहिए, काम पूरा हो जाने पर शरीर की वाञ्छा कैसी? वैसे शरीर की, नाम-रूप मे, आवश्यकता इसलिए होती है कि उसके आश्रय के बिना कोरा चेतन आत्मा कुछ कर नही सकता—जैसे बिजली बिना यत्र और तार की सहायता के स्वय बादलो मे चमककर रह जाती है, बिना इन माध्यमो के वह न तो लट्टू मे प्रकाश प्रदान कर सकती है और न सचार के साधनो को सुगम बना सकती है। यही हाल आत्मा और शरीर का है। दोनो एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। इस प्रकार शरीर-यत्र की बहुत आवश्यकता है; मगर तभी तक जबतक उसकी उपयोगिता है।

सारे महाभारत तथा श्रीकृष्ण के जीवन का कैसा अद्भुत अन्त हुआ? उधर पाण्डवो का अन्त भी देखिए, जो कौरवो के सगे चचेरे भाई थे। केवल पाच ग्रामो

की जीवन-यापन हेतु सात्विक याचना उन्होने की थी, पर दुर्योधन का प्रतिउत्तर था, "बिना लडे एक इच भी जमीन नही दी जायगी ।" मूर्खता और मदोन्मत्तता की हद हो गई। तब पाण्डव क्या करते ? सब जानते थे कि इसका परिणाम अच्छा नही होगा, परन्तु न्याय, पुरुषार्थ और अस्तित्व का तकाजा था। अत आवश्यकता थी कि दुर्योधन की चुनौती का जवाब दिया जाय और ऐसा ही हुआ। विजयश्री पाण्डवो के हाथ लगी, मगर पाण्डव भी नही बच रहे। उन्होने स्वेच्छा से हिमालय प्रस्थान किया और अपने शरीरो को उन महान यात्रा के दौरान क्रमश त्याग दिया। सिर्फ धर्मराज सीधे स्वर्ग पधार सके। इससे भी बुरा हाल यदुकुल का हुआ। सारी महाभारत के सूत्रधार कृष्णजी थे, यदुकुल के सहार के निमित्त भी वह ही बने। और इस प्रकार हम आज देखते है कि उनके परिवार मे अनिरुद्ध का पुत्र वज्र मात्र शेष रह गया। कितना दुखद अन्त हुआ इन दोनो कुलो का ? फिर भी व्यासजी कहते हैं श्रीकृष्ण के परमधाम-गमन की इस कथा का जो कीर्तन करेगा उसे मानव का सर्वश्रेष्ठ-पद प्राप्त होगा। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। घरेलू या राज्य के बँटवारे का कैसा दुखद अन्त होता है, इसकी शिक्षा, कौरव-पाण्डव-युद्ध से बढकर ससार के किसी इतिहास मे नही मिलती। इसी प्रकार राजैश्वर्य के मद मे अन्धे और मद्यपी यादवो ने किस प्रकार अपना अन्त अपने ही हाथो कर लिया, इतिहास मे ऐसा उदाहरण भी नही मिलता। जो मनुष्य इन दोनो कथाओ से शिक्षार्जन कर उसे उपयोग मे लायेगे वे अवश्यमेव परमात्मा का पुनीत प्रसाद फल रूप मे प्राप्त करेंगे।

"इधर दारुक भगवान श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल होकर द्वारका आया और वसुदेवजी तथा उग्रसेन के चरणो पर गिर-गिरकर उन्हें आंसुओं से भिगोने लगा" ॥१५॥

"परीक्षित, उसने अपने को संभालकर यदुवंशियों के विनाश का पूरा विवरण कह सुनाया। उसे सुनकर लोग बहुत ही दुःखी हुए और मारे शोक के मूर्च्छित हो गये" ॥१६॥

"भगवान श्रीकृष्ण के वियोग से विह्वल होकर वे लोग सिर पीटते हुए वहां तुरत पहुंचे जहां उनके भाई-बन्धु निष्प्राण होकर पड़े हुए थे" ॥१७॥

"देवकी, रोहिणी और वसुदेवजी अपने प्यारे पुत्र श्रीकृष्ण और बलराम को न देखकर शोक की पीड़ा से बेहोश हो गये" ॥१८॥

"उन्होने भगवद्विरह से व्याकुल होकर वहीं अपने प्राण छोड दिये। स्त्रियो ने अपने-अपने पतियो के शव पहचानकर उन्हे हृदय से लगा लिया और उनके साथ चिता पर बैठकर भस्म हो गईं" ॥१९॥

"बलरामजी की स्त्रियो ने उनके शरीर को, वसुदेवजी की पत्निया उनके शव को और भगवान की पुत्रवधुए अपने पतियो की लाशो को लेकर अग्नि मे प्रवेश कर गईं। भगवान श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि पटरानिया उनके ध्यान मे मग्न होकर अग्नि मे प्रविष्ट हो गईं" ॥२०॥

"परीक्षित! अर्जुन अपने प्रियतम और सखा भगवान श्रीकृष्ण के विरह से पहले तो अत्यन्त व्याकुल हो गये, फिर उन्होंने उन्हींके गीतोक्त सदुपदेशो का स्मरण करके अपने मन को सँभाला" ॥२१॥

"यदुवश के मृत व्यक्तियो मे जिनको कोई पिण्ड देनेवाला न था, उनका श्राद्ध अर्जुन ने क्रमशः विधिपूर्वक कराया" ॥२२॥

"महाराज! भगवान के न रहने पर समुद्र ने एकमात्र भगवान श्रीकृष्ण का निवासस्थान छोडकर एक ही क्षण मे सारी द्वारका डुबो दी" ॥२३॥

इधर दारुक ने जब द्वारका जाकर इस दुखद अन्त की बात वसुदेव व देवकी को कही तो वे भी पुत्र-वियोग मे प्राणान्त कर बैठे। अब कौन शेष रहा? श्रीकृष्ण की पटरानिया व अन्य रानियो ने उनका ध्यान कर अग्नि मे प्रवेश कर लिया। यदुवश मे अन्त मे मृत व्यक्तियो को वहा पिण्ड देनेवाला भी कोई नही रहा, दुर्भाग्य का यही अन्त नही हुआ, समुद्र ने भी विकराल रूप धारण कर द्वारका को जल-मग्न कर दिया—बचा तो केवल श्रीकृष्ण का निवास-स्थान। दुर्भाग्य अकेला नही आता—भगवान की लीला अगम्य है। जैसे कर्म होंगे वैसा फल मिलेगा। इसका भयकर किन्तु सच्चा उदाहरण ससार मे अन्यत्र कहा मिलेगा।

आज द्वारका नगरी जहा बसी हुई है, वह बाद मे बसाई गई है। असली द्वारका तो समुद्र-गर्भ मे विलीन हो गई। भक्तो की यह श्रद्धा है कि जो श्रीकृष्ण का निवास स्थान शेष रहा उसमे वे आज भी निवास करते हैं। इसलिए यात्रीगण श्रद्धा से वहा यात्रा करते हैं तथा मनोवाञ्छित फल भी प्राप्त करते है। जहा पुण्यश्लोक पुरुषो, योगियो, ध्यानी-मुनियो का निवास होता है, वहा उनके तप, शाति और पुण्य के परमाणु छाये रहते हैं और यात्री तथा दर्शनार्थियो के मन-बुद्धि को प्रभावित करते है। किसी कलाकार के घर मे, विद्वान के आश्रम मे या फिर महापुरुष की

सगति मे जव कुछ भी समय विताते है तो वहा का प्रभाव और शाति अविस्मरणीय ही होती है। यह निष्ठा जोर पकडती रहती है, यदि वहा के नेता और निवासी वैसा ही पुण्याचरण निरतर करते रहते हो। वह हट या घट जाती है, यदि वहा, उसके स्थान पर पापाचार तथा दुराचार होता रहता हो। यदि हम अपनी कमाई मे से व्यय ही करते है, सग्रह नही करते या नही वढाते, तो एक दिन अवश्य शून्य ही रह जायगे, यह सत्य है। आज जो तीर्थ-स्थानो के लिए आस्था कम होती जा रही है, उसका एक वडा कारण यह भी है कि वहाके बहुतेरे पण्डे-पुजारी पुण्याई को खाते तो रहते है, मगर तपस्या से उसे शाश्वत नही बनाये रखते।

महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध पावन तीर्थ मे मुझे स्वय एक ही ऐसा अनुभव हुआ। पूना के पास आलदी ग्राम मे सत ज्ञानेश्वर की पावन समाधि है। अनेक यात्री इस पावन तीर्थ पर आते है। मैने वैसे छात्र-जीवन मे तथा कुछ समय कारावास मे, ज्ञानेश्वरी, (सत ज्ञानेश्वर-रचित गीता की मराठी व्याख्या) पढी थी। इस स्थान पर जहा सत ज्ञानेश्वर ने जीवित समाधि ली थी, समाधि के ऊपर एक शिव-मदिर बना हुआ है। वहा शिवलिंग की स्थापना भी की गई है। मैं इस पावन तीर्थ पर गया। जैसे ही श्रद्धा से नतमस्तक हुआ शिवलिग के समीप ही आसन जमाये पुजारी को एक यात्री के साथ निश्चित दक्षिणा के लिए वुरी तरह झगडते देखा। मुझे भारी दु ख हुआ। मेरा मन वहा समर्पित होने के बजाय इस झगडे की ओर चला गया कि किस प्रकार ये पुजारी ज्ञानेश्वर के अक्षय प्रभाव को कम कर रहे है। इससे जो लाभ मैं वहा उठाना चाहता था, आत्मविस्मृत हो जाना चाहता था—वह न हो पाया। मेरी यात्रा निष्फल मालूम हुई। लेकिन जब मैने पास ही एक झाडी के नीचे बैठे यात्रियो को श्रद्धा से ज्ञानेश्वरी का पारायण करते हुए देखा और खुद भी पाठ करने बैठ गया तो काफी प्रसन्नता और तन्मयता हुई। जो फल मुझे शिवलिग के दर्शन से प्राप्त नही हुआ, वह यहाँ अनायास मिल गया। कहते है कि सत ज्ञानेश्वर के सन्यासी पिता ने अपना दण्ड जिस स्थान पर रोप दिया था, उसीमे से इस झाडी का प्रस्फुटन हुआ है और प्राय सभी यात्री इसके नीचे बैठकर ज्ञानेश्वरी का पाठ करते है। इससे अज्ञात रूप मे जो प्रेरणा मुझे वहा मिली, वह उस मदिर मे नही मिल सकी। मदिर, जो अब दान-दक्षिणा का केन्द्र रह गया था, अपना पुण्य-वैभव खोता जा रहा था और उधर श्रद्धा से यात्रियो के द्वारा ज्ञानेश्वरी के निरन्तर पाठ से उस झाडी का कण-कण, वहाका प्रत्येक

परमाणु, पुण्य वरमा रहा था। जिन स्थानो पर जाने मे हमारे बुरे विचारो का अन्त होकर अच्छे विचार जागे, उन्हे पावन तीर्थ कहना चाहिए। भागवत मे द्वारका को ऐसा ही तीर्थ कहा है।

"प्रिय परीक्षित, पिण्डदान के अनन्तर वची-खुची स्त्रियो-वच्चो और वूढो को लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। वहा सव को यथायोग्य वसाकर अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का राज्याभिषेक कर दिया" ॥२५॥

"राजन्, तुम्हारे दादा युधिष्ठिर आदि पाण्डवो को अर्जुन से ही यह वात मालूम हुई कि यदुवशियो का सहार हो गया है। तव उन्होने अपने वशधर—तुम्हें राज्यपद पर अभिषिक्त करके हिमालय की ओर यात्रा की" ॥२६॥

अर्जुन वचे-खुचे स्त्रियो और वच्चो को लेकर लौटे और अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का राज्याभिषेक किया। यहासे यदुवश आगे चला। अर्जुन जव द्वारका मे वचे हुए आवाल-वृद्धो को लेकर लौट रहे थे तो मार्ग मे दस्युओ ने उन्हे लूट लिया। यह वही अर्जुन था, जिसके हाथ मे गाण्डीव आते ही वडे-वडे वीरो के छक्के छूट जाते थे और अव वही अर्जुन इस प्रकार मामूली दस्युओं से हार गया। काल की कैसी वलिहारी है! मगर उस समय कृष्ण सारथि के रूप मे उसके सहायक थे। इस समय वह परोक्ष-शक्ति उसके साथ नही थी।

"मैंने तुम्हे देवताओ के भी आराध्यदेव भगवान श्रीकृष्ण की जन्मलीला और कर्मलीला सुनाई। जो मनुष्य श्रद्धा के साथ इसका कीर्तन करता है, वह समस्त पापो से मुक्त हो जाता है" ॥२७॥

"परीक्षित, जो मनुष्य इस प्रकार भक्तभयहारी, निखिल सौंदर्य-माधुर्य निधि श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार सवधी रुचिर पराक्रम और इस श्रीमद्भागवत महापुराण में तथा दूसरे पुराणो में वर्णित परमानन्दमयी वाल-लीला, किशोरलीला आदि का संकीर्तन करता है, वह परमहस मुनीन्द्रो के अतिम प्राप्तव्य श्रीकृष्ण के चरणो मे पराभक्ति प्राप्त करता है" ॥२८॥

यहा, इस श्लोक के वाद एकादश स्कन्ध समाप्त होता है। इसकी स्तुति मे कहा गया है कि भगवान की जन्म-लीला, किशोर-लीला का जो सकीर्तन करता है वह उनकी पराभक्ति को प्राप्त करता है। श्रवण तव सफल माना जाता है जव ध्यान देकर सुने और कीर्तन वह जो श्रद्धा से अनुसरित हो। चट्टान पर गिरी वूद फैल-कर वह जाती है, मगर खेती के लिए तैयार की गई भूमि मे गिरकर वही वून्द

कितना कार्य कर दिखाती है। रामराम तो तोता भी रट लेता है, मगर इसी नाम को रटकर वाल्मीकि डाकू से महामुनि बन गये। केवल इसलिए कि एक ने केवल उसे जबान से गाया जबकि दूसरे ने मन मे उसे बैठाया। भगवान ने गीता मे तो यहा तक कहा है कि अधिकारी व्यक्ति ही उसका पारायण करे। किसी भी पुरुष का हार्दिक स्मरण, उसके गुण-कर्मों का गुणगान ही, कीर्तन कहलाता है और उसीका प्रभाव अमिट होता है। अन्त मे साराश रूप मे यही कहना होगा कि जीवन सच्चाई—हार्दिकता या सत्य के साथ ही कृतार्थ, सार्थक होता है, अन्यथा उसका कोई महत्व नही। सच्चाई, शुद्ध अन्त करण ही, भक्ति का प्रसाद है और आत्म-भाव परमात्म-प्राप्ति की सीढी है। निश्चय मन से भगवान के प्रति समर्पण ही भक्ति है—व्यष्टि का समष्टि मे आत्मसात हो जाना ही जीवन की सार्थकता है। भक्ति इसका सर्वोत्तम, मानव-भाव-पूर्ण, सरल और सरस रास्ता—साधन है।

भागवत दर्शन

भागवत दर्शन

: १ :

प्रेम और भक्ति

सभी मानते है कि भागवत का मुख्य विषय भक्ति है। मनुष्य मे इन्द्रिया हैं, भावना है और बुद्धि है। उनमे भावना बल है, बुद्धि मार्ग-दर्शक है और इन्द्रिया कर्म करती है। इसलिए इन्द्रियो का विषय कर्मयोग है,

भागवत—भक्ति-प्रधान

भावना का भक्ति-योग और बुद्धि का ज्ञानयोग। तीनो योग मिलकर मनुष्य-जीवन पूर्ण होता है। इन्द्रियो और बुद्धि के बीच मे स्थित भावना एक ओर बुद्धि को विचार करने के लिए प्रेरित करती है, दूसरी ओर इन्द्रियो की प्रगाढ भावना भक्ति का रूप धारण कर लेती है। भक्ति का प्रारम्भ अपने इष्ट के प्रति आदर से होता है, आदर का विकास श्रद्धा मे होता है, और श्रद्धा समर्पण मे परिणत होकर भक्तियोग को परिपूर्ण करती है। वस्तु का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान, वस्तु मे ओतप्रोत होने के लिए भक्ति, और इन दोनो की सिद्धि के लिए कर्म आवश्यक है। कर्म मे पुरुषार्थ, भक्ति मे आर्द्रता और ज्ञान मे प्रकाश का प्रभाव पाया जाता हे। यह प्रश्न ही है कि प्रेम भक्ति के आगे की अवस्था है या पहले की। प्रेम मे समानता अपेक्षित है, जबकि भक्ति मे उच्चता। दोनो का अपना-अपना स्थान मानव-जीवन मे है। दोनो मे महान वेग और शक्ति है, यह हमपर अवलम्बित है कि हम उसका उपयोग कैसे करें।

जगत का अनुभव यह बतलाता है कि यदि हम इन महान शक्तियो का उपयोग स्वार्थ और कामना के लिए करते है तो हम दुख के भागी होकर गिरते है और यदि हम उच्च लक्ष्य-प्राप्ति के लिए करते

भक्ति—समर्पण

है तो ऊपर चढते हैं। मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य यही हो सकता है कि वह चराचर सृष्टि मे अपनापन अनुभव करे। यह समर्पण क्रिया है। कर्म जहा फल लाता है, ज्ञान

जहा सत्य को प्रकाशित करता है, भक्ति वहा समर्पण की ओर ले जाती है। मनुष्य भी कोई कर्म-प्रधान होता है, कोई भाव-प्रधान तो कोई ज्ञान-प्रधान। वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही साधन-मार्ग पकड लेते हैं। मावन-जीवन मे इन तीन मे से किसी एक का सर्वथा अभाव नही होता। यह कहना भी कठिन है कि इनमे कौन ऊचा और कौन नीचा है। अध-पगु-न्याय से ये तीनो परस्पर आश्रित हैं। सबका टीम-वर्क मानव-जीवन मे चलता है। कोरा ज्ञान कई बार शुष्क हो जाता है। उसके साथ भक्ति की आर्द्रता या रस मिल जाता है तो वह सरस हो जाता है और कोरा ठूठ न रहकर हरा-भरा पेड वन जाता है। कुछ ऐसा अनुभव होता है कि मनुष्य मे प्राण-शक्ति या चेतन-शक्ति की खुराक भावना ही है। किसी श्रद्धेय या पूजनीय व्यक्ति या इष्टदेव या आराध्य के प्रति अखण्ड और प्रवल भाव-प्रवाह को भक्ति कह सकते हैं, जिसका पर्यवसान समर्पण मे होता है। ज्ञान सिखाता है कि परमेश्वर एक है और वह विद्वानो और अनुभवियो की भाषा मे सच्चिदानद-रूप है। परन्तु इतने से मनुष्य का काम नही चलता। वह उस रूप के साथ घुल-मिल जाना चाहता है। यह काम भक्ति करती है।

उपासना—आराधना

उपासना और आराधना भक्ति के पर्यायवाची शब्द पाये जाते हैं। साधारण व्यक्ति तीनो का प्रयोग भक्ति के ही अर्थ मे करते हैं। परन्तु इन तीनो के रूप मे कुछ-कुछ भिन्नता है। इष्टदेव के गुणो को प्राप्त करने की प्रक्रिया उपासना है। उसके प्रति आदर, श्रद्धा, उच्च भाव प्रकट करने की विधि को आराधना और समर्पण की प्रक्रिया को भक्ति कहेंगे। जप, नाम-सकीर्तन ये पूजा, भक्ति के साधन हैं। तीनो एक साथ भी किये जा सकते हैं और अलग-अलग भी। श्रीमद्भागवत मे इसी भाव को अकित करने का और सरलतम विधि वताने का स्थान-स्थान पर प्रयत्न किया गया है कि हमारा भक्ति-भाव किस प्रकार हमसे अपने आराध्य तक वेखटके पहुचा। बुद्धि के विकास के विना ज्ञान की सभावना नही, परन्तु भावना सहज स्वाभाविक रूप मे प्रत्येक मनुष्य-प्राणी मे पाई जाती है। निष्कपट नि स्वार्थ प्रेम और अनन्य भक्ति ससार मे कौन-सा चमत्कार नही कर सकती ?

प्रेम और भक्ति के लिए दो की आवश्यकता है। जब यह दो अलग न रहकर एक हो जाते है, तब वह एकत्व ज्ञान का प्रतीक है। इस अर्थ मे भक्ति ज्ञान का साधन है। परन्तु ज्ञान के बाद एकत्व का निरतर अनुभव समर्पण के विना सुगम नही, और समर्पण ज्ञान-साध्य नही, भक्ति-साध्य है। पुराणो की जो रचना भारतवर्ष मे की गई, वह ज्ञान और ज्ञान से प्राप्तव्य को सरल और सुगम बनाने के ही लिए है। अपने मन को, अपने भाव को किसीके प्रति ले जाना मनुष्य के लिए विलकुल सरल है। जीवात्मा को परमात्मा के प्रति, भक्त को भगवान के प्रति सरलता से दौडते हुए ले जाना भक्ति का सहज काम है। इसीलिए ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग सर्वसाधारण को अधिक रुचिकर होता है। घर मे वच्चा माता-पिता, भाई-बहन, और दूसरे वडो और वरावरवालो के प्रति सहज स्नेह से जितना आकर्षित होता है, उतना बुद्धि, तर्क और ज्ञान से नही। बडे-वडे ज्ञानियो और ज्ञानमत के प्रवर्तको ने भक्ति की महिमा गायी है। उनके रचित स्तोत्र-भजन इस बात का प्रत्यक्ष साक्ष्य देते है। यहा भक्ति के शास्त्रीय भेद और प्रकार आदि के विवेचन मे पडने की आवश्यकता नही है। इनका परिचय पाठको को श्रीमद्भागवत मे ग्यारहवे स्कन्ध मे भी जगह-जगह मिल जायगा।

समर्पण से एकता

२ :

धर्म का उदय

जीवन को कृतार्थ या सफल बनाने के अचूक मार्ग का नाम धर्म है। अत पहले हम यह देख लें कि धर्म की कल्पना या आवश्यकता मनुष्य को कैसे हुई? क्यो उसे धर्म के नाम से कुछ नियमादि बनाने पड़े।

सृष्टि हुई, मनुष्य बना। पहले एक मनुष्य था, उसीके शरीर से स्त्री बनी—दोनो आधा-आधा मिलकर एक कहलाये। फिर इनके जोडे से धीरे-धीरे सारा मनुष्य-जगत वन गया। यह कल्पना सही है या यह कि सब जीवधारियो के और मनुष्य के भी जोडे एक साथ वन गये, प्रकृति ने बना दिये—अर्थात अपने आप वन गये, या भगवान ने बनाये—इन प्रश्नो को फिलहाल छोड़ दीजिए।

झुड और समाज

यह निश्चित है कि मनुष्य ने अपनी रक्षा और विकास—धारण-पोषण के लिए समाज बनाया। बिना नियम के, प्राकृतिक प्रवृत्तियो के अनुसार चलनेवाला 'झुण्ड' कहलाता है और सोच-समझकर बनाये नियमो के अनुसार सगठित रूप से चलनेवाला 'समाज' कहलाता है। पशुओ का 'झुण्ड' कहलाता है, मनुष्यो का 'समाज'।

धर्म की आवश्यकता

डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे "खगोलज्ञो का अनुमान है कि भौतिक विश्व का प्रारभ चार या पाच अरब वर्ष पहले हुआ था। उससे पहले न तो तारे थे और न परमाणु। पृथ्वी का जन्म लगभग तीन अरब वर्ष पहले हुआ था। फिर क्रमश रीढधारी तथा स्तनपोषी जन्तु पैदा हुए। आदमी इस ग्रह पर पाच लाख साल पहले आया। वह अन्य प्राणियो से भिन्न अद्वितीय प्राणी था। वह अपने सबसे नजदीकी रिश्तेदारो, वनमानुषो, से भी भिन्न था, क्योकि उसने पेडो पर रहना छोडकर दो पैरो पर चलना शुरू कर दिया। मनुष्य अपने पिछले पैरो पर चलने लगा तो उसके अगले पैरो के पजो को उसके शरीर का भार सभालने की आवश्यकता न रही और वे अधिक सुकुमार काम करनेवाले हाथो मे बदल गए। इस कारण वह सीधा खडा होने और समार की क्रिया को नियन्त्रित रखने लगा, फलत वाणी का विकास हुआ। किन्तु आदमी तथा दूसरे जानवरो के बीच का सबसे बडा अन्तर तो है आदमी के मस्तिष्क का आकार और गुण। मानो अपने से पहले के जानवरो को पीछे छोडकर, आदमी तर्करहित जीवन के अधकार से बाहर निकल आया और प्रश्न करने लगा "क्यो ?" यही विवेक-युक्त चेतनता का प्रादुर्भाव है। अब वह अधी भौतिक शक्तियो का शिकार नही है, वरन अपने भविष्य के निर्माण मे स्वय भागी बनता है। जानवर अनुभव और नकल करके ही सीखते है, किन्तु अनुभव से सीखने की क्षमता का सर्वाधिक विकास आदमी मे ही हो पाया है।"

कुल निर्माण

मनुष्य के पैदा होते ही उसके भोजन का सवाल आया। मा के दूध के अलावा जो कुछ पदार्थ उसे अपने सामने, आसपास, नजदीक सहज भाव से मिले उनको खाकर वह जीवन बसर करने लगा। जिन वस्तुओ को शरीर के लिए हानिकर समझा उसे छोडता गया, जिनसे लाभ और सुख देखा, उन्हे ग्रहण करता गया—अपनाता गया। इन प्रयोगो से उसकी बुद्धि का विकास

हुआ, अनुभव वढा और फिर अकेला रहने के वजाय गोल वनाकर रहने मे सुरक्षितता का अनुभव किया। सन्तान होते रहने से 'कुल' की नीव पडी। 'कुल' का विकास 'समाज' के विकास के रूप मे हुआ।

मनुष्य मे भावना और बुद्धि का विकास साथ-साथ होता गया। मन मे जो कुछ प्रेरणा या स्फुरण होता है उस सवको भाव-भावना कह सकते है और उस प्रेरणा मे जब अच्छे-बुरे का, उचित-अनुचित का, हानि-लाभ का, कर्तव्य-अकर्तव्य का वोध होने लगता है, विचार होने लगता है तव वह बुद्धि का काम होता है। अन्त मे मनुष्य सोच-विचार कर कुछ निर्णय कर लेता है। यहा जाकर एक तरह से बुद्धि ने अपना काम कर दिया। दूसरे शब्दो मे कहे तो बुद्धि भावना पर कुछ पावन्दी लगाती है, उसे कुछ सीमा मे ले आती है। बुद्धि की यह प्रक्रिया नियमो की जननी है। स्वच्छन्द, अव्यवस्थित, असगठित जीवन को, जीवन-व्यापार को, उससे होनेवाली हानियो को, अनुभव करके जव हम सु-सचालित करने का प्रयत्न करते है तभी नियम का जन्म होता है। जिस मार्ग पर हम सुखपूर्वक चलने का, उन्नति करने का, प्रयत्न करते है, वही नियम वन जाता है। इस प्रकार आगे चलते-चलते मनुष्य ने व्यक्तिगत सुख-दु ख के, और फिर जब समाज वनाने की आवश्यकता हुई तो उसके लिए कुछ नियम वनाये। अनुभव से उनमे फेर-बदल और घटा-वढी करता गया।

नियमो की सृष्टि

आरम्भ मे ही जैसे उसे शरीर को धारण करने के लिए कुछ भक्षण की आवश्यकता हुई वैसे मन को प्रसन्न और जीवन को सुखी या सुखमय वनाने के लिए भी कुछ साधन जुटाने पडे। चारो ओर उसने प्रकृति को देखा। मन को प्रसन्नता देनेवाले, सुख-समाधान देनेवाले, उत्साह व उमग भरनेवाले पदार्थ भी देखे। मन को भयभीत करनेवाली, दु ख और क्लेश मे डालनेवाले पदार्थ और शक्तियो का भी अनुभव किया। वह सोचने लगा कि मेरे आसपास, सामने, प्रत्यक्ष, जो कुछ दिखाई देता है, उसके अलावा भी कोई पदार्थ या शक्तिया हैं, जिनका प्रभाव हमपर पडता है। जैसे पानी का बरसना, विजली का कडकना, बर्फ का गिरना,

अदृश्य शक्ति का अनुभव

कभी धूप, कभी गर्मी, कभी सर्दी का होना आदि। साप, बिच्छू, हिरन, गाय, शेर, भालू, सुअर आदि जानवर देखे—कुछ सीधे, कुछ खूखार। फिर मनुष्यो मे भी तरह-तरह की प्रवृत्तिया और व्यक्ति देखे। कोई सहायक होते थे, कोई विघ्न डालते थे। कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अदृश्य शक्तियो का अनुभव करके उसे अपने रक्षण की भी आवश्यकता महसूस हुई। यो सच पूछिये तो पैदा होते ही जीव पहले रक्षण की चिन्ता करता है। भक्षण, रक्षण का पहला कदम , उपाय है। यह मूल साधन है रक्षण का—बल्कि यो कहे कि अस्तित्व का। मनुष्य सबसे पहले अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है। एक ओर भक्षण करके, दूसरी ओर बाहर से अपनी रक्षा के लिए साधन जुटा के। जीव-जन्तुओ, दुष्ट मनुष्यो से अपनी रक्षा के लिए उसने पहले प्रकृति-दत्त अपने शरीर की इन्द्रियो से ही काम लिया, बाद मे जब उसे वह अपर्याप्त मालूम हुई तो झाड-पेड, पत्थर आदि से सहायता लेने लगा। इसीका विकास आगे जाकर शस्त्रास्त्र मे हुआ। विस्फोटकारी विनाशक एटम बम उसीकी परणति है। एक ओर जहा उसने बाह्य प्राकृतिक उपकरणो मे अपनी रक्षा मे सहायता ली, वहा मन से भी अदृश्य, अज्ञात शक्तियो का आह्वान वह करने लगा। परिवार और कुल बनाकर अपने अनुभव से उसने देखा कि मनुष्यो को समझा-बुझाकर, दब-झुककर और अनुनय-विनय करके भी अपने को हानि और क्लेश से बचाया जा सकता है, तो कई बार उनका मुकाबला करके, उनको कष्ट पहुचाकर, यहातक कि मार, कर भी अपना बचाव किया जा सकता है। अनुनय-विनय मे से प्रार्थना का और मुकाबले मे से युद्ध-प्रवृत्ति का जन्म हुआ। अपनेको सुख देने, विपत्तियो से, आक्रमणो से अपनी रक्षा करने के लिए मनुष्य अदृश्य शक्तियो की प्रार्थना करने लगा। उनका सहारा लेने की आवश्यकता उसने महसूस की। इसीका विकास प्रार्थना, उपासना आदि है। भय से, सकट से बचाने और सुख पहुचाने—इस तरह दुहरे उद्देश्य से मनुष्य ने प्रार्थना करना सीखा। अदृश्य शक्तियो की खोज ने पहले तो उसे कई देव-देवियो, भूत-प्रेतो, भैरव-भवानियो तक पहुचाया। बाद मे इन सभीमे किसी एक ही महान शक्ति का आभास हुआ। आज उसे हम ईश्वर, भगवान, परमात्मा, परमेश्वर, गॉड, अल्लाह आदि कई नामो से पुकारते हैं।

तो अब उसके सामने दो शक्तिया आई—एक स्वय प्रकृति जो प्रत्यक्ष उसके सामने थी, दूसरे अदृश्य शक्तिया और उनके मूल मे रही एक महान शक्ति।

जगत, ईश्वर और धर्म का उदय

तीसरा उसने स्वय अपनेको देखा। दो तो प्रत्यक्ष सिद्ध एक अप्रत्यक्ष किन्तु अनुमान और अनुभव-सिद्ध। पहले तो उसने इन सबको अलग-अलग शक्तिया माना, फिर चिन्तन और अनुभव से तीन प्रधान शक्तियो को मानने लगा। यह भेदवाद कहलाया, (१)जीव—खुद मनुष्य और दूसरे जीवधारी(२)जगत—प्रकृति जो उसके सामने थी (३) ईश्वर—जो अदृश्य था, परन्तु जिनका उसे कदम-कदम पर अनुभव होता था।

भक्षण और रक्षण के साथ ही मनुष्य को धारण और विकास की भी आवश्यकता मालूम हुई। प्रकृति या परमात्मा ने ही यह क्रिया उसके अदर भर दी है। जीव पैदा होते ही नही मर जाता। पेड-पौधे उगते ही नही नप्ट हो जाते। कुछ समय ठहरते है उनमे क्रमिक परिवर्तन होता है। अन्त को किसी एक दिन वे मुरझा जाते है। पर इसी बीच फूल-फल कर, सन्तान देकर हमे प्रसन्न और समृद्ध भी बनाते है। इस प्राकृतिक या ईश्वरीय विकास-क्रिया को देखकर फिर उसने अनुभव और सोच-विचार के आधार पर, व्यक्तिगत तथा कुछ और समाज के भी धारण, पोषण, तथा विकास के लिए नियम बनाये। रक्षा करनेवाले, सुख पहुचानेवाले, कल्याण और मगल करनेवाले नियमो को उसने धर्म नाम दिया। इसके विपरीत अधर्म कहलाया। प्रत्यक्ष जगत मे किस प्रकार रहना और दैवी या ईश्वरीय शक्ति को किस प्रकार प्राप्त करना ये दोनो बाते धर्म मे शामिल हुई। धर्म कल्पना के उदय की यह शुरुआत है। यह एक दिन या कुछ ही वर्ष मे नही हो गया। कई साल, बल्कि युग लगे होंगे। एक ही व्यक्ति या शक्ति या व्यवस्था ने यह एकबारगी नही कर डाला। कई व्यक्तियो, शक्तियो, व्यवस्थाओ, सगठनो के वर्षो के परिश्रम और अनुभवो का फल है धर्म-अधर्म का आविष्कार या उदय।

एक और प्रश्न या समस्या भी खडी हुई। एक से दो होते ही, एक से दो के मिलते ही, दोनो के परस्पर व्यवहार के लिए कुछ मर्यादा होने की आवश्यकता

नीति-सदाचार का जन्म

लगी। सबकी चाह तो यही थी कि एक दूसरे के साथ मिलकर सुख से रहे, कोई किसीको सतावे नही। परन्तु कई बार भीतरी प्राकृतिक प्रेरणाएँ, कई बार बाहरी आवश्यकताए उन्हे मजबूर कर देती थी दूसरे को सताने तथा उसको सताकर

भी अपना सुख प्राप्त करने के लिए। यह मनुष्य को, कुल मिलाकर, हानिकर और असह्य होने लगा। इस उलझन मे से भी उसे कुछ नियम बनाना आवश्यक प्रतीत हुआ। इन नियमो को ही हमने नीति व सदाचार नाम दिया है।

तो अब हमारे नियम दो भागो मे बट गये। नीति-सदाचार और धर्म। दोनो मे अन्तर इतना रहा कि समाज-व्यवहार के नियम नीति-सदाचार कहलाये और जिनमे दैवी या ईश्वरीय शक्ति को पाने का भी विधान बताया गया है, वे धर्म कहलाये। नीति-सदाचार धर्म के ही अग कहलाने लगे, क्योकि धर्म का क्षेत्र प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी बातो मे फैला हुआ है। फिर यह अनुभव हुआ कि जिसे हम प्रकृति, प्रत्यक्ष जगत या साक्षात शक्ति कहते है, इन सबका स्रोत यह अव्यक्त शक्ति ही है। चन्द्र, सूर्य, तारे भी, जो हमे महान प्रचण्ड शक्तिया दीखती है वे भी, किसी एक महान अदृश्य दिव्य शक्ति के सहारे चलते है। तब तो धर्म ही हमारे जीवन मे प्रधान स्थान ले बैठा। मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामाजिक सुरक्षा, धारणा, पोषण, विकास, सुख-शाति सबका एकमात्र साधन, रामबाण उपाय 'धर्म' ही मनुष्य के हाथ लग गया। इससे उसे परम सतोष का अनुभव हुआ।

धर्म ग्रथ

मनुष्य किसी एक देश या प्रात मे नही रहता। परिवार, कुल, जाति भी देश, काल, पात्र के भेद से, विविधता से, अनेक हो गये। भाषा, वेश-भूषा, सस्कार, रीति-नीति, लोक-व्यवहार अनेक हो गये। कई परस्पर अनुकूल, कई परस्पर भिन्न और एक दूसरे के प्रतिकूल भी। फिर कई व्यक्तियो ने, महापुरुषो ने, ऋषि-मुनियो ने विद्वानो-आचार्यो ने, नेताओ-अवतारो ने, पीर-पैगम्बरो ने अपने-अपने अनुभव के अनुसार उसी धर्म के अनेक छोटे-बडे मार्गो का प्रतिपादन किया। ईश्वर भले ही एक हो, प्रकृति भले ही 'सामने दीखती हो, मनुष्य समाज भले ही छोटा हो, पर सबमे अनत छिपी शक्तिया भरी पडी है। किसीने एक तरह से एक शक्ति को देखा, किसीने दूसरी तरह से। जिसने जैसा देखा, जैसा समझा, जैसा अनुभव किया, उसे ही सच, लगभग अतिम माना, उसीकी स्थापना की, उपदेश और प्रचार किया। इससे भिन्न-भिन्न धर्म, सप्रदाय बन गये। इस समय विश्व मे मुख्य धर्म है हिन्दू, मुसलमान, बुद्ध, ईसाई, सख्या और प्रभाव की दृष्टि से ये चार बडे धर्म है। इनमे, बुद्ध धर्म हिन्दू या सनातन धर्म मे से ही

निकला है। इनके फिर अनेक सप्रदाय हो गये और उनकी अनेक प्रणालिया, मठ, धर्मगुरु आदि आज पाये जाते है। धर्म की उच्चता-श्रेष्ठता, अच्छाई-बुराई को लेकर इतिहास मे कई धर्म-युद्ध हुए है। धर्म के नाम पर कई अनीति, पापाचार, हिंसाचार भी चले और चल रहे हैं। उन सारे झगडो और विवादो से हमे यहा कोई प्रयोजन नही है। हमे तो यहा केवल इसी बात का विचार करना है कि मनुष्य को अतिम रूप से सुख और शाति पहुचानेवाला सरल मार्ग, साधन या धर्म कौन-सा है। अधिकतर लोग, पढे-लिखे और अपढ-कुपढ, पिछडे और गिरे हुए, जगली-गवार और शहरी-सभ्य सभीके लिए क्या कोई एक मार्ग—धर्म भी है, और यदि है तो वह कौन-सा है? जो विद्या, ज्ञान, धन, शक्ति-साधन-सपन्न है, वे तो कठिन, व्यय तथा श्रम-साध्य साधन-धर्म-मार्ग-से भी चल सकते है। वे सख्या मे थोडे भी है। अत हमे बहुतो के लिए, जन-साधारण के लिए, जनता के लिए किसी धर्म-मार्ग को खोजना है।

सरल धर्म का मार्ग

'धर्म' शब्द आजकल कुछ बदनाम भी हो गया है। जैसे कोई अपना नाम मगल रखकर भी अमगल आचरण करे तो 'मगल' नाम से लोग चिढने लगते है, वैसे ही धर्म का दुरुपयोग करने से लोग 'धर्म' नाम से ही चिढ गये हैं। फिर धर्म के जो भिन्न-भिन्न अनुगम (रिलीजन)—सम्प्रदाय है, उन्हीको 'धर्म' का स्थान कई जगह दे दिया है। वास्तव मे वे अलग-अलग धर्म-मार्ग है। उन्हे अनुगम या धर्म-सप्रदाय कहना उचित होगा। इस बात की सावधानी न रखने से धर्म-सम्प्रदायो, धार्मिक मान्यताओ, कुछ कथित धर्माचार्यो के झगड़े-विवाद ये सब हमने 'धर्म' के नामे लिख दिये है। इस भूल को भी हमे यहा सुधार लेना है। धर्म शब्द का अर्थ ही है, जिसमे मनुष्य और समाज का धारण, पोषण और विकास हो। अब स्वय धारणा, पोषण और विकास-सबधी मूल या ऊपरी कल्पनाए जब अलग-अलग हो जाती है तो धर्म के अग-प्रत्यग बन जाते है। उन्हे परस्पर अनुकूल व सहायक ही होना चाहिए, पर वे हमारी कमियो, गलतियो, स्वार्थ-साधना, अल्पज्ञान, अभिमान, महत्वाकाक्षा आदि कई कारणो से एक दूसरे के विरोधी हो जाते है। तब सच पूछिए तो धर्म के कथित शरीर की रक्षा के लिए उनके लोभ या मोह मे हम धर्म की आत्मा पर ही, जान मे या अनजान मे आघात कर बैठते हैं। इस गलती से और दोष से भी हमे बचना है। हम भूल

जाते हैं कि खुद हमारा शरीर एक है, उसके अग-प्रत्यग अनेक है। वे कभी एक दूसरे को दु ख या हानि नही पहुचाते। सब अग अपना-अपना निर्दिष्ट या विशिष्ट काम करते रहते हैं परन्तु सबको शरीर की रक्षा और वृद्धि का पूरा खयाल रहता है, यह हमे नित्य प्रत्यक्ष अनुभव होता है, फिर भी हम अपने कथित धर्म, सिद्धान्त, आदर्श के नाम पर लड ही नही पडते, वल्कि एक दूसरे का सर्वनाश करने पर उतारू हो जाते हैं। इस गलती को हमे पहचानना, दुरुस्त करना और उससे सावधान रहना है।

ज्ञान-भक्ति-कर्म

जैसे-जैसे समाज विकास पाता गया, सगठन दृढ होता गया, वुद्धि मस्तिष्क तथा हृदय की भावनाओ का विस्तार होता गया, नवीन-नवीन कल्पनाओ समस्याओ का उदय होता गया, वैसे-वैसे मनुष्य की धर्म तथा नीति-सदाचार-सबधी धारणाओ मे विविधता आती गई और परिवर्तन भी होता गया। वुद्धि-वल ने ज्ञान को मुख्य कहा, हृदय ने भावनाओ को प्रधानता दी, ससार के सुख-दुखो के अनुभव ने लोक-व्यवहार का महत्व वढाया। इस प्रकार ज्ञान-प्रधान, भाव या भक्ति-प्रधान तथा सासारिक कर्म-प्रधान प्रेरणाओ ने क्रमश धर्म को कही ज्ञान-प्रधान तो कही भाव-प्रधान तथा कही कर्म-प्रधान वना दिया। ज्ञान, भावना और कर्म या ज्ञान, कर्म और कला तीनो को मिलाकर जीवन परिपूर्ण होता है। भावना हमे प्रेरणा देती है वुद्धि-ज्ञान उसमे सारासार विवेक से ग्राह्य-अग्राह्य का भेद वताता है और ग्राह्य पर जोर देता है और उसे निश्चय के रूप मे वदल देता है तथा कर्म द्वारा निश्चय के अनुसार व्यवहार होता है। या यो कहे कि ज्ञान-निश्चय के अनुसार कर्म होता है या होना चाहिए। और कर्म कुशलता अर्थात व्यवस्थित ढग से होना चाहिए, कलायुक्त होना चाहिए। इन तीनो मे से यदि एक का भी सहयोग न मिला तो जीवन अधूरा रह जाता है।

भावना सवमे अनुस्यूत

अव हर मनुष्य मे तीनो अग एक से विकसित नही होते। सवका समान विकास वहुत कठिन है। जिसने इनका सतुलन साध लिया वस वह महात्मा—मुक्त हो गया। साधारण शब्दो मे किसीको आप ज्ञान-प्रधान, किसीको भाव-प्रधान किसीको कर्म-प्रधान पावेंगे। यही कारण है कि जो किसीको ज्ञान-प्रधान वेदात पसद आता है, किसीको भाव-प्रधान भक्ति-मार्ग। भगवान की सेवा-पूजा, उपासना

नवसिखिया हारमोनियम या सारगी बडे परिश्रम से सीखता और नियम-विधान की भावना को जाग्रत रखकर चलता है, परन्तु वही साधना की अतिशयता मे स्वच्छन्द व मस्त होकर आखे बन्द किये हुए भी सरपट और शुद्ध रूप से बजाता चला जाता है। मनुष्य की वह सिद्धि-स्थिति अन्त मे हो जाती है। इसीको हम मोक्ष कहते हैं।

यहा हमे ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग का अधिक विचार नही करना है। क्योकि कुछ विशिष्ट पुरुषो के लिए जो साधन है, जो आम तौर पर सर्वसाधारण की पहुच के बाहर है उनपर विचार करना हमे अभीष्ट नही है। बुद्धि से जिन्होंने विचार किया है उन्होंने छोटे-बडे कई मार्ग बताये हैं, परन्तु वे मोटे तौर पर तीन भागो मे बाटे जा सकते हैं। (१) वे जो सृष्टि के मूल मे एक ही चेतन सत्ता को मानते है (२) वे जो दो सत्ताओ को मानते हैं—एक जड और दूसरी चेतन, जड को प्रकृति, चेतन को पुरुष कहा है, (३) वे जो तीन सत्ताओ को मानते हैं (१) जीव, जगत और ईश्वर जो प्रत्यक्ष तीन दिखाई देते हैं, उन्हीको मानते हैं। प्रकृति के सब तत्व सब चेतन देवी-देवता आदि का समावेश इन्ही तीन विभागो मे हो जाता है। मूलत भक्ति-मार्ग इसपर जोर नही देता है कि तत्व या सिद्धान्त रूप से आप एक माने या दो को या तीन को या अनेको को। जिसकी जैसी रुचि, अवस्था, सस्कार हो वैसा हम माने। पर जिस किसीको वह मानता हो उसके प्रति समर्पण-भाव पर उसका जोर है। भक्ति के अनेक अग-उपाग और साधन बताये गए हैं, परन्तु उनमे परमेश्वर-दैवी शक्ति को पाने, उसमे लीन हो जाने या उसे अपनेको निवेदित समर्पित करने पर आग्रह रखा है।

भक्ति का हार्द

भक्ति मे भी कई मार्ग, सम्प्रदाय, आश्रम बन गये हैं। प्रस्तुत लेख मे हमे भगवद्भक्ति या भागवत-धर्म का विचार करना है।

भारत मे ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक और जैन दो ही धर्म अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं। बौद्ध धर्म बाद का है। विश्व के दूसरे ईसाई और इस्लाम-धर्म तो आधुनिक ही हैं। भक्ति का प्रतिपादन सभी धर्मों मे किया गया है, परन्तु यहा हम भारतीय धर्मों तक—उसमे भी वैदिक धर्म तक सीमित रहेगे, क्योकि 'भागवत धर्म' नाम वैदिक धर्मियो का, या हिन्दुओ का है, जैन, बुद्ध आदि का

भक्ति की प्राचीनता

नही। फिर वेद अवतक के लिखित साहित्य मे सवसे प्राचीन है, यह निर्विवाद है—भारत मे ही नही-समस्त विश्व मे। अत यदि हमे सप्रमाण इस बात की खोज करना है कि भक्ति-मार्ग या भागवत-धर्म कितना पुराना है तो वेदो मे ही हमे वह मिल सकता है। वेद-काल के वारे मे स्वय वडा मतभेद है। वेदो के अर्थ भी कई विषय-परक लगाये गए है। जिस किसी प्रथा या मार्ग का उल्लेख वेदो में मिलता है तो यह भी मानकर ही चलना पडेगा कि वह वेदो से भी पुराना है। वेदो मे ब्राह्मण, उपनिषद दोनो का समावेश होता है। प्राचीनता की दृष्टि से निश्चय ही सहिता भाग अधिक पुराना मानना होगा। भक्ति के कई अग हैं, जिनमे सकीर्तन और नाम-स्मरण भी है और ऊचे भाव या हार्द-समर्पण, निवेदन की अपेक्षा इन्ही सरल साधनो मे जन साधारण का अधिक मन लगता है। ये आत्म-निवेदन के प्रथम सोपान समझने चाहिए।

फिर भक्ति, उपासना, प्रार्थना, ये शब्द भी समानार्थक हो गये है, हालाकि इनके अर्थो औ ध्वनियो मे अन्तर है। इसकी चर्चा आगे, अनुकूल प्रसग पर करना ठीक होगा। वेदो मे भक्ति-मार्ग का सकेत कहा किस-किस तरह मिलता है, इस विषय मे यहा वेद-विद्वानो के अवतरण देना उपयुक्त होगा। पहले वेद के परम विद्वान स्व० पडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का मत सुनिए—

वेदो मे भक्ति-मार्ग

"वेदत्रयी (ऋक्, यजु, साम) मे ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीन मार्गों का निर्देश है। इन्हीको भक्तिवाद के शब्दो मे हम स्तुति, प्रार्थना और उपासना भी कह सकते हैं। ज्ञान हमे लक्ष्य का बोध कराता है, कर्म हमे लक्ष्य तक पहुचाता है और उपासना के द्वारा हम उस लक्ष्य के पास बैठने मे समर्थ होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद द्वारा हमे ज्ञान, कर्म, उपासना या स्तुति, प्रार्थना और उपासना इन तीनो का सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान वैदिक ऋषियो ने दिया है।

भक्ति मे इन तीनो का समन्वय होता है। इन तीनो का समन्वय ही वैदिक भक्ति का आदर्श है। इसी आदर्श को दृष्टि मे रखकर यहा वैदिक भक्ति के स्वरूप का विवेचन किया जाता है।

'भज सेवायाम्' इस धातु से 'भक्ति' शब्द सिद्ध हुआ है। सेवा का अर्थ है अपने श्रद्धेय के गुणो का अनुभव करना और उन गुणो से लाभ लेकर अपने श्रद्धेय जैसा बनना। शतपथ ब्राह्मण मे आया है 'यद्देवा अकुर्वन्तत्करवाणी' अर्थात

'देवो ने जो कुछ किया है उसीको मैं भी करू।' भक्त को अपने पूज्य मे पूर्ण विश्वास होता है, क्योकि भक्ति-भावना ईश्वर के अस्तित्व पर ही निर्भर है। भक्त का वही प्राण, जीवन एव आधार है। साधारण मनुष्य परमात्मा को भूल सकता है, पर भक्त उसको कभी भी नही भूल सकता। वह भगवान को अपने चारो ओर व्याप्त हुआ देखता है। भगवान ही उसका माता-पिता है। वह बडे प्रेम से गाता है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ॥' (अथर्व० २०।१०८।२) 'हे शतक्रतो इन्द्र ! तू ही हमारा पिता और माता है, इसलिए हम तुझसे सुख की याचना करते है।''

परमात्मा भी अपने भक्तो की हर तरह से सहायता करता है। पुराणो की गाथाए मनुष्यो को परमात्मा-भक्ति की ओर प्रेरित करती है।

स्व० मनीषि डा० सम्पूर्णानदजी की खोज यह है—

वेदो मे भगवान

''वेदो मे भगवान की खोज करने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैदिक वाङमय मे 'भगवन्नाम' शब्द नही मिल सकता। यह तो पौराणिक काल की देन है। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हू कि इस जगह 'वैदिक वाङमय' का व्यवहार किस अर्थ मे किया है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस परिभाषा के अनुसार मत्र और ब्राह्मण दोनो का नाम वेद है। प्राय दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रसग मे 'ब्राह्मण' शब्द से उपनिषदो की ओर सकेत माना जाता है, परन्तु मैं इस लेख के सन्दर्भ मे रामतापनी, गोपालतापनी, नृसिहतापनी, अथर्वशीर्ष, गणेशतापनी आदि को छोड रहा हू, जो प्रत्यक्ष ही किसी सम्प्रदाय-विशेष की उपासनाओ और मान्यताओ का पोषण करती है। इनमे तो भगवान और भगवती जैसे शब्द मिल ही सकते हैं। विशेष खोज का काम ही नही।

जिसको मैंने वैदिक वाङमय कहा है उसमे 'भगवन्नाम' जैसा पद हो या न हो, भगवान की चर्चा तो है ही, यद्यपि ईश्वर शब्द का भी व्यवहार कम ही हुआ है और वह भी स्पष्टतया रुद्र के लिए। वेद ईश्वर का निश्वसन माना जाता है। समूचे वेद मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे उसकी ही चर्चा है। उसकी अनेक रूपता और सर्वव्यापकता पदे-पदे इगित हो गई है। पुरुष सूक्त मे स्पष्ट कहा गया है—

'पुरुष एवेद सर्वम्' (अथर्ववेद १९।६।४)

यह सब पुरुष ही हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते (अ० वे० १०।८।१३)

इन शब्दो के द्वारा यह स्पष्ट कहा गया है कि पुरुष अज है। वह शरीरधारी नही है, फिर भी अनेक रूपो मे जन्म लेता हुआ-सा शरीर धारण करता हुआ-सा प्रतीत होता है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे ईश्वर के अनेक रूपो का वर्णन है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे 'अस्वाध्यक्षः परमे व्योमन्', परम व्योम मे रहनेवाला इस जगत का अध्यक्ष, कहकर उसे सूचित किया है और इसी सूक्त मे यह वाक्य भी आता है—

आनीदवात स्वधया तदेकं तस्माद्वान्यत् न परः किंचनाम्।

वह अपनी स्वधा नाम की पराशक्ति के साथ अकेला सास ले रहा है। उससे पर कुछ नही था।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नही।

जिस ईश्वर की वेद मे इतनी चर्चा है, उसके नाम या नामो के सबध मे वेद ने एक वाक्य मे सबकुछ कह दिया है—

'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ती'। (ऋग्वेद १।१६४।४६)

वह सत्य पदार्थ एक है, विद्वान उसको अनेक नामो से पुकारते है। इस दृष्टि से तो वेद मे उसके सैकडो नाम आये है। विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, आदित्य, हिरण्यगर्भ, अग्नि, वायु, ऊषा, इला। इन सब नामो का वाच्य वही है। ये सब भगवन्नाम है।

परन्तु जिस प्रसग मे 'भगवन्नाम' शब्द का व्यवहार हुआ है, उनमे लोग ऐसे नामो की चर्चा करते है जिनका किसी-न-किसी रूप मे जप किया जाता है: अकेले या और कुछ शब्दो को मिलाकर लोग राम, कृष्ण, नारायण, शिव, चामुण्डा, जैसे नामो का जप करते है। जिन वैदिक नामो की मैंने ऊपर चर्चा की है वे इस कोटि के नाम नही है। इनमे से किसी के जप का विधान वेद मे नही मिलता। तब फिर हमको यह देखना है कि वेद मे किन्ही जप करने के योग्य नामो की चर्चा है या नही।

नाम दो प्रकार के होते हैं—वर्णात्मक, और ध्वन्यात्मक। जो नाम वर्ण-माला के अक्षरो को मिलाकर बनते हैं उनको वर्णानात्मक कहते है, जैसे राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा। ये सब इसी जाति के नाम है।

नाम के प्रकार

जैसाकि मैंने अभी ऊपर लिखा है, वेद मे ऐसे किन्हीं नामो के जप का विधान नही है। ध्वन्यात्मक नाम वे है जिनका अनुभव योगी को ही होता है। जब योगी का प्राण सुषुम्ना मे प्रवेश

करके मूलाधार के ऊपर उठता है तब उसको अन्य अनुभूतियो के साथ दिव्य नाद की अनुभूति होती है। उसके मार्ग मे जो मुख्य स्थान आते हैं—ऐसे स्थान जिनको एक प्रकार से प्राण की यात्रा के स्टेशन कह सकते हैं। उनकी 'चक्र' सज्ञा है। प्रत्येक चक्र मे नाद का एक विशेष रूप होता है, हिन्दी का प्रयोग करनेवाले सिद्ध और मत के आचार्यो ने इन नादो को सामूहिक रूप से 'अनहद' कहकर पुकारा है, जो सस्कृत के 'अनाहत' का तद्भव रूप है। सहसार मे पहुचकर नाद के सूक्ष्मतम रूप का अनुभव होता है, जिसको प्रणव नाम दिया गया है। यही वह स्थल है जहातक सम्प्रज्ञात समाधि की 'अस्मिता'—भूमिका रहती है। अस्मिता के होने से ही योगी ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इसके ऊपर उठने से अर्थात अस्मिता का भी लय होने पर और असम्प्रज्ञात समाधि के उदय होने पर जीव और ईश्वर का झीना भेद भी दूर हो जाता है। जिस भूमिका मे ईश्वर का साक्षात्कार होता है, उससे सम्वन्ध होने के कारण प्रणव 'ईश्वर का वाचक' माना जाता है। इसी बात को पतजलि ने कहा है—"तस्य वाचक प्रणव।" तब फिर यह कहना चाहिये कि प्रणव ही सच्चे अर्थों मे भगवन्नाम है।

वेदो के बाद क्रमश उपनिषद् और पुराणो मे जाकर भक्ति-मार्ग वहुत प्रशस्त हुआ। वैसे इस मार्ग का जन्म भक्ति-सम्प्रदाय के रूप मे दक्षिण मे आलवार सन्तो ने किया।

: ३

वेदो में धर्म का स्वरूप

नागपुर (महाराष्ट्र) के विद्वान श्री पेंडसे लिखते है—

"ऋग्वेद मे कोई ५० जगह धर्म शब्द आता है। धृ धातु के अनुसार उसका अर्थ धारण करनेवाला माना गया है। सविता, सूर्य और विष्णु, भगवान के ये

ऋग्वेद मे धर्म शब्द

तीनो रूप धर्म-धारक माने गये हैं।—विष्णुर्गोपा अदाभ्य.। अतो धर्माणि धारयन्। (ऋ० १, २२, १८) जीवन के धारण, पोषण और रक्षण करनेवाले सव कर्म धर्म शब्द के अन्तर्गत थे। हम जो कुछ खाते हैं, उसका कुछ अश अग्नि मे

डालना, भगवान के अर्पण करना, धर्म का आदि स्वरूप पाया जाता है। यहां से धर्म यज्ञरूपी होने लगा। फिर धर्म और यज्ञ एक रूप हो गये। पुरुष सूक्त का 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इसका प्रमाण है। धर्म का यह प्रमुख स्वरूप था। प्राचीन समय मे होनेवाले विराट् पुरुष के हवन का यह भव्य रूपक है। सम्पूर्ण पृथिवी और नगर को व्यापनेवाला चातुर्वण्य-युक्त मानव-समाज और प्राणिमात्र यही विराट् पुरुष है। परमेश्वर की वास्तविक पूजा चारो वर्ण-युक्त विराट् पुरुष, अर्थात मानव-समाज और सृष्टि का सर्वस्व अर्थात बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति सबका सामुदायिक कल्याण के लिए हवन करने से ही होती है। समुदाय का अविनाशी स्वरूप ही प्रजापति, परमात्मा, परमेश्वर है और उसके लिए अपनी वुद्धि, शक्ति, सर्व-साधन-सम्पत्ति और सेवा अर्पण करना ही यज्ञ है और वही श्रेष्ठ धर्म है—यह इस ऋचा मे रूपकात्मक भाषा मे कहा गया है।

धर्म और यज्ञ की एकता के प्रतिपादक इस पुरुष सूक्त का द्रष्टा ऋषि नारायण है। नारायण ऋषि ने भूत-भौतिक समस्त विश्व से एकरूपता प्राप्त करने के उद्देश्य से पाच रात तक यह यज्ञ किया। इस यज्ञ के अन्त मे सर्वस्व दान किया जाता था। यह भागवत धर्म के, सर्वभूत-मात्र के हृदय मे स्थित भगवान के प्रति वुद्धि, शक्ति, सपत्ति, सेवा सव अर्पण करने की यज्ञ कल्पना से मेल खाती है। इस यज्ञ के वाद पुरुष चाहे तो गृहत्याग करके अरण्यवास करे, चाहे घर में रहे, यह उसकी मर्जी पर था।

वर्ण-विषयक कर्तव्यो को पूरा करने की तरह आश्रम-विषयक कर्तव्य पालन करना भी यज्ञ ही था। 'अय यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्'। (छादोग्य० ८, ५, १) 'स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्य वा एतस्य वागेव जुहु'—अध्ययन-अध्यापन करना ब्रह्म-यज्ञ है। जिस ऋषि ने ज्ञान की विविध शाखाओ को समृद्ध किया उन्हे रोज पानी देना ऋषि-तर्पण कहलाता है। इसका भी समावेश ब्रह्म यज्ञ में होता है। देव-यज्ञ पितृ-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, भूत-यज्ञ और ब्रह्म-यज्ञ इस प्रकार पंच महायज्ञ गृहस्थाश्रमी के लिए नित्य कर्तव्य थे। महानारायणीय उपनिषद् मे ऐसा रूपक वनाया गया है कि 'ज्ञानी पुरुष का जीवन यज्ञ ही है।' तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमान. श्रद्धा पत्नी शरीरसमिध्मम् उरोवेदि. लोमानिर्वर्हिः हृदय यूप., काम आज्यम् मन्युपशु, अग्निर्दमः। अर्थात् ज्ञानी पुरुष के यज्ञ मे उसकी आत्मा यजमान, निष्ठा पत्नी, शरीर समिधा, उरू वेदी, केश दर्भ, हृदय

यूपस्तम्भ, काम आज्य, क्रोध पशु और इन्द्रिय-दमन अग्नि है। कितना सुन्दर रूपक है यह !

ऋग्वेदातर्गत पुरुष सूक्त मे सहस्त्रशीर्ष, सहस्त्राक्ष व सहस्त्रपात् पुरुष का जो वर्णन किया गया है उसे देखकर यही कहना पडता है कि वह सूर्य के विष्णु रूप का वर्णन है। **'सभूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशागुलम्'** (ऋ० १०, ९०, १) शतपथ ब्राह्मण मे वर्णन आता है कि "स्वयभू ब्रह्मा ने सर्वमेध यज्ञ किया। प्रारम्भ मे उसने तप किया, किन्तु उसमे अनन्तता न मिली, तब उसने विचार किया— **'अह भूतेष्वात्मान जुह् वाणि भूतानि चात्मनि।'** इसके लिए सब भूतो मे अपना और अपने मे सर्व-भूतो का हवन किया। अर्था सब भूतो मे प्रविष्ट होकर, भूतो को अपने मे समष्टि कर लिया। इस कारण उसे सर्वभूतो मे श्रेष्ठत्व, स्वाराज तथा आधिपत्य प्राप्त हुआ। इसी तरह जो सब भूतो के लिए सर्वस्व अर्पण करेगा उसे भी वह मिल जायगा। (शतपथ ब्रा० १३, ७, १०१) इस सर्वमेध यज्ञ मे त्याग प्रतीकत्व अधिक ही स्पष्ट हुआ है। जो भूतमात्र मे अपने व्यक्तित्व को विलीन कर देगा, उसके साथ जो समरस होगा उसे भूतो का आधिपत्य स्वाराज्य और श्रेष्ठत्व मिलना स्वाभाविक ही है। सायणाचार्य ने 'ब्रह्म' सूर्यपरक ही किया है और यज्ञ को विष्णुपरक। यह जीवन-यज्ञ ही धर्म है। पूर्वोक्त महानारायणीय उपनिषद् मे ज्ञानी पुरुष के जीवन-यज्ञ रूपक मे **"जरामर्य वाएसाग्निहोत्रम्।** विद्वानो का यह अग्निहोत्र, बुढापे तक, अथवा मृत्यु तक चलता रहता है। बाकी ऐसा कहकर मृत्यु पर अवभृत स्नान की कल्पना की गई है और बताया गया है कि यावज्जीवन इस प्रकार यज्ञ करनेवला विद्वान यदि उत्तरायण मे मर गया तो 'देवानामेक महिमान गत्वा आदित्यस्य सायुज्य गच्छति।'

मानव-जीवन एक यज्ञ ही है और यह आमरण चलता है। इस यज्ञ की दीक्षा लेकर मनुष्य को क्या करना चाहिए देव लोक जाकर सायुज्य को प्राप्त होता है।

यज्ञ-रूप धर्म

इसका विवेचन पूर्वोक्त मत्रो मे किया गया है। शकराचार्य ने इसका नाम रक्खा है 'यज्ञ-दर्शन'। षड्दर्शन के अनुसार मानव-जीवन का सिद्धान्त इस 'यज्ञ-दर्शन' मे बताया गया है और खास बात यह है कि यह यज्ञ-दर्शन आगिरस गोत्रीय घोर नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बताया है।

जीवन यज्ञ का दर्शन जानने के बाद कृष्ण को फिर और जानने की आव-

श्यकता नही रही। उसे यह वहुत महत्वपूर्ण एव मूल्यवान मालूम हुई। इस जीवन यज्ञ को भली प्रकार करने के कारण मनुष्य को कौन-कौन-सी गतिया प्राप्त होती है, यह छादोग्य उपनिषद् (३, १७, ७) मे, इस प्रकार बताया गया है—

'आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यन्त, उत्तर देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् इति ज्योतिरुत्तममिति।'

आगरिस घोर ऋषि ने कहा है कि जो इस यज्ञ-दर्शन को जानते हैं उन्हे इन तीन मत्रो का जप करना चाहिए (१) तू अक्षित अर्थात् अक्षीण या अक्षत है (२) तू अच्युत अर्थात 'स्वरूप से च्युत न हुआ हुआ' है (३) तू प्राण सशित अर्थात सूक्ष्म तत्व है—यह जीव को अथवा प्राण को उद्‌बोधन करे। अब जीवन-यज्ञ को भले प्रकार चलाने के फलस्वरूप कौन-सी गति मिलती है, इसका वर्णन ऊपर की ऋचा मे आ गया है। वे जग के प्राचीन, चिरतन बीजभूत कारण—ज्योति अर्थात तेज का प्रकाश देखते है, सर्वव्यापक परब्रह्म का तेज ब्रह्मचर्यादि व्रतो का पालन करने-वाले, शुद्धान्त करण ब्रह्मवेत्ता ही देख पाते है। अज्ञान-रूपी अन्धकार के उस पार जो चले गये है, अज्ञान का अन्धकार जो नष्ट कर देते है, जो आदित्य मे निवास करते है, उस तेज को जो अपने हृदय मे देखते रहते है, जीवन-ज्योति और परमात्म ज्योति एक रूप है—इस चेतना से सब देवो मे और सब ज्योतियो मे जिसका तेज उत्कृष्ट है, ऐसा सूर्यदेव हमे प्राप्त हुआ है—हम तद्रूप हो गये है, ऐसा साक्षात्कार इन यज्ञकर्ताओ को होता है जीवन-यज्ञ को उत्तम रीति से सफल बनानेवाले ज्ञानी पुरुष अन्त मे सूर्यलोक को जाते है। 'ज्योति सत्तमम्-ज्योति सत्तमम्' यह पुनरावृत्ति यज्ञ कल्पना की परिसमाप्ति सूचक है—ऐसा मत्र का भाष्य करते हुए शकराचार्य ने कहा है। यह यज्ञ-दर्शन भी कृष्ण को सिखानेवाले घोर ऋषि आगिरस कुल के सूर्योपासक थे। यही श्रीकृष्ण भगवद्गीतान्तर्गत भागवत-धर्म के उपदेशक है। इन सव वातो पर विचार करने से भागवत-धर्म के वैदिक सौर स्वरूप पर अच्छा व स्पष्ट प्रकाश पड सकता है। इस दृष्टि से छादोग्य के तीसरे अध्याय के १२ से १७ तक छ. खण्डो का अध्ययन महत्वपूर्ण है। उसमे कहा गया है कि सर्वभूतजात सविता ही है। छादोग्य के ३-१४ खण्ड का प्रारभ "सर्वं खल्विद ब्रह्म' से होता है। यह सारा जगत ब्रह्म ही है। ब्रह्म से इसका जन्म हुआ है, उसीसे यह स्थिर रहता है या चलता है, उसीमे लीन होता है, इसलिए "तज्ज, तलल, तदन्‌नज्जलान्"—इस

प्रकार शान्त मन से स्वस्थ होकर उपासना करनी चाहिए। इस उपासना का वडा महत्व है। सर्व जगद्व्यापी परमेश्वर मेरे हृदय मे है, मेरा आत्मा है। हृदयस्थ आत्मा ही विश्वव्यापक परब्रह्म है—ऐसा नि सदेह निश्चय जिसका हो जाता है उस ज्ञानी पुरुष को ही मरणोत्तर परब्रह्म की प्राप्ति होती है, शाडिल्य ऋषि का ऐसा मन्तव्य है। (छा० ३-१४-६)।

देवकी-पुत्र कृष्ण को यह जो 'यज्ञ-दर्शन' सिखाया गया, उसकी पार्श्व-भूमि का विचार करने से अनेक महत्वपूर्ण वातें स्पष्ट होती हैं। सवके उपसहार रूप

यज्ञ-दर्शन

मे इतना ही कहना काफी होगा कि पुरुष अर्थात मनुष्य ही यज्ञ है और तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन ये इस यज्ञ की दक्षिणा है। 'मृत्यु ही अवभृत स्नान है' यह कहकर जीवन-यज्ञ का उपासक सूर्य-ज्योति को प्राप्त होता है।

आरम्भ, मध्य और अन्त मे सूर्य-ज्योति का उल्लेख होने के कारण, भगवान सविता, सूर्य और त्रिविक्रम विष्णु—यही भागवत धर्म के प्रमुख देव का विकसित

यज्ञ-स्वरूप विष्णु

सौर स्वरूप है, ऐसा स्पष्ट होता है। भगवान विष्णु यज्ञ रूप हैं। उससे उत्पन्न चातुर्वर्ण्यात्मक विराट समाज भी यज्ञ ही है। पुरुष-व्यक्ति भी यज्ञ ही है। व्यक्ति और समाज दोनो अपने जीवन के सूर्यरूपी सर्वव्यापक विष्णु के लिए यज्ञ करें, अर्थात अपनी बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति और सेवा का उपयोग या विनियोग ईश्वरार्पण भाव से करें, यही प्रमुख धर्म है और इस रीति से भजन करना ही भगवान का पूजन है। वैदिक साहित्य मे क्रमश विकसित भागवत धर्म का यही मूल स्वरूप है। पुरुष सूक्त के ऋषि नारायण और देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण ने इसी धर्म का उपदेश किया है और इस कारण वे स्वत ही भगवान के अवतार माने गये।

विष्णु को तदर्थक वासुदेव नाम देने से अथवा भगवान सविता-सूर्य को विष्णु नाम देने से मूल भागवत-धर्म का स्वरूप वदल नही सकता। वेदकाल मे ही भागवत धर्म को वैष्णव धर्म का रूप प्राप्त हो गया था—यह ऊपर वताया ही गया है। किन्तु डा० राय चौधरी का मत है कि वैदिक विष्णु पूजा और वैष्णव सम्प्रदाय मे वहुत ही थोडा सबध है, क्योकि वैदिक विष्णु का सबध यज्ञ से है, भक्ति से नही। और ईश्वरी 'कृपा-प्रसाद' भक्ति का सिद्धान्त भी वैदिक विष्णु-भक्ति से नही मिलता, परन्तु यदि हम इस वात को ध्यान मे लायें

कि स्वय विष्णु यज्ञ है और इसी उद्देश्य से यज्ञ-स्वरूप का विकास हुआ तो स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के द्वारा किये जानेवाले भजन-पूजन-रूप कर्म को भक्ति का रूप वैदिक काल मे ही प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार नवविधा भक्ति के कुछ प्रकारो का उल्लेख अमृत-पद-प्राप्ति के द्वारा होनेवाले कृपा-प्रसाद के बीज भी विष्णु सूक्त मे पाये जाते है। ईश्वरार्पण-बुद्धि से किये निष्काम कर्तव्य कर्म का समावेश भक्ति मे हो जाता है। इसलिए कर्म-विहीन केवल भक्ति का समर्थन भागवत अथवा वैष्णव धर्म मे बहुत कम मिलता है।

अन्त मे सक्षेप मे इतना ही कहना है कि वैदिक साहित्य मे भगवान के सगुण स्वरूप का भगवान, सविता, सूर्य, विष्णु और यज्ञपुरुष इस प्रकार विकास हुआ।

भागवत धर्म

भागवत धर्म के सिद्धान्त के बीज एक सत् अथवा 'सर्व खल्विद ब्रह्म' इस सिद्धान्त मे है। जीवन यज्ञ का अर्थ ही है कि व्यक्ति और समाज के द्वारा ईश्वरार्पण भावना से किया कर्तव्याचरण ही भगवान का भजन-पूजन है और वैदिक भागवतधर्म कर्तव्य-प्रधान भक्ति धर्म है। शकराचार्य के अनुसार भगवान 'ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति-बल-वीर्य तेजोभि' सपन्न है। बल्कि वह अनत गुणो और शक्तियो से पूर्ण है, इसलिए भागवत-धर्म मूलत सगुणोपासक है और भागवत धर्मीय उपासक को किस गुण की प्राप्ति के लिए कौन-सी उपासना करनी चाहिए, इसका भी सकेत वैदिक वाङमय मे मिलता है। भागवत धर्म मे स्थूल यज्ञ की अपेक्षा यज्ञ के सूक्ष्म तत्व को प्रधानता दी गई है और बताया गया है कि सपूर्ण मानव-जीवन ही यज्ञमय है। इस तरह भागवत धर्म वैदिक धर्म का ही तेजस्वी, उन्नत, उदार परिणत और भव्य रूप है। '**निगम कल्पतरोर्गलित फलम्**' यह उक्ति बिल्कुल सत्य और अर्थपूर्ण है—इसमे कोई सन्देह नही।

एक मत के अनुसार भागवत धर्म ऋग्वेद काल से भी प्राचीन ठहरता है। श्री गो० ना० चापेकर ने अपने 'द कन्सेप्ट ऑफ गॉड' नामक लेख मे बताया है कि देव तथा असुर शब्दो का जो अर्थ हम आज करते है वह वेद काल मे प्रचलित नही था। देव का अर्थ का द्युतिमान तेजस्वी, और असुर का अर्थ था शक्तिमान। यह विशेषणात्मक अर्थ आगे जाकर नामात्मक हो गया। आदित्य देव वाचक है। यह आदिति का पुत्र है। अर्थात् देव के पहले देवी का अस्तित्व था। अदिति ऋग्वेद मे पतिहीन स्वय शक्ति है। उससे उत्पन्न आदित्य प्रथम सूर्य ही है।

उसीको विशिष्ट गुणो के कारण अनेक नाम दिये गए हैं, जो विशेषणात्मक थे। वे ही क्रमश बारह आदित्य कहलाये। विष्णु पहले सूर्य का विशेषण था। आगे चलकर वही उसका नाम हो गया। ऋग्वेद काल मे इन्द्र का उत्कर्ष होने पर भग, दक्ष, अश इत्यादि आदित्य कुछ समय तक पिछड गये। परन्तु आदित्य पूर्व देव रहे। इन्द्र से भी प्राचीन है। मनु प्राचीन काल मे अपने यज्ञो मे देवो को बुलाते थे। (ऋ० १, २६, ४) ऋग्वेद के समय मे मनु पिछड गया था। परन्तु वह वेद-पूर्वकालीन है। उसकी यज्ञ-पद्धति भिन्न थी और आदित्य उसके देव थे। ऐसा मानने से 'भग'-उत्पन्न भागवत धर्म ऋग्वेद काल से भी प्राचीन सिद्ध होता है। यह धर्म सूर्योपासक है। सूर्य ने मनु को इसका उपदेश दिया। यह परपरा इस उपपत्ति से मेल खाती है। कृष्ण इसी प्राचीन भागवत धर्म के पृष्ठ-पोषक थे।

'वि यो रत्नानि भजति मानवेभ्य' (ऋ० ४, ५४, १) सविता मनु के अपत्यो को—मानवो को रत्न देता है। यह ऋचा भी इस उपपत्ति की पोषक है। इन्द्र-प्रमुख यज्ञ-पद्धति से यह सौर-आदित्य-देवताओ की शक्ति-सबधी यज्ञ-पद्धति भिन्न थी और वैदिक समाज का एक वडा भाग इसके वेद-पूर्वकालीन प्राचीन धर्म का अनुयायी था। इस समाज का नाम कृष्ण था। यह प्राचीन भागवत धर्म को मानता था। इस कारण इन्द्र का और उसका विरोध भी हुआ करता था। आदित्यो मे सर्वश्रेष्ठ सूर्यरूपी विष्णु वहुत बडे भाग का प्राचीन देव था। इसलिए वह इन्द्र को, जो बीच मे महत्व पा गया था, पीछे धकेलकर भागवत धर्म का सर्वश्रेष्ठ देवता हो गया।

विष्णु और कृष्ण

वैदिक आर्यो मे जो सुसस्कृत होकर खेती करने लग गये थे, उन्हे आमतौर पर कृष्ण कहते थे। उनमे सूक्तकार भी थे, सूत्रकार भी थे। योद्धा और गोपालक भी थे। ऋग्वेद ८, ८५ सूक्त का ऋषि आगरिस कृष्ण है। आगिरस सूर्योपासक थे। और ऋषि इसी आगिरस कुल का था। ८, ८६ सूक्त आगिरस कृष्ण के पुत्र विश्वक द्वारा रचा गया था। सूर्योपासक आगिरस कृष्ण और उसका पुत्र विश्वक ये सूर्य-रूपी विष्णु के उपासक मालूम होते हैं। आगिरस कृष्ण ब्राह्मण है। सूत्रकार द्वैपायन कृष्ण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की है। वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय योद्धा था और गोपाल कृष्ण गोपालक था। इस विषय मे

मत-भेद है कि ये दोनो कृष्ण एक ही थे या अलग-अलग। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे कृष्ण एक गोत्र नाम था, अथवा एक गण-समाज का नाम था। क्षत्रिय लोग उपाध्यायो के गोत्र को स्वीकारते थे। डा० भाण्डारकर का मत है कि—कार्ष्णायन और एकायन ये वसिष्ठ-गोत्रान्तर्गत ब्राह्मण-गोत्र है। वसिष्ठ ने भग और विष्णु-देवताओ पर सूक्त लिखे है और वे सूर्यवश के उपाध्याय ही थे।

इन्द्र के अनुयायी आर्य पशु-यज्ञ से देवताओ की पूजा करते थे। कि तु विष्णु के उपासक कृष्ण लोगो को यह पूजा-पद्धति मान्य नही थी। अपने कर्तव्य-कर्मों को ईश्वरार्पण-रूपी सूक्ष्म यज्ञ को वे मानते थे। कृष्ण लोगो का कृषि-गौ-रक्षण का व्यवसाय और भगवान सूर्य-रूपी विष्णु गोप था और "सृजनशील सफलत्व और प्रभूत प्रसूतत्व" इन कल्पनाओ से उसके सबध पर ध्यान दे तो प्रधानतः कृषीबल किन्तु सुसस्कृत कृष्ण लोगो का वह देव था और गो-माता को अघ्नी और भगवती मानकर गोधन के कारण स्वत को भगवन्त समझना स्वाभाविक था। (१, १६४, ४०) देवकी-पुत्र कृष्ण इन कृष्णजातियो का प्रतिनिधि था। घोर आगिरस द्वारा प्रवर्तित कर्तव्य-पालनरूपी सूक्ष्म यज्ञ द्वारा की जानेवाली सूर्यरूपी भगवान विष्णु की भक्ति करनेवाला भागवत धर्म है और विष्णु ने उसका प्रतिपादन किया, इसलिए विष्णु ही आगे चलकर अवतार हो गया। शकराचार्य ने अपने गीता भाष्य के आरम्भ मे यही बात इन शब्दो मे कही है—'**स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्या वसुदेवांशेव कृष्णः किल संबभूव।**' नारायण और विष्णु एक ही है और देवकी-पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण भी एक ही हैं। नारायण नाम-रूपी विष्णु ने वासुदेव के अश से देवकी के पेट से जन्म लिया, यह कहकर शकराचार्य ने इस बात को माना है कि कृष्ण विष्णु का अवतार था। वैदिक साहित्य मे जो विशेषण-गोपा शिविदिष्ट, गोविंद , दामोदर-विष्णु के लगाये गए थे वही पौराणिक साहित्य मे कृष्ण को. लगाये गए है। इस प्रकार विष्णु परमपद के साथ '**गावो भूरिश्रृगा अयासः**' (ऋ० १, १५४, ६) है और '**यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यम्।**' (ऋ० ५,५२, १७) यमुना तीरस्थ प्रसिद्ध गोधन का उल्लेख ऋग्वेद मे है। इसलिए यमुना तीरस्थ गोपाल कृष्ण को विष्णु का अवतार समझकर उसे ये विष्णु के विशेषण लगाये गये। इन सब बातो से यह साबित होता है कि कृष्ण और कृष्ण-भक्ति का

सबध विष्णु तथा विष्णु-भक्ति से है। डा० राय चौधरी ने इस मत का समर्थन किया है।

डा० दाडेकर का भी यही मत है कि भारतीय सस्कृति के विकास-क्रम मे किसी वेदोत्तर कालखण्ड मे गोपाल कृषीवलो को धार्मिक विचार-क्षेत्र मे बडी मान्यता मिली थी और उस समय मूल विष्णु का गोपाल कृष्ण के रूप मे फिर से अवतार हुआ।

भागवत धर्म के इस वैदिक स्वरूप का विस्तार घोर अगिरस के शिष्य देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण ने भगवद्गीता मे तथा नारायण ने नारायणीय धर्म मे किया है—

भगवत् सवितृ सूर्याय तथो सक्रम विष्णवे।
सहस्रशीर्ष पुरुषाय यज्ञाय च नमोनम॰॥
नारायण च कृष्ण च षड्गुणैश्वर्य शालिनम्।
अनेक शक्ति-सपन्न भगवन नमाम्यहम्॥

: ४ :

पुराणों की महत्ता

श्रीमद्भागवत की गणना पुराणो मे की गई है। अठारह पुराणो मे महत्ता की दृष्टि से वह श्रेष्ठ माना जाता है। वेद और उपनिषदो के बाद पुराण और सूत्र-ग्रथ ही हिन्दू-धर्म मे मान्य हैं। तो हम यह भी देख लें कि पुराण इतने मान्य क्यो हैं ?

पुराणो का मुख्य विषय

वैसे तो पुराणो मे भारतीय धर्म, भारतीय सस्कृति, भारतीय दर्शन सदाचार, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन से सबधित अनेक विषयो का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु पुराणो का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या या सृष्टि-विद्या का ज्ञान रहा है। वैदिक ज्ञान को लोक-सुलभ सुबोध शैली मे प्रस्तुत करने के उद्देश्य से पुराणो की रचना की गई है। 'इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्' यह सूत्र पुराणो की रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप से वेद-विद्या को सुबोध शैली मे जन-सामान्य के लिए प्रस्तुत करना सिद्ध करता

है। पुराण-विद्या को वेद-विद्या का ही सामान्य जन-सुबोध अवान्तर-रूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वेदो मे प्रदर्शित अध्यात्म विद्या या ब्रह्म-विद्या को पुराणकारो ने सवादात्मक शैली द्वारा सुबोध रीति से समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

पुराणो का निर्माण वेद-विद्या के उपबृहण के उद्देश्य से हुआ है। 'नारद पुराण' मे तो सब वेदो के अर्थो का सार पुराण को कहा गया है—

"सर्वं वेदार्थ साराणि पुराणानीति भूयते।"

(नारदीयपुराण १।९।१००)

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड मे तो पुराण-शास्त्र को वेदो की आत्मा होने का गौरव प्रदान किया गया है—

आत्मा पुराण वेदानाम्
वेदवन्निश्चल मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमाः।
वेदाः प्रतिष्ठिता. सर्वे पुराणे नाऽत्र संशयः॥

(स्कन्द पु० प्रभास खण्ड २।९०)

इसी प्रभास खण्ड मे पुराणो को सर्वशास्त्रमय वताया गया है

आलोचको की दृष्टि मे ये वाक्य अर्थवाद से पूर्ण या श्लाघा के लिए कहे गए माने जा सकते है, किन्तु फिर भी यह तो तथ्य रूप मे स्वीकार करना पडता है कि पुराणो का मूल बीज वेदार्थ परम्परा ही रहा है। वैदिक ज्ञान को ही पुराणो मे सुबोध शैली द्वारा देने का प्रयत्न किया गया है। वेद की सृष्टिविद्या को समझाने के लिए पुराणो मे अनेक आख्यानो की रचना की गई है।

पुराण के सौवर्ण उपाख्यान के मूल वेद की छद-विद्या है। वैदिक दध्यङ् अथर्वा विद्या का पौराणिक रूप हयग्रीव विद्या है। वेद मे प्रदर्शित अग्निसोम हेतु पुराण मे हरिहर मूर्ति की कल्पना की गई। वेदो को समझाने मे हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे—आदि शब्दो द्वारा जिस सृष्टि-क्रम को वताया गया है उसीको पुराण ने अण्ड-सृष्टि के रूप मे वताया है। वेद की भाषा मे जिसे पचचितिक यज्ञ कहते है वह पुराणो का पचब्रह्म सिद्धान्त है। पुराण-वर्णित सूर्योपासना मे वेद की त्रयी विद्या के तत्वत दर्शन होते है। वेदो की त्रिविद्या को पुराणो ने भी त्रिक्विद्या के नाम से ही ग्रहण किया है। वेद मे जिन्हे अव्यय, अक्षर तथा क्षर

पुरुष बताया है। वे ही पौराणिक भाषा मे ब्रह्मा, विष्णु एव शिव नामधारी तीन देवता हैं। इन्हीको दर्शन मे सत्व, रज, तम नामक तीन गुण कहा जाता है।

वेद की अक्षर-क्षर विद्या, परात्पर विद्या, मूर्तामूर्त विद्या, सदसद् विद्या आदि का पुराणो मे विशद विवेचन किया गया है। पुराण का महत्व एव वैशिष्ट्य देखकर पुराण को पचमवेद कहा गया एव वैदिक ज्ञान से परिचित होने के लिए इनका ज्ञान अनिवार्य बताया है—

पुराण पचमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्।
यो न वेद पुराण हि न स वेदाऽत्र किचन॥

ईश्वर द्वारा प्रदत्त वेद या श्रुति, शौनकादि महर्षियो द्वारा निर्मित पुराण शास्त्र तथा मनु, याज्ञवल्क्यादि द्वारा रचित धर्मशास्त्र या स्मृतिशास्त्र प्राय· एक ही धर्म के प्रतिपादक विभिन्न रूप हैं।

पुराणो की रचना का श्रेय गीता एव महाभारत के रचयिता भगवान कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को दिया जाता है। वेदव्यास से पूर्व भी पुराणो के आख्यान प्रसिद्धि पा चुके थे। पुराणो मे जिस प्रतीक-बहुला शैली का आश्रय लिया गया है उन प्रतीको की रचना वैदिक युग मे ही प्रारभ हो गई थी। छान्दोग्योपनिषद में विद्याओ की गणना करते हुए इतिहास पुराण विद्या का उल्लेख किया गया है तथा उसे पचम वेद के रूप मे माना है। अथर्ववेद मे उल्लेख मिलता है—

पुराण–रचना काल

येत आसीद् भूमि· पूर्वा यामद्धातस्य इद्विदु·।
यो वै ता विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ (११।८।७)

ऋक्, यजु, साम, छन्द तथा पुराण उच्छिष्ट ब्रह्म से उत्पन्न हैं। शतपथ ब्राह्मण के अश्वमेध के पारिप्लव आख्यान मे अन्य विद्याओ के साथ पुराणो के आख्यान का भी उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वेद तथा उपनिषद्-काल मे ही पुराणविद्या का आविष्कार हो गया था।

पुराण एव सृष्टि प्रक्रिया

पुराणो का मुख्य विषय सृष्टि–प्रक्रिया एव प्रलय है। पुराण के लक्षणकारो ने इन पाच लक्षणो का समावेश किया है—सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वश एव वशानुचरित। इन पाच लक्षणो मे सर्ग तथा प्रतिसर्ग प्रमुख हैं। जगत के सर्जन को सर्ग तथा विसर्जन या प्रलय को प्रतिसर्ग कहते हैं। पौराणिक

भाषा मे इन्हे सचर तथा प्रतिसचर कहा गया है। ये दोनो सृष्टि-विद्या के ही रूप है। अत सिद्ध है कि पुराण-विद्या मुख्य-रूप से सृष्टि-विद्या ही थी। जब पुराणो का अति विस्तार हुआ तब अन्य अनेक विषयो का भी समावेश पुराणो मे किया गया। श्रीमद्भागवत मे सृष्टि-विद्या के अतिरिक्त अन्य बहुत-से विषयो की चर्चा की गई है। सृष्टि-विज्ञान की चर्चा प्राय सभी पुराणो मे आई है। श्रीमद्भागवत मे भी इसका विशद विवेचन किया गया है—वहा साख्य-शास्त्र के अनुसार सृष्टि एव प्रलय का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

पुराण-दर्शन की सृष्टि-विज्ञान प्रक्रिया की मूल भित्ति त्रिदेवो के स्वरूप की कल्पना है। इसका मूल वेद मे त्रिगुणमयी प्रणवात्मिका सृष्टि मे मिलता है। वहा अव्यय अक्षर-क्षर सज्ञा से बोध कराया गया है। तीन देवो के तीन कार्य सृष्टि, स्थिति, प्रलय नाम से बताये गए हैं। यही विश्व की अभिव्यक्ति है। गुणातीत अव्यय तत्व का सगुण भाव भी यही है। ये तीनो देव अपने-अपने केन्द्र मे स्वायत्त एव सर्वशक्तिमान हैं। इनमे कोई छोटा-बडा नही है। पुराणो के सृष्टि-विज्ञान के अनुसार यह सृष्टि-विद्या अण्ड-विद्या है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड-विद्या कहा गया है। निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप को ब्रह्माण्ड कहा गया है। शास्त्र के अनुसार भी तीन केन्द्रो के द्वारा अण्ड का आकार बनता है। केन्द्रात्मक जो तत्व है वह स्वय अपने तेज से परिपूर्ण होता है। अत. उसे स्वयम्भू कहते है। वह आत्म-केन्द्रीय तेज जब दाहिनी एव बाईं ओर फैलता है तब वह तीन केन्द्रो से युक्त होकर सृष्टि के लिए उपयोगी हो जाता है। मूल-भूत एक वृत्त जब तीन वृत्तो मे परिवर्तित होता है तो अण्ड-सृष्टि कहलाता है। एक गुण का त्रिगुण मे आविर्भाव भी यही है। पुराणो के त्रिक्वाद या त्रिदेववाद का मूल इसीमे है। पुराणो मे इन तीन देवो के चरित विभिन्न कथाओ के बहाने विस्तार से वर्णित है। किन्तु मूलभूत सत्य मे किसी प्रकार का अन्तर नही है।

इस तत्व को समझ लेने पर पुराणो के दार्शनिक विचार पर्याप्त रूप से स्पष्टतया अवगत हो जाते हैं। सूत्र-शैली-लेखन मे भी सस्कृत साहित्य अनुपम है तथा इसकी अनन्त वर्णन-शक्ति भी अद्वितीय है। अनन्त वर्णन-शक्ति का आदर्श पुराण-साहित्य है। पुराणो मे दार्शनिक तत्व को समझाने के हेतु भी बडे-बडे आख्यान-उपाख्यान रचे गए। सामान्य पाठक अन्तहीन वर्णनो की भूल-भुलैया मे विचरण करता है। यदि पाठक पुराणो के दार्शनिक तत्व के उस मूल

को ध्यान मे रखे तो उन भूल-भुलैयो मे घवराहट न होकर एक अनुपम रसास्वादन प्राप्त करता है। पुराण-साहित्य का विस्तार हिमालय की शत सहस्र शिखर श्रेणियो के समान है, जिनमे अनेक स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरोवर एव नदियो के प्रवाह हैं। अथवा इस विशाल पुराण-साहित्य मे एक ओर दर्शन, धर्म, तत्व-ज्ञान के नाना उदात्त वर्णनो की भरमार है तो दूसरी ओर बाल-सुलभ कथाओ के अक्षय भण्डार हैं, जिनमे सामाजिक जीवन की बहुमुखी सास्कृतिक सामग्री रचनात्मक शैली मे प्रस्तुत की गई है।

डॉ० आदित्यनाथ झा लिखते हैं—

"पुराण हमे बताते हैं कि विश्व का हित धर्म और दर्शन, विज्ञान और अध्यात्म गृह-जीवन और तपोजीवन के समन्वय मे है। यह समन्वय ही हमारी सभ्यता और सस्कृति का आधारपीठ है।

"पुराणो मे भारत का समग्र स्वरूप बडी सुन्दरता मे चित्रित है। हमारे पूर्वपुरुषो का ज्ञान-विज्ञान-सबधी समस्त अर्जन उसमे सन्निविष्ट है। हमारे राष्ट्र की आत्मा उसमे निहित है। वेद न केवल हमारे देश का अपितु सारे ससार का प्राचीनतम साहित्य माना जाता है, यह हमारी सभ्यता, सस्कृति और जीवन-दृष्टि का आधार है।

"भारत के विद्वत्समाज की यह धारणा है कि पुराण वेद वाङ्मय के समान ही पुरातन और प्रामाणिक हैं। **'पुराणमात्मा वेदानाम्'** इस तथ्य पर भारतीय पण्डित वर्ग की बलवती आस्था है। मेरा विचार है कि यह धारणा सत्य और समुचित है, क्योकि इसके पोषक प्रमाण वेदो, उपनिषदो और पुराणो मे भरे पडे हैं।

पुराण वेद की आत्मा

"अथर्ववेद—(११।७।२४) मे बताया गया है कि वेदो और पुराणो की परमात्मा से एक साथ ही उत्पत्ति हुई।

ऋचः सामानि छन्दासि पुराण यजुषा सह।
उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

"छान्दोग्य उपनिषद्—(७।१।४) मे वेदो के साथ पुराणो का समान उल्लेख कर उन्हे पाचवा वेद कहा गया है और वह इस अर्थ मे कि पुराण वेदो का वेद है अर्थात् वेदो का वेदन—वेद के रहस्यभूत अर्थों का अवबोधन पुराणो मे ही होता है।

महाभारत का स्पष्ट कथन है—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास और पुराण से वेद का उपबृहण करना चाहिए। वेदार्थ का विस्तृत और वास्तविक परिशीलन करना चाहिए। जिसे इतिहास-पुराण का ज्ञान नही होता, ऐसे अल्पश्रुत से वेद डरता रहता है कि वह अर्थ का अनर्थ कर अधूरी और अप्रामाणिक व्याख्या कर उसे मार डालेगा।

इस प्रकार वेद और पुराण का सहज एव घनिष्ठ सबध है। पुराण वेद का पूरक है और पुराण अपने प्रतिपादनो के लिए वेद का ऋणी है, क्योकि वेद में सक्षिप्त एव अव्यक्त रूप मे अकित विषय ही मुख्य रूप से पुराणो के वर्ण्य विषय हैं।

पुराणो का साहित्य बडा विशाल है। उसका विषय-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नही है, जिसे पुराणो ने छोडा हो।

पुराण-साहित्य विशाल

जीवन का ऐसा कोई पक्ष नही है, जिसका विवेचन पुराणो मे न हो। समाज और राष्ट्र के सबध में ऐसी कोई परिकल्पना नही हो सकती जो पुराणो मे अकित न हो। सृष्टि का ऐसा कोई अश नही है, जिसपर पुराणो से प्रकाश न मिले। कथा-साहित्य, दार्शनिक साहित्य, धार्मिक साहित्य, राजनीति साहित्य वैज्ञानिक साहित्य, ललित कला साहित्य आज विश्व मे विकसित हैं, पुराणो मे उन सबका मजुल सन्निवेश है। विभिन्न पुराणो की बात छोडिये। अकेले अग्निपुराण को ही लीजिये और देखिये कौन-सा ऐसा ज्ञान है, कौन-सी ऐसी विद्या है, जिसका वर्णन उसमे नही है। अपने इस स्वरूप के कारण ही वह पुराण विश्वविद्यालयो का कोश कहा जाता है।

पुराणो से भारतीय जन-समाज के जीवन-क्रम का जो स्वरूप अवगत होता है, उसे कालिदास ने इन शब्दो में चित्रित किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुस्त्यजाम्॥

शैशव अवस्था मे—छात्र-जीवन मे विविध विद्याओ का अध्ययन करना, युवावस्था मे भौतिक सुख-समृद्धि का अर्जन करना, वृद्धावस्था मे आध्यात्मिक चिन्तन करना और अन्त मे योगी के समान चेतना एव आनन्द की मुद्रा मे मृत्यु का स्वागत करना, यही भारतीय जीवन का आदर्श है। यही आश्रम-धर्म है। इस प्रकार के पवित्र जीवन की शिक्षा हमे पुराणो के वशानुचरित का अध्ययन करने से प्राप्त होती है। पुराण हमे बताते हैं कि विश्व का हित धर्म और दर्शन, विज्ञान और अध्यात्म, गृह-जीवन और तपोजीवन के समन्वय मे है। यह समन्वय ही हमारी सभ्यता और सस्कृति का आधार पीठ है। इसके कारण ही हमारे देश को जगदगुरुत्व प्राप्त था और मनु के शब्दो मे हमारा यह उद्‌घोष था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा.॥

हमे नवभारत का निर्माण करते समय अपने इस पुराने गौरव को ध्यान मे रखना है और उसे पुन प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। इस प्रयत्न मे पुराणो से हमे बडी सहायता मिल सकती है।

: ५ :

पौराणिक सृष्टि-विज्ञान

पौराणिक सृष्टि-विज्ञान के अनुसार सकोच और विकास ही सृष्टि का मूल रूप है। प्राणतत्व या देवतत्व सकोच एव विकास रूप से साम्यगुणमयी प्रकृति मे प्रविष्ट होकर उसमे स्पन्दन पैदा करता है, इस स्पन्दन ही को विश्व का आविर्भाव कहा जा सकता है। पुराण मे बताया है कि '**स संकोचविकासाभ्या प्रधानत्वेऽपि च स्थित ।**' इन सकोच-विकास को नामान्तर से वैदिक भाषा मे

गति तत्व

समचन-प्रसारण बताया है। शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख है कि **'प्राणो वै समंचन प्रसारणम्'** (शतपथ ८।१।४।१०)। ऋग्वेद की भाषा मे इन्हे प्राणन एवं अपानन क्रिया की सज्ञा दी गई है। **'अंतश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती।'** (ऋग्वेद १०।१८९।२), फैलने एव सिकुडने को गतितत्व के दो रूप समझना चाहिए। यह गतितत्व या स्पन्दन ही सृष्टि का मूल कारण है। इस सकोच-विकास के आधार पर ही सृष्टि के लघुत्तम एव महत्तम कार्य होते हैं। जो छोटे-से-छोटा बीज अकुरित होता दिखाई देता है, उस बीज के केन्द्र मे भी सकोच-विकास-रूप स्पन्द का स्फुटन प्रारंभ मे ही हो जाता है। क्रियाशील वह देवतत्व अपनी प्राण-अपान शक्ति द्वारा भूतो को अपने भीतर खीचकर स्वरूप मे परिवर्तित करता है। इसी प्रक्रिया से वनस्पति, कीट, पतग, जलचर, थलचर एव नभचरो की यह भूत सृष्टि बढ रही है। सक्रियता को ही रजोगुण कहा गया है। यही रजोगुण क्षेम रूप है, जो साम्यावस्थायुक्त अव्यक्त प्रकृति का स्पर्श कर उसमे प्रजनन योग्यता पैदा करता है। इस रजोगुण का ही नाम ब्रह्मा है तथा वैदिक भाषा मे अव्यक्त अक्षर-क्षर-विद्या-प्रसग मे अक्षरतत्व कहा गया है तथा उस अक्षरतत्व या रजोगुण का ही नाम प्राण है। क्षरतत्व को रजोगुण या भूत कहते हैं। इन दोनो से भिन्न तृतीयतत्व की, जिसे वैदिक भाषा मे अव्यक्त तत्व या अव्यय पुरुष कहा गया है, सज्ञा सत्वगुण है।

वैदिक सृष्टि-विज्ञान मे जिसे अव्यय-ब्रह्म, अक्षर-ब्रह्म तथा क्षर-ब्रह्म कहा गया है, पुराणो की भाषा मे उसे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र कहा जाता है तथा साख्य दर्शन के अनुसार उसका नाम सत्व, रज और तम है। उसीको भूत-सर्ग की दृष्टि से मन, प्राण एव वाक् कहते है। इन तीनो मे न कोई बडा है, न छोटा। रजोगुण की प्रधानता मे सत्व एव तम सहयोगी, सत्व की प्रधानावस्था मे रज एव तम सहकारी एव तम की प्रधानावस्था मे सत्व तथा रज सहयोगी रूप से सदा ओतप्रोत रहते हैं। इसी बात को पुराणकारो ने इतनी स्पष्टता से कहा है कि जिनको देखकर सिद्ध होता है कि श्रुतियो के प्राचीन अर्थ को व दर्शनो के गूढ तत्व को पुराणो ने सुन्दर, सरल, सुबोध भाषा मे यो प्रकट किया है कि ब्रह्मा लोको का

अव्यय ब्रह्म

सर्जन, विष्णु भरण-पोषण एव रुद्र सहार (प्रलय) करते हैं। मत्स्य पुराण मे कहा है—

अह नारायणो ब्रह्मन् सर्वभू: सर्वनाशन:।
अहमिन्द्रपदे शक्रो वर्षाणा परिवत्सर.॥
अह योगी युगाख्यश्च युगान्तावर्त एव च।
कृतान्त. सर्वभूताना विश्वेषा कालसन्त्रित:॥

—मैं ब्रह्म हू, नारायण हू। मैं सबका जनक और सहारकर्ता हू। इन्द्र के रूप मे मैं देवराज शक्र हू। मैं कालचक्र हू। मैं वह योगी हू, जो युगो को चलाता है और फिर उनका अन्त कर देता है। मैं विश्व के सभी पदार्थों को समाप्त कर देता हू। मेरा नाम काल है।

इस नारायण शब्द की जो व्याख्या भागवतो ने की उसका मूल तन्तु उन्हे वैदिक साहित्य से प्राप्त हुआ था। उसके अनुसार सृष्टि की प्राक्कालीन अवस्था मे सबकुछ 'आप' तत्व या सलिल ही था। वही से प्रजोत्पत्ति हुई है।[1] वेद मे ही प्रश्न किया गया है कि उस तत्व को 'आप' क्यो कहा गया है। वस्तुत 'आप' का अर्थ जल नही है। भौतिक जलो की सृष्टि तो स्थूल प्रक्रिया मे आगे चलकर होती है। जो मूल व्यापक शक्ति तत्व था, उसे ही 'आप' कहा गया, जैसा शतपथ मे कहा है—

'क्योकि उसने सबको व्याप्त कर रक्खा था, इसलिए उसे आप कहा गया है।'[2]

स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सृष्टि की चार कोटियों को विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणो से अपनी-अपनी शब्दावली मे इस प्रकार वताया है —

---

१ आपो हवा इदमग्रे सलिलमेवास।
ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहीति॥
(शतपथ ब्रा० १।११।१।६।१)

२. सा इदं सर्वं आप्नोद् यदिदं किच।
यदाप्नोत् तस्मादाप.। (शतपथ, ६।१।१।९ और गोपथ पूर्व भाग १२)।

ऋग्वेद	पर-अपर ब्रह्म	मनु	साख्य	वेदान्त	पाचरात्र
गुणातीत	परात्पर	तमोभूत	निर्गुण		वासुदेव=
सहस्रशीर्षा		अप्रतर्क्य	पुरुष	ब्रह्म	शुक्ला मूर्ति
पुरुष		अविज्ञात			अनिर्देश्या)
सगुण	पर	स्वयभू			
पुरुप	(=अव्यय)	(=नर)	पुरुष	ईश्वर	बलराम =
(भूतभव्य)		नरसूनव			शेष
		आप			(तामसीमूर्ति)
		नारा:	प्रकृति		प्रद्युम्न
विराज्	परावर	उसीका	(गुणो की	माया	(सत्वमूर्ति प्रजा
	(=अक्षर)	गर्भित रूप	साम्यावस्था)		पालनतत्परा)
पुरुष	अवर	हिरण्या उससे	विकृति	विश्व	अनिरुद्ध
(=प्रजापति	(=क्षर, क्षर	ब्रह्मा, सर्वलोक	त्रैगुण्य	ससार	(राजसीमूर्ति)
ब्रह्मा)	सर्वाणि-	की सृष्टि या	विषमा		'जल मध्ये शेते
	भूतानि	गोचर विश्व	सृष्टि		पन्नग तलपगा'
	गीता)		विशेष		

स्व० श्री वासुदेवशरणजी अपने 'मार्कण्डेय पुराण' मे इसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"सृष्टि-विज्ञान और भी अनेक पुराणो मे आता है। एक प्रकार से 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' की परिभाषा के अनुसार पचलक्षणात्मक पुराण का यह अनिवार्य अग था। सर्वप्रथम जगत के आदि कारण जगत के नाथ कमलयोनि ब्रह्मा का जन्म हुआ। वह ही सृष्टि के समय ब्रह्मा, स्थिति के समय विष्णु और प्रलय के समय रुद्र का रूप धारण करते हैं। त्रिदेवो के इस स्वरूप की कल्पना भारतीय सृष्टि-विज्ञान, विशेषत पुराण दर्शन की मूल भित्ति है। पुराण ही क्यो, वेदो की त्रिगुणमयी प्रणवात्मिका सृष्टि-विद्या की या अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक सृष्टि-

विज्ञान की मूल प्रतिष्ठा यही थी। कितने ही नाम और रूपो मे इसका उपबृहण पाया जाता है। वस्तुत पुराण-विद्या का श्वास-प्रश्वास त्रिदेवो की सुन्दर रहस्यमयी विद्या ही है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय का नाम ही विश्व की अभिव्यक्ति है। यही गुणातीत अव्यक्त तत्व का सगुण भाव है। इन तीन देवो मे कोई छोटा-बडा नही है। प्रत्येक अपने-अपने केन्द्र मे स्वायत्त और सर्वशक्ति-सम्पन्न है। गणित मे तीन केन्द्रो के बिना अण्ड की आकृति बनती ही नही। एक केन्द्रात्मक जो तत्व है वह स्वय अपने तेज से परिपूर्ण रहता है। उसे स्वयभू कहते हैं। उसे ही मनु ने वृत्तोजा कहा है, अर्थात उसका ओज या तेज वृत्त के रूप मे स्वय अपने ही केन्द्र मे विलीन रहता है। वही आत्म-केन्द्रीय तेज जब दाहिने-बायें फैलता है तब वह तीन केन्द्रो से युक्त होकर सृष्टि के लिए उपयोगी बन जाता है। यही अण्ड विद्या है। यह सृष्टि अण्ड है, ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण स्वभावत इसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप ब्रह्माण्ड है। मूलभूत एक वृत्त जब तीन वृत्तो मे परिवर्तित होता है वही अण्ड सृष्टि है। यही एक गुण का त्रिगुण रूप मे आविर्भाव है। एक एव त्रिक् इनकी बहुविध व्याख्या वैदिक साहित्य मे पाई जाती है।

इस मूलभूत सामग्री से पुराणो के त्रिक्वाद या त्रिदेववाद का जन्म हुआ। पुराणो मे कथाओ के व्याज से तीन देवो के चरित और लीलाओ का बहुत अधिक विस्तार विचारो को समझने की यह कुजी है।

पुरा नव भवति

यदि इस मूल सूत्र की स्पष्ट प्रतीति बनी रहे, तो पुराणो के अन्तहीन वर्णनो की भूलभुलैया मे विचरण करते हुए पाठक के मन मे कोई घबराहट न होगी। षट्ऋतुओ मे विस्तार पाने-वाली भारतवर्ष की अनन्त प्रकृति के समान ही सस्कृत भाषा की अनन्त वर्णन-शक्ति है। उस रचनात्मक शक्ति की निरन्तर हिलोरो से ही चतुर्लक्ष श्लोकात्मक पुराण साहित्य का जन्म हुआ। इस साहित्य का विस्तार हिमालय की शतसहस्र पर्वत द्रोणियो के समान है, जिनमे अनेक ऊची चोटिया, स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरोवर और नदियो के प्रवाह हैं, अथवा उसके अपरिमित विस्तार की उपमान महाकान्तार की अनेक बनखण्डियो से ही की जा सकती है, जिनमे वृक्ष-वनस्पति, औषधि और पुष्पो के उद्भव और विकास का कोई ओर छोर नही मिलता। ऐसा यह विशाल पुराण-साहित्य है, जिसके ओजायमान प्रवाह मे एक ओर दर्शन,

धर्म, तत्वज्ञान के अनेक उदात्त वर्णनो के उदाहरण भरे पडे है तथा दूसरी ओर बालसुलभ कथाओ के अक्षय भण्डार है, जो सामाजिक जीवन की बहुमुखी सास्कृतिक सामग्री को अपनी रोचनात्मक शैली मे प्रस्तुत करते है।

कहा गया है कि जैसे ही अव्यक्त से जन्म लेनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उनके मुखो से वेद और पुराण के वाङमयतत्वो का आविर्भाव हुआ। वेद निगम और पुराण आगम है। वेद विश्व का केन्द्राधिष्ठित तत्व है। वह अति गूढ विवेचन के रूप मे सगृहीत होता है। महर्षियो ने उसे ही वैदिक सहिताओ के रूप मे प्राप्त किया। दूसरा वह ज्ञान है जो लोकव्यापी जीवन से सबध रखता है, जिसका उद्भव लोक-जीवन की महती व्याख्या से होता है। वही पुराण या आगम है। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—'पुरा नव भवति'। अर्थात जो वाङमय एक ओर पुरा या पुरातनी सृष्टि-विद्या या वेद विद्या से अपना सबध बनाए रखता है, और दूसरी ओर नित्य नये-नये रूप मे जन्म लेनेवाले लोकजीवन से अपना सबध जोडे रखता है, वही पुराण या आगम शास्त्र है। भारतीय साहित्य मे पुराण वाङमय की विचित्र स्थिति है। लोकतत्व और लोकजीवन की जैसी सुरक्षा इसमे है वैसी अन्यत्र नही है।

सृष्टि के ये अचिन्त्य तत्व पुराणकारो की काव्यमयी भाषा मे जिस सरलता से उतर आते है, उसे देखकर किसी भी सहृदय साहित्यिक को वास्तविक आनन्द हुए बिना न रहेगा। सृष्टि को दिन और रात्रि को प्रलय की सज्ञा दी गई है। सृष्टि का आरभ दिन के आरभ मे पौ फटने के समान है। उस समय जगत का कोई आदि कारण जो स्वय अनादि है, जो सबका हेतु होने पर भी स्वय अचिन्त्य है, स्वय पर रहता हुआ सब अबर या बाद की क्रियाओ को जन्म देता है, वही जगत्पति परमेश्वर प्रकृति और पुरुष दोनो को अपनी योगशक्ति से क्षुभित करता है। जैसे नवयौवना स्त्री मे मद छा जाता है और वह प्रजनन के योग्य बन जाती है, जैसे वसन्त मे मलयानिल वायु आकर वृक्ष-वनस्पतियो के रस को गुदगुदा देती है एव कलिया और पुष्प फुटाव लेने लगते हैं, वैसे ही अपने योग से मूर्त भाव मे आने के लिए वह ब्रह्मसज्ञक देव-प्रधान या अव्यक्त प्रकृति को क्षुभित कर देता है और स्वय ब्रह्माण्ड कोश मे जन्म लेता है। वही क्षोभ करनेवाला है और वही क्षुभित होनेवाला है। सकोच और विकास इन दो धर्मो के रूप मे वही प्रधान या प्रकृति को स्पन्दित करता है और गुणरहित होकर भी रजोगुण को

जन्म देता है। उस रजोगुण या क्रियात्मक गतितत्व को ही ब्रह्मा कहते हैं, जिससे प्रजाओ की उन्नति होती है।[1]

पुराण साहित्य जहा वैदिक ज्ञान की स्पष्ट व्याख्या करते हैं वहा दूसरी ओर भारतीय सस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय आचार की विशद विवेचना प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानयोग के साधक को पुराण मार्ग निर्देश करते हैं, कर्मयोगी के दिशानिर्देशक हैं तो भक्त के लिए ईश्वर मिलन-हेतु सोपान बनाते है। पुराण केवल आस्तिक जगत के लिए ही नही, नास्तिक जगत को भी प्रकाश प्रदान करते हैं। समस्त पुराण साहित्य का सतुलित एव ऐतिहासिक अध्ययन अपेक्षित है। वैदिक तत्व-विद्या के ज्ञान हेतु पुराणो के अनुशीलन की आवश्यकता है, तो भारतीय इतिहास के विभिन्न युगो मे सास्कृतिक एव दार्शनिक दृष्टि से जो विकास हुआ है उसकी जानकारी के निमित्त भी पुराणो का अनुसधान उपयोगी है।

पुराण अनुसधान की आवश्यकता

---

१. अहर्मुखे प्रबुद्धेषु जगदादिरनादिमान्।
सर्वहेतुरचिन्त्यात्मा पर कोऽप्यपर क्रिय ।
प्रकृति पुरुष चैव प्रविश्याशु जगत्पति ।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वर॰॥
यथा मदो नवस्त्रीणा यथा वा मलयानिल ।
अनुप्रविष्ट क्षोभाय तथाऽसौ योगमूर्तिमान्॥
प्रधाने क्षोभ्यमाने तु स देवो ब्रह्मसज्ञित.।
समुत्पन्नोऽण्डकोशस्थो यथा ते कथित मया॥
स एव क्षोभक पूर्व स क्षोभः प्रकृते पति ।
स सकोचविकाशाभ्या प्रधानत्वेऽपि च स्थित.॥

मार्कण्डेय पुराण, ४६।८।१२

: ६ :

वेदों में भागवत-धर्म

भागवत धर्म का एक नाम वैष्णव धर्म भी है। तो इनमे से आदि-धर्म कौन-सा ? वेदो से प्राचीन कोई ग्रथ नही, उसमे भग (जिससे भगवान बना है, भगवान से ही भागवत कहलाया है) भी आता है और विष्णु शब्द भी आता है। भग और विष्णु वैसे दोनो सूर्य-वाची हैं। जो धर्म पहले भागवत कहलाता था वही बाद मे वैष्णव धर्म कहलाने लगा।

भागवत-धर्म और वैदिक धर्म

अब प्रश्न यह उठता है कि भागवत-धर्म क्या वैदिक धर्म से भी पुराना है ? और इन दोनो का परस्पर क्या सबध है ? एक मत यह है कि भागवत-धर्म का आधार श्रद्धा और भक्ति है। इसलिए वैदिक धर्म से उसका कोई सबध नही। वैदिक धर्म भौतिक है, जबकि भागवत-धर्म नैतिक है। भाग्य-प्रदाता भगवान और उसकी उपासना जिसमे है वह 'भागवत-धर्म'। भगवान का अर्थ यहा ईश्वर नही है—वह बाद मे आया है। नैतिक विभूति को ही भगवान कहा है। बौद्ध तथा जैन-सम्प्रदाय के अनुसार शिव-भागवत, देवी-भागवत, विष्णु-भागवत इत्यादि सम्प्रदाय थे। महाराष्ट्र के एक विद्वान् श्री शिंदे ने इस मत का प्रतिपादन किया है।

डा० राधाकृष्णन का कहना है कि भले ही वैदिक-धर्म और भागवत-धर्म के पारस्परिक सबध का प्रश्न विवाद-ग्रस्त समझा जाय, तो भी भागवत-धर्म का मूल वेद-उपनिषद् मे नही, यह कहना भी कठिन है। क्योकि आर्य और आर्येतर समाज के एक-दूसरे मे घुल-मिल जाने की प्रक्रिया इतने वेग से चल रही थी कि पाशुपत, भागवत और तात्रिक सम्प्रदाय का विकास होता जा रहा था और वे आर्यो के वैदिक धर्म मे मिल गये। पचरात्र, भागवत या सात्वत धर्म मूलत आर्यो का था या अनार्यो का इस विषय मे भले ही मतभेद हो, परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक साहित्य को एकेश्वरवाद अपरिचित नही था। क्योकि छादोग्य उपनिषद (७१-४) मे नारद के 'एकायन' धर्म के अध्ययन करने का उल्लेख है। फिर ऐसा भी कहा गया है कि भक्ति-प्रधान वैष्णव और भागवत-धर्मो का आस्तिकवाद वेदो की वरुण-पूजा मे लक्षित होता है, जिसमे उसे पतितपावन माना गया है।

यहा यह भी याद रखना चाहिए कि वेद का दूसरा नाम 'निगम' भी है। और अनेक शतको से भागवत पुराण के सबध मे 'निगम कल्पतरोर्विगलित फलम्' ऐसी मान्यता चली आ रही है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानदेव ने कहा है कि वेदो का अधिकार केवल द्विजो, त्रैवाणिको को ही है, स्त्री-शूद्र आदि का उसमे प्रवेश नही है। अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए वेद ने गीता का रूप धारण किया है। भागवत-धर्म का प्रधान ग्रथ भगवद्-गीता और वेद का इस प्रकार जन्य-जनक सबध महाराष्ट्र मे ठेठ ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम तक सभी भागवत-धर्मी सन्तो ने मान्य किया है।

वैदिक वाङ्मय मे भगवान के स्वरूप का सविता, सूर्य, विष्णु तथा यज्ञ-पुरुष का क्रम विकास और धर्म-कल्पना की जीवन-यज्ञ मे परिणति हुई है। इसको भी थोडा समझ ले।

वैदिक साहित्य मे भगवान

कालानुक्रम की दृष्टि से वैदिक वाङ्मय पहले और स्मृति तथा पुराण-साहित्य वाद मे वना है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उनमे वर्णित सारा घटनाक्रम भी उसी तरह पूर्वापर के अनुरूप हुआ है। हो सकता है कि पुराण-वर्णित कोई घटना वेदपूर्व की हो, वेदो मे उसका उल्लेख न हुआ हो। पुरुरवा-उर्वशी प्रकरण, जो पौराणिक साहित्य मे सविस्तर आया है, ऋग्वेद सहिता मे मौजूद है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुराण-वर्णित अनेक कथा और विषय ऋक्-मत्र-काल के पहले भी विद्यमान है। पुराण (पुराण) शब्द का 'पुरा' पद स्वय ही प्राचीनता का द्योतक है।

वरुण, मित्र और आदित्य इन देवताओ का उल्लेख वेद और जेंदावस्ता दोनो मे मिलता है। अत प्राचीन है। वाद मे वरुण देवता की जगह इन्द्र की प्रधानता हो गई। इन्द्र युद्ध-प्रिय था। इस कारण इन्द्र को अवैदिक नही कह सकते, जैसाकि कुछ विद्वानो ने तर्क किया है। इसी प्रकार इन्द्र के वाद विष्णु, जिसने वृत्र-वध मे इन्द्र की सहायता की थी, वैदिक वाङ्मय मे स्थान पाया और ब्राह्मण-ग्रथो मे उसने प्रधानता प्राप्त की तो इसीलिए भागवत-धर्म के देवता विष्णु को अवैदिक नही कहा जा सकता। कोई भी देवता मूलत कही से भी आया हो, जव एक वार उसे वेदो मे स्थान मिल गया तो फिर उसे अवैदिक नही कह सकते। इस दृष्टि से भागवत-धर्म वैदिक-धर्म मे ही विकसित धर्म है—ऐसा

मानना उचित होगा। वेद की पुरानी व्याख्या ही है—'मत्र ब्राह्मणात्मिको वेद ।'

भागवत-धर्म का अर्थ है भगवान-द्वारा प्रवर्तित और भगवद्भक्तो द्वारा आचारित धर्म। भगवान इस धर्म का अधिदात्री देवता है। फिर आगे भगवान की जगह विष्णु ने प्राप्त कर ली। तब उसे तथा इस धर्म के पुनरावृत्तिकर्ता नारायण-वासुदेव-कृष्ण को भी 'भगवान' कहने लगे। यह विशेषण जिन विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण को मिला उनमे जितने सशोधन हुए उतने उनके 'भगवान' विशेषण मे नही हुए। कृष्ण की गीता 'कृष्णगीता' नही, भगवद्गीता कहलाती है। कृष्ण-उवाच नही 'भगवान् उवाच' कहते है। क्योकि कृष्णलुप्त भागवत-धर्म का विवेचन भगवान की भूमिका से कर रहे थे। इसलिए भागवत-धर्म की प्राचीन अधिष्ठात्री देवता रूपी इस भगवान का ऋग्वेद सहिता-जैसे सर्व प्राचीन वैदिक-ग्रथ-वर्णित स्वरूप का विकास किस तरह हुआ यह देखिए। क्योकि इसी-से हम भागवत-धर्म के मूल स्वरूप को यथार्थ रूप से जान सकेंगे। 'भग'—नामक एक वैदिक आदित्य देवता का उल्लेख है। इसीका विकास आगे चलकर विष्णु नामक सर्वश्रेष्ठ आदित्य देवता मे हुआ है।

डॉ० ग्रियर्सन के मन मे यह कल्पना तो आई थी कि 'भागवत धर्म' कही सूर्योपासना का ही विकास तो नही है। उस समय वैदिक—देवता 'भग' तक उनकी निगाह नही पहुच पाई थी। अब यह निश्चित हो गया है कि 'भगवान' शब्द का 'भग' देव आदित्य देवताओ के सघ के अन्तर्गत है। प्राचेतस दक्ष प्रजापति की कन्या आदिति कश्यप प्रजापति की पत्नी थी। उसके आठ पुत्र हुए—

भागवत धर्म—सूर्योपासना का विकास

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व स्परि।
देवा उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत्॥ (ऋ० १०,७२,८)

इनमे सात पुत्रो को लेकर वह देवो के पास गई। आठवे 'मार्तण्ड' को उसने ऊपर फेंक दिया और फिर द्युलोक मे धारण किया। यही 'अरुण' अथवा सूर्य होना चाहिए। मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अश, भग, विवस्वान्, आदित्य और मार्तण्ड इन आठ पुत्रो का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक मे हुआ है। इनमे वृद्धि होते-होते आदित्य सघ की सख्या बारह हो गई। आदिति ने एक पाव पर खडी

रहकर कठोर तप किया, तब उसे वारहवा पुत्र विष्णु हुआ। महाभारत (१, ६५, १५, १६) मे उनके नाम गिनाये गये हैं। तैत्तिरीय आरण्यक के सायण-भाष्य मे मित्रश्च, वरुणश्च, धाता च, अर्यमा च, अशश्च, भगश्च विवस्वान दित्यश्च'— ये सात और आठवा मार्तण्ड इस प्रकार आठ पुत्र गिनाये गए हैं। और देवो के वारे मे चाहे मत-भेद हो, परन्तु यह निश्चित है कि 'भग'—देव का स्थान आदित्य-सघ मे प्रारम्भ से ही है। मित्रावरुण की तरह 'भग' देव भी प्राचीन है। जेंदाअवस्ता मे 'वघ' देव का उल्लेख है। ऋग्वेद मे प्रधान रूप से 'भग' की स्तुति या वर्णन का एक ही सूक्त है (७, ४१) और दूसरे प्रसगो पर कोई ६० जगह 'भग' शब्द का उल्लेख हुआ है। 'भग' शब्द पुल्लिगी है—नपुन 'भगम्' से इसका कोई सवध नही है। आदित्य मण्डलान्तर्गत यह भग ही आगे चलकर विष्णु-रूप को प्राप्त हो गया। विष्णु फिर अतिम और सर्वश्रेष्ठ देव माना गया।

पूर्वोक्त (७, ४१) सूक्त का दृष्टा ऋषि वसिष्ठ है। वसिष्ठ और वासिष्ठ (वसिष्ठ कुल के ऋषि) का स्थान वैदिक आर्यों की सस्कृति मे वहुत उच्च रहा है। विश्वव्यापी ऋत और सत्य के अधिष्ठाता वरुण और युद्ध के नेता इन्द्र इनमे जो नैसर्गिक विरोध उत्पन्न हुआ था, उसको यथासभव मिटाने का प्रयत्न वैदिक कवियो ने विशेपत सप्तमडलान्तर्गत वसिष्ठ ने किया है। इसी वसिष्ठ ने सप्तम मण्डल के देव 'भग' की स्तुति और प्रार्थना की है। वसिष्ठ सूर्य-कुल के उपाध्याय थे—यह प्रसिद्धि ही है। सूर्य-वश के श्रीराम को वसिष्ठ ने जो उपदेश दिया था, वह 'योगवासिष्ठ' के नाम से विख्यात ही है। 'भग' का अर्थ सूर्य भी है—इस दृष्टि से भी वसिष्ठ का भग की स्तुति करना यथार्थ ही है।

पूर्वोक्त (७, ४१) मे कुल ७ ऋचाए है। पहली ऋचा मे, प्रातःकाल मे अग्नि, इन्द्र मित्रावरुणौ, अश्विनौ, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, व रुद्र इन सव देवताओ का आह्वान किया गया है और आगे की २ से ६ तक की ऋचाए केवल 'भग'-देव सवधी है। इनमे भग-देव के स्वरूप का वर्णन किया गया है—

प्रातर्जित भगमुग्र हुवेम वय पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्य मन्यमानस्तु रश्चित् राजा चिद्य भग भक्षीत्याह॥ (७,४१,२)

अदिति का पुत्र आदित्य भगदेव उग्र जयशील और सम्पूर्ण जगत को धारण करनेवाला आधार है। दरिद्र और सम्पन्न लोग भी

भग-देव भी धन अथवा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगे मा धियमुदवा ददन्नः। (७,४१,३)

—हे भगदेव ! तू हमारा उत्कृष्ट नेता, अगुआ, मार्ग दर्शक है, तू सत्यधन अर्थात सच्चा धन-सम्पन्न ऐश्वर्यशाली है। हमारी इच्छा पूर्ण करके हमारी धी अर्थात स्तुति को सफल कर।

उतेदानीं भगवन्त. स्याम। (७,४१,४)

—भगदेव हमारा स्वामी होगा, किंवा हम धन-सम्पन्न हो।

भगएव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। (७,४१,५)

—हे देवताओ, भगदेव ही भगवान धनवान होओ। उसकी बदौलत हम 'भगवन्त'—भगवान - धनवान होंगे।

सौभाग्य के अर्थ मे भी 'भग' शब्द का प्रयोग कही-कही किया गया है। (ऋ० १०, १६०, १) भजनीय के अर्थ मे भी कही-कही विशेषण के तौर पर लगाया गया है। जिस प्रकार 'मित्र'-देव आगे चलकर कई जगह 'वरुण' का विशेषण हो गया उसी तरह यह 'भग'-देव भी प्रधानत सविता का विशेषण हो गया।

भगः सविता दाति वार्यम् (ऋ० ५,४८,५)

—महान भजनीय प्रेरणादायक देव स्वीकार करने योग्य द्रव्य दे।

कई जगह 'सवितृ भग' या 'भग सवितृ' ऐसे शब्द भी मिलते है जिनसे सूचित होता है कि विशेषण बनते-बनते 'भग' 'सविता' के अर्थ मे ही प्रयुक्त होने लगा। जो हो, इतना निर्विवाद है कि 'भग' इस दो-अक्षरी शब्द मे वसिष्ठ ऋषि ने उसके कई गुणो का गर्भित उल्लेख किया है। जैसे—

(१) उग्र जयशील आदि प्रारभिक भाग मे उसके भाग्यवान, ऐश्वर्यवान, वैभव-सम्पन्न, सौभाग्य-सम्पन्न सौन्दर्य-सम्पन्न श्री-सम्पत्ति का स्वामी, उदारदाता इत्यादि अर्थो का समावेश किया है।

(२) द्वितीयार्थ मे दरिद्र और सम्पन्न राजा और रक जैसा भेद उसके पास नही है। दोनो ही भग की भक्ति, प्रार्थना कर सकते हैं। वह सभी भक्तों को सम और सदय दृष्टि से देखता है।

(३) अदिति के पुत्र के रूप मे उसका उल्लेख वहुत अर्थ गर्भित है —

युवोर्हि माताऽदितिर्विचेतसा। (ऋ० १०, १३२, ६)

अर्थात कभी दीन न होनेवाली अखण्डनीय यह अदिति माता है और वही भूमि अर्थात पृथ्वी है, ऐसी अदिति माता के हम पुत्र अखण्डित रहे। 'अदिति' का अर्थ है बन्धन-हीनता और आदित्य के अर्थ हो जाते हैं कभी वन्धन मे न पडे हुए। इस प्रकार स्वतत्र, अदीन, अखण्डित, अदिति माता के उसीके गुणो से सम्पन्न पुत्र हम (तेहि पुत्रासो आदितेर्विदुर्द्वेषासि योतवे।—ऋ० ८, १८, ५) सज्जनो का द्वेष करनेवाले राक्षसो को कैसे दूर हटावे, चुन-चुनकर दूर कैसे कर दे, यह जानते हैं।

यस्मैपुत्रासो अदिते· प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्।

(ऋ० १०,१८५, ३)

अदीन माता के सुपुत्र आदित्य मनुष्यो को तो स्त्री-जीवन वनाने के लिए अविच्छिन्न तेज देते हैं, 'भग'-देव अदिति का पुत्र है—यह कहने मे इतना सारा अर्थ अभिप्रेत है।"

(४) भग 'विधर्ता' है। '**विश्वस्य जगत· धारकः**'। (सा० भा०) सपूर्ण जग का विशेषता से धारण करने वाला, जग का आधार है। जग के प्रति उसके मन मे दया है, प्रेम है, अत उसने जग को आधार दिया है। यह आधार विशेष प्रकार का है। धर्ता शब्द की धारणात्मक 'धृ' धातु से 'धर्म' शब्द वना है। 'धर्मो धारयते प्रजा।' अपने-अपने कर्तव्यो को अच्छी तरह पालन करने का धर्म यदि प्रजा पालती रहे तो ही उसका धारण-पोषण होगा, इसलिए कर्तव्याचरणरूपी धर्म की रक्षा करके 'भग' देव जग का आधारभूत होता है। इसलिए धर्म का पालन करनेवाले सज्जनो का सरक्षण कर और जो दुष्ट लोग स्वत धर्म का पालन न करते हुए सज्जनो को परेशान करते हैं, उनका विनाश करके ही धर्म-पालन का तथा जगत-धारण का काम करना पडता है।

(५) इसीलिए भग-देव 'उग्र' भी है। सज्जन भक्तो के प्रति सदय होने के कारण वह दुर्जन भक्तो के प्रति उग्र है, भयकर है। अदीन, अखण्डित, अदिति माता—पृथ्वी पर वढा हुआ दुष्टो का भार उतारने के लिए भग-देव उग्र रूप धारण करता है, दुष्टो से लडकर उनका विनाश करता है।

(६) फिर 'जितम्'—उनको मैंने जीत लिया है, ऐसा कहकर वह युद्ध को समाप्त करता है। हा, ऐसे युद्धो मे उसका कभी पराजय नही होता—वह जानता ही नही कि पराजय क्या है। इसलिए वह सदैव 'जितम्' अर्थात् जयशाली है (ऋ० ७, ४१, २)

(७) इस प्रकार का यह भगदेव 'प्रणेता' है। प्र-नेता पराक्रमी नेता है अगुआ है। नेतृत्व के लिए आवश्यक सदयता और उग्रता जैसे सभी आवश्यक गुण उसमे है। इसलिए उसे प्रणेता—प्रकर्षेण नेता कहा है।

(८) वह 'सत्यराध' है। 'राध' का अर्थ होता है धन, ऐश्वर्य। 'भग' का ऐश्वर्य, उसका वैभव, खोखला नही है। पूर्वोक्त गुणो के कारण वह सचमुच ऐश्वर्यवान है। (ऋ० ७, ४१, ३)

(९) इसलिए 'भग' ही 'भगवान' है। उसीका ऐश्वर्य वास्तविक होने के कारण भग ही 'भगवान्' सज्ञा के योग्य है। भग ही भगवान है।

(१०) और इस भगवान के नेतृत्व और कृपा के द्वारा हम भी 'भगवन्त' हो—अर्थात उसीकी तरह ऐश्वर्य-सम्पन्न, उदार, समता और सदयतापूर्वक व्यवहार करनेवाले, अखण्ड, अदीन, माता के सुपुत्र होकर सज्जनो के सरक्षण के लिए दुष्टो का विनाश करने के लिए उग्र पराक्रम करके विजय प्राप्त करनेवाले हो। इस हेतु प्रतिदिन प्रात काल आह्वान करके 'भग'-देव की प्रार्थना करनेवाले पराक्रमी लोग 'भगवन्त' अर्थात् ऐश्वर्यवन्त हो तो इसमे क्या आश्चर्य है। 'भग'-देव के साथ ही दूसरे देवो की भी—यूयपात स्वस्ति भि. सदा न', इस तरह प्रार्थना करके वसिष्ठ ने इस सुन्दर सूक्त को समाप्त किया है।

सूर्य के उदय-पूर्व का सौम्य-रूप भग है। जिस प्रदेश मे दीर्घकालीन रात-दिन होते है वहा रात्रि समाप्त होने पर वहुत समय तक ठहरनेवाली उषाकालीन सूर्यप्रभा कितनी मनोहर, धन्यभाग और हर्षभरित होती होगी। यही भागवत धर्म का अधिष्ठाता प्राचीन 'भग' देव है, जिसका पूरा एक सूक्त प्रधान-रूप से वसिष्ठ ने बनाया है। भग के इतने विस्तार से भगवान का मूल स्वरूप समझ मे आ जायगा, जिनसे भागवत-धर्म का मूल स्वरूप अपने-आप स्पष्ट हो जाता है।

भागवत-धर्म मे 'भगवान' को षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न माना गया है। 'भग' भी इन्ही गुणो का वाचक है। अलवत्ते इन छ गुणो की गिनती मे मतभेद पाया जाता है। विष्णु पुराण मे इस प्रकार ये छ गुण वताये गए है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिय
ज्ञान वैराग्ययोश्चेति षण्णा भग इतीरणा॥

मेदिनी कोष मे 'भग' का अर्थ सूर्य दिया हुआ है। सविता और सूर्य दोनो एक ही हैं, इसलिए 'भग' और 'सविता', जो प्रारम्भ मे भिन्न थे, वैसे न रहे, 'भग' सविता मे मिल गया।

भग-सविता

भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदसाः। (ऋ० १,६२,७)

सायण भाष्य मे 'भग' का अर्थ सूर्य लिया गया है। इसी प्रकार 'भगो नवारसृष्वति' (ऋ० ५, १६, २) मे भी भग का अर्थ सूर्य ही माना गया है वेद-काल मे 'गोधन' का वडा महत्व था और गाय को ऋग्वेद (१, १६४, ४०) मे भगवती कहा है।

सूयवसाद्भगवती हि भूया अयो वय भगवन्त स्याम।
अद्धि तृणमघ्ये विश्वदानीं पिव शुद्धमुदकमाचरन्ति॥

ऋग्वेद के ही (१।१२३, ५) मत्र से प्रमाणित होता है कि 'भगदेव' सूर्य का उदय-पूर्व रूप है।

भगस्य स्वसा वरुणस्य जामि।

अर्थात उषा आदित्य भगदेव की वहन है। एक और ऋचा देखिए—

"अर्वाचीन वसुमिद भग नो रथमिवाश्वा वाजिनं आवहन्तु।"

—'वेगवान घोडे जिस प्रकार रथ को लाते हैं, उसी प्रकार उषा देवता 'भग' देव को हमारे सम्मुख लावें।' इससे सिद्ध होता है कि उषःकाल और सूर्योदय के वीच मे सूर्य का जो रूप रहता है, वही 'भग' देव है और इसीको वाद मे सविता कहने लगे। ऋग्वेद मे ऐसे कई वचन और भी आते है जिनमे 'भग' और 'सविता' के समान गुणो का उल्लेख किया गया है।

इन सवका निचोड यह है कि भागवत-धर्म का सर्वप्राचीन अधिष्ठाता भगदेव है और उसीका विकसित रूप 'सविता' है। आदित्य मण्डल मे 'भगदेव' का स्थान है ही, इसीलिए 'सौर' देवताओ का प्रवेश भी आदित्य मण्डल मे हो गया। फिर उनमे कुछ देव पिछड गये और कुछ सौर देव आगे वढ गये। 'भग' का 'सविता' मे समावेश हो गया—सविता के रूप मे उसका पुनरवतार हुआ।

अत भग की तरह 'सविता' भी भागवत-धर्म का अधिष्ठाता देव हो गया। भग की तरह सविता भी वैदिक देव है।

'भगवान' शब्द वेदो मे रुद्र के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त मिलता है, विष्णु आदि और किसी देवता के लिए नही। वाल्मीकि रामायण मे भी राम के लिए सिर्फ एक ही जगह 'भगवान' विशेषण आया है। राम, कृष्ण आदि के पहले 'भगवान' का प्रयोग पुराण-काल मे प्रारम्भ हुआ है।

वैष्णव धर्म अकेले विष्णु को मानता है, जबकि 'भागवत-धर्म' मे गणपति, सूर्य, सरस्वती, शिव-सहित विष्णु के पूजन का विधान है। अर्थात भागवत-धर्म मे एकान्तिक विष्णु-पूजन नही है—अन्य देवताओ के समन्वय के साथ विष्णु पूजित हुए हैं। अत भागवत-धर्म सर्व-समन्वयात्मक है, इसीलिए जनसाधारण मे, सभी वर्गों मे, यह मान्य हुआ है।

वेदो मे वैदिक देवताओ के नाम एक विशिष्ट सीमित अर्थ मे ही लिये जाते थे—बाद मे जाकर उनके अर्थो का विकास हुआ है और उसके अनुरूप कई देवता और महापुरुष 'भगवान' विशेषण से विभूषित किये गए। देवता की अपेक्षा पहले विद्वानो—व्यास-वसिष्ठ आदि ऋषि-मुनियो को भगवान विशेषण लगाया जाता था। विष्णु, राम, कृष्ण आदि के लिए यह बाद मे प्रयुक्त हुआ है। 'भग' शब्द का ऐश्वर्य-आदिवाची अर्थ तो वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु 'भग' शब्द सूर्यवाची था, वह ज्योति-स्वरूपी माना जाता था—बाद मे षड् ऐश्वर्य का जन्म हुआ है। विष्णु-पुराण मे ये छह ऐश्वर्य किस प्रकार गिनाये गए है, इसका उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।

वेद मे 'भग' के ऐश्वर्य या गुणो का वर्णन पहले आ ही चुका है। सविता का रूपान्तर सूर्य मे हो गया। इसे भी श० दा० पेंडसे ने अपने 'वैदिक वाङ्मय मे भागवत-धर्म का विकास' नामक ग्रथ मे अच्छी तरह सिद्ध किया है। भगवान सविता—सूर्यदेव भागवत धर्म का सर्व प्राचीन अधिष्ठाता देव है। प्राचीन काल मे ही पूर्णता को प्राप्त इसका पूर्व स्वरूप यथार्थतः समझ लेने से ही भागवत-धर्म के मूल-स्वरूप की कल्पना अच्छी तरह हो सकती है।

भागवत-धर्म वैष्णव-धर्म भी कहलाता है। विष्णु भी वैदिक देवता है,

किन्तु सूर्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। ऋग्वेद मे 'विष्णु' का उल्लेख लगभग १०० वार आया है। भग और सविता की तरह विष्णु का भी प्रवेश आदित्य-मडल मे हो गया। विष्णु मूलत सौर देवता थे, किन्तु आगे चलकर आदित्यो मे उन्हे प्रमुख स्थान मिल गया।

वैष्णव-धर्म

'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है। शाकपाणि ने **'विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा'** की है। विश्—प्रवेश करना, घुसना, व्यापना—धातु से विष्णु शब्द बना है। इसलिए सायणाचार्य ने भी **'विष्णोः व्यापनशीलस्य'** (ऋ० १, १५४, १) 'व्यापकस्य' (१, १५४, ५) ऐसा अर्थ किया है। विष् का अर्थ है क्रियाशील होना। इस धातु से भी विष्णु शब्द बनता है। परन्तु यह तथा दूसरी अनेक व्युत्पत्तियो का विचार करके तुलनात्मक भाषाशास्त्र और व्याकरण के आधार पर डॉ० दाण्डेकर ने एक और ही व्युत्पत्ति दी है। वह कहते हैं—'वि' धातु को 'स्नु' प्रत्यय लगाने से यह शब्द सिद्ध होता है। जिष्णु, अलकरिष्णु आदि रूप भी इसी तरह सिद्ध होते हैं। अत विष्णु शब्द का मूल अर्थ उडनेवाला होना चाहिए। विष्णु को 'गरुडध्वज' कहा है। गरुड सूर्य के अर्थ मे भी ऋग्वेद मे आया है। इस तरह विष्णु सूर्यवाची हो गया और फिर सूर्य व विष्णु एक रूप हो गये। वैदिक देवताओ मे 'अग्नि' से विष्णु बडा माना गया है और ब्राह्मण-काल मे उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। शतपथ ब्राह्मण मे भी कहा—

'विष्णुर्देवाना श्रेष्ठ इति। यः स विष्णुर्यज्ञ. सः।' (१४, १, १, ५)

डॉ० दाण्डेकर का मत है कि 'वेद के सर्वप्रमुख इन्द्र देवता को पीछे धकेलकर विष्णु को, जो वेदो मे लगभग उपेक्षित रहा है, इतना उच्च और उन्नत स्थान दिया गया—यह घटना हिन्दुओ के दैवतशास्त्रीय विचार-विकास की एक विस्मय-कारक घटना मानी जायगी।' (वैदिक देवताचे अभिनव दर्शन) विष्णु के इस सौर-स्वरूप के ही कारण उसका अन्तर्भाव भागवत धर्म के प्रमुख देवो मे हो गया और उसे 'वैष्णव-धर्म' जैसा एक नवीन नाम भी प्राप्त हो गया।

भगवान सविता—सूर्यदेव स्वरूपतः निराकार था, अत वैदिक कवियो ने 'त्रिविक्रम' विष्णु की कल्पना की—प्रत्यक्ष तेज ही मानो शरीरधारी विष्णु हो गया। विष्णु के पराक्रम का वर्णन इसी तरह किया गया है। **'एकं सद्विप्रा**

बहुधा वदन्ति' के अनुसार सूर्य का वर्णन विष्णु के रूप मे करने मे वैदिक ऋषियो को कोई कठिनाई नही हुई। निराकार से साकार की ओर जाने की मानव मन की प्रक्रिया सूर्य को विष्णु का रूप देने मे प्रकट हुई है। उदय के पहले 'भग' और 'सविता' तथा उदय के बाद सूर्य और विष्णु इस प्रकार काल-सापेक्ष्य भिन्न-भिन्न नामो से सूर्य का ही उल्लेख किया गया है।

वैष्णव-धर्म का अर्थ है 'विष्णु-भक्ति-प्रधान' धर्म। इसका मूल ऋ० १, १५४,४ मे इस प्रकार मिलता है—

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवी मुतद्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥

इसमे ऐसा कहा गया है कि जो विष्णु के अविनाशी चरणो का आश्रय लेंगे वे उस चरणामृत से आनदित होंगे। नवधा भक्ति के अन्तर्गत 'पाद-सेवन' भक्ति के—विष्णु के चरण-कमल की सेवा करने के बीज इसमे है। इसमे यह भी सूचित किया गया है कि उसकी सेवा से अमृतत्व और आनन्द प्राप्त होता है। ऋ० १, १५४, ५ मे यह कल्पना और भी स्पष्ट की गई है। इसमे कहा गया है कि विष्णु सब भक्तो का हितकर्ता सखा है, बन्धु है। भक्तियोग मे परमेश्वर को शरणागत, चरणाश्रित—भक्तो का बन्धु माना गया है। मूल भागवत-धर्म का 'वैष्णव धर्म' नाम किस प्रकार पड गया, यह इससे प्रकट हो जाता है। ऋग्वेद के विष्णु-सूक्त को पढने से यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि ईश्वर-प्राप्ति के दो साधन—ज्ञान व भक्ति, अग्नि-द्वारा यज्ञ-हवन-रूपी तथा सकीर्तन-रूपी दो प्रकार की भक्ति, और ऐहिक ऐश्वर्य तथा पारलौकिक आनन्द का उत्कृष्ट समन्वय जो भागवत-धर्म मे किया गया है, उसका प्रारम्भ वेद से हुआ है। सूर्योपासना का पर्यवसान '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'-रूपी आत्मज्ञान मे तथा विष्णु की उपासना ज्ञान-पूर्वक भक्ति मे परिणत हुई है। सूर्योपासना, अग्नि द्वारा की जानेवाली निराकार सर्वव्यापक तेज की उपासना है और विष्णु की उपासना प्रधानत नाम-सकीर्तनात्मक है—इसलिए सर्वव्यापक तेज की उपासना है। सूर्य की उपासना मे तेजस्वी सूर्य जरा उग्र तथा भक्तो से कुछ दूर मालूम होता है तो विष्णु की उपासना मे वह पीडित बन्धु बनकर नजदीक आया मालूम होता है। सूर्य स्थिर तत्व—आत्मभूत है। इस ज्ञान का प्रकाश वह हमारे अन्त करण में पहुचाता है—विष्णु, अपने व्यापकत्व के द्वारा अपने परमपद मे प्राप्त अमृत-

स्रोत तक भक्त को ले जाता है। एक मे ज्ञान है तो दूसरे मे ज्ञानोत्तर भक्ति सुख है। आगे चलकर तत्वज्ञान और भक्ति के स्वरूपो तथा प्रकारो मे जो भेद बढता गया उसके सब बीज इन दो उपासनाओ मे दिखाई देते हैं। परन्तु भागवत-धर्म के विकास का रहस्य ही यह है कि वह इनमे एकत्व के धागे को कही टूटने नही देता है—सूर्य ही धीरे-धीरे विष्णु हो जाता है। सूर्य के सब गुण प्राप्त करके ही विष्णु के द्यु-लोक के परमपद से उत्पन्न भागवत-धर्म की अमृत-गगा की धारा आगे प्रवाहित हुई है। इन्द्र वैदिक आर्यों का युद्ध-नेता—देव था, यह सर्वविदित है। युद्धकाल मे उसकी प्रधानता होती थी या थी। जब आर्य स्थिर हो गये तथा कृषि कर्म करने लगे तब उन्हे विष्णु-देव अधिक प्रिय हुए। विष्णु असुरो पर आक्रमण करके भूमि अपने भक्तो को दिया करता था। यहा यह बात भी याद रखने लायक है कि प्रारम्भ के भगदेव के सूक्त की तरह विष्णु देव के भी ऋषि वसिष्ठ ही हैं।

ऊपर कह चुके हैं कि सूर्योपासना से भागवत-धर्म निकला होगा—यह कल्पना डॉ० ग्रियर्सन को हुई थी। स्वत भगवान ने यह धर्म नारद को सिखाया, उन्होंने सूर्य को और सूर्य ने मानव-जाति को प्रदान किया। भगवान का रामावतार सूर्यवशी है। उत्तर मे लोग सूर्य को भगवान ही कहते हैं।

शोधकर्ता विद्वानो ने यह भी प्रश्न उठाया है कि विष्णु वैदिक देव है या अवैदिक। भग, सविता, सूर्य ये इण्डो-इरानियन देवता है, इसलिए प्राचीन हैं। इसका जिक्र पहले आ चुका है। परन्तु विष्णु पूर्णत

विष्णु वैदिक या अवैदिक

भारतीय देवता हैं। विष्णु का उल्लेख ईरानी साहित्य मे, जेदाअवस्ता मे, कही नही मिलता, अत अर्वाचीन हैं। किन्तु इस कारण विष्णु को अवैदिक कहने की अपेक्षा वैदिक आर्यों के एक दल या जमात—बहुत बडी जमात के सर्वश्रेष्ठ देवता थे, यह कहना अधिक युक्तिसगत होगा। विष्णु का सौर स्वरूप इसका स्पष्ट प्रमाण है।

प्राचीन आर्य एक ही देव की अनेक नामो से उपासना करते थे। 'एक सद्विप्रा बहुधा वदति' इस सौर ऋचा से यह अच्छी तरह सिद्ध है। एकेश्वर की इस कल्पना का उदय प्राचीन काल मे ही हो चुका था। पहले अनेक सगुण देवता, फिर एक ही सगुण देव, बाद मे एक ही विश्वव्यापक विश्वात्मक देव और फिर इन सबके आधार-भूत निर्गुण निराकार चित्तत्व इस क्रम से वैदिक साहित्य के देवता-विषयक विकास उपनिषद् काल तक हुआ है। सूर्य के आधिभौतिक

आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप का भी विकास ऐसा ही दिखाई पडता है। ऋ० की ७-४०-५ ऋचा कहती है—

अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः।

सर्वदेवात्मक विष्णु मुख्यदेव हैं, शेष सब देव उसीकी शाखा है। जैसे वृक्ष में सब शाखाओ का समावेश हो जाता है, जैसे शाखाए वृक्ष से पृथक् नही होती हैं वैसे ही इतर देव विष्णु से पृथक् नही है।

: ७ :

भागवत की महत्ता

भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत भागवत-धर्म के आधार-स्तम्भ है। अठारह पुराणो मे भागवत सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान और भक्ति का ऐसा सुन्दर समन्वय भागवत की तरह अन्यत्र कही नही पाया जाता। इसलिए परम ज्ञानी और परम भक्त दोनो के लिए यह मार्ग-दर्शक है। भारत मे श्रीकृष्ण-भक्ति-सबधी जितने भी सम्प्रदाय है सबकी आद्य सहिता श्रीमद्-भागवत ही है। श्रीकृष्ण परब्रह्म के पूर्णावतार माने गए हैं। उन्होंने अपना सारा ज्ञान गीता मे अर्जुन को और भागवत मे उद्धव को बता दिया है। गीता और भागवत दोनो अद्वैत भक्ति का प्रतिपादन करते हैं—इस दृष्टि से दोनो मे कोई भेद नही है। परन्तु भागवत मे ज्ञान-निरूपण के साथ-साथ श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्रो का भी वणन किया गया भागवत के प्रथम नौ स्कन्धो मे प्रह्लाद, ध्रुव, गजेन्द्र, अजामील, अम्बरीष, जडभरत, आदि के तथा सारे दशम स्कन्ध मे श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य जन्म-कर्मों की कथाएं कही गई है, जो बडी सरल, मधुर और शिक्षा-पूर्ण हैं। ग्यारहवे स्कन्ध मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान का निरूपण करके बारहवे स्कन्ध मे कलिकाल-ग्रस्त जीवो के लिए उद्धार का उपाय बताया है। यदि पिछले सात-आठ सौ साल का साधु-सन्तो का इतिहास देखे तो मालूम होगा कि उन्हे अपनी साधना और कृतार्थता मे मुख्य खुराक भागवत से ही मिली है। सूरदास, नरसी मेहता, मीरा, श्रीकृष्ण चैतन्य से लेकर महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ रामदास और द्रविड तथा कर्नाटक के अनेक सतो को भागवत से अमित प्रेरणा मिली है

पाठको को जानकर आश्चर्य होगा कि भागवत का पहला अंग्रेजी अनुवाद भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्स ने किया था। इस विषय मे इमर्सन ने लिखा है—

भागवत का पहला अगरेजी अनुवाद

I am not surprised then to find an Englishman like Warren Hastings, who has been struck with the grand style of thinking in the Indian writings deprecating the prejudices of his countrymen, while offering them a translation of the Bhagwat He goes on to speak the indulgence to "ornaments of fency unsuited to of our taste and passages elevated to a tract of sublimity into which our habits of jadgement will find it diffiécult to persue them"

अर्थात इसमें (भागवत मे) ऐसे उच्च कोटि के उन्नत और उदात्त विचारो के अनेक प्रसग मिलेंगे, जो हम अग्रेजो की विचार-सरणि के अनुकूल न होंगे और हमारी रुचि के प्रतिकूल विविध कल्पनाओ के चमत्कार भी इसमे दिखाई देंगे, फिर भी मेरा सबसे अनुरोध है कि वे इस ग्रथ को एक बार जरूर पढ जावें।

प्राध्यापक मेकडोनल्ड कहते हैं "It (भागवत) exercises a more powerful influence in Indian mind than any other purana" अर्थात "और किसी भी पुराण की अपेक्षा भागवत का प्रभाव भारतीय मानस पर बहुत अधिक पडा है।"

सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वशानुचरित—इन पाच लक्षणो से युक्त ग्रथ को हम 'पुराण' कहते हैं। परन्तु यह बहिरग लक्षण है। पुराणो का वास्तविक कार्य है धर्म-निश्चय और मोक्ष या कैवल्य-सिद्धि। मत्र, ब्राह्मण, उपनिषद आदि ग्रथ साधारण व्यक्ति के लिए दुर्बोध हैं। उनका ज्ञान जन-साधारण के लिए सुलभ हो, इस दृष्टि से पुराणो की रचना हुई है। 'इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्' यह वचन अनेक पुरणो में आया है। फिर वेद सब उपलब्ध नही, वेदो का बहुताश लुप्त हो गया। एक आख्यायिका है कि वेद अनत, पर्वत-प्राय थे। उनमे से चार मुट्ठी वेद ब्रह्मदेव ने ऋषियो को दिये। स्मृति-पुराण आदि को उन्हीका रूपान्तर मानना चाहिए। ये वेदो का ही

अनुसरण करते है। श्रुति मे जो परम पुरुषार्थ बताया गया है उसीकी प्रतिष्ठा पुराणो मे की गई है। भिन्न-भिन्न प्रकार से उनमे एक ही ज्ञान या दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए पुराणो मे जो तत्व-विवेचन किया गया है वह सर्वाधिक महत्व रखता है।

भागवत मे जगह-जगह वेदान्त का प्रतिपादन बहुत आया है। कथा-भाग तथा उदाहरणो के द्वारा उसके विवेचन का जितना श्रेय भागवत को है उतना और किसी ग्रथ को नही। ग्यारहवा स्कन्ध तो मानो वेदान्त का सार-सर्वस्व ही है। श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के निमित्त से, जो उपदेश अपने अन्तिम समय में

भागवत में वेदान्त

वडे-बूढे जनो को, घर या समाज के लोगो को, उनके हित और कल्याण के लिए देना चाहिए, वही सब दिया है। ससार-व्यवहार के लिए कर्म-योग-प्रधान गीता सुनाई और आत्म-व्यवहार के लिए यह उपदेश। श्रीकृष्ण के जगन्नाटक का अतिम भाषण ही इसे कहना चाहिए। यह ज्ञान-प्रधान भक्तियोग उनका अतिम सन्देश है। इस ज्ञान की महिमा मे स्वय भगवान २९ वे अध्याय मे कहते हैं—

नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥

—जैसे दिव्य अमृतपान कर लेने पर कुछ भी पीना शेष नही रहता, वैसे ही यह जान लेने पर जिज्ञासु के लिए कुछ भी जानना शेष नही रहता।

'भागवत कथा' की भूमिका मे श्री वियोगी हरि भागवत की महिमा मे लिखते है—

"विद्यावता भागवते परीक्षा" यह कहावत प्राचीन काल से विद्वत्समाज मे प्रचलित है। विद्वानो की चूडान्त विद्या की परीक्षा श्रीमद्भागवत महापुराण द्वारा हुआ करती थी। केवल विद्वानो की ही नही, वल्कि कहना चाहिए कि वडे-वडे तत्वज्ञानियो, परमार्थमार्गियो एव रसज्ञ भक्तो की भी परीक्षा भागवत से होती है। भागवत एक ही साथ समन्वयपरक दर्शन-ग्रथ, उत्कृष्ट भक्तिरस-ग्रथ और अद्वितीय काव्य-ग्रथ भी है। दशम स्कन्ध, जहा श्रीकृष्ण-लीलाओ का अनुपम रसार्णव है, तहा एकादश स्कन्ध भागवत-सिद्धान्तो का अद्भुत निचोड़ है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत-सिद्धान्तो का असामान्य समन्वय तो हम भागवत मे पाते ही है, साख्य-दर्शन को भी हम एक निराले ही रूप मे इस ग्रथ मे

देखते हैं। अनेक आख्यानो को उपस्थित करते समय भी भागवतकार की दृष्टि निरन्तर तत्व-ज्ञान की गहनता और सूक्ष्मता पर ही रही है।

'कहते हैं कि अनेक पुराणो और महाभारत की रचना करने के उपरान्त भगवान व्यास को परितोष नही हुआ। परम आह्लाद तो उनको श्रीमद्भागवत के प्रणयन और सगायन के पश्चात ही हुआ। उसी भागवत का व्यासपुत्र शुकदेव ने विशद व्याख्यान किया। परम रसज्ञ शुकदेव के मुख से उद्गीत होने पर पद-पद से अमृत झर उठा था 'शुकमुखादमृत-द्रवसयुतम्।' यही कारण है, जो भागवत को भगवान का 'निज स्वरूप' कहा गया है। निस्सन्देह, भगवदनुगह-मार्ग का यह सर्वोत्कृष्ट ग्रथ है।

भागवत—भगवान का स्वरूप

"यद्यपि भागवत का एक-एक श्लोक लालित्य और माधुर्य से परिप्लुत है, तथापि इसके कई स्थल इतने गहन और इतने क्लिष्ट हैं कि उनका अर्थ लगाते हुए बडे-बडे पण्डितो की भी बुद्धि चक्कर खा जाती है। भागवत पर जितनी टीकाए, जितनी वृत्तिया और जितने भाष्य लिखे गए हैं, उतने और किसी पुराण-ग्रथ पर नही।

'अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो पर भागवत को उतारने के आचार्य तथा अन्य विद्वानो ने समय-समय पर प्रयत्न किये हैं, किन्तु फिर भी भागवत अपने-आप मे निराला ही ग्रथ रहा है—साम्प्रदायिक एव विभिन्न दार्शनिक वादो से निराला।"

कई विद्वान मानते हैं कि भागवत के समय-समय पर कई सस्करण हुए हैं, जिनमे विस्तार भी किया गया है। मूल सहिता से आज का ग्रथ बहुत बडा हो गया है। इससे उसमे परस्पर विरोध और कथान्तर भी देखा जाता है। इस विषय मे भागवत-कथा के लेखक कहते हैं—

ग्रथ के अन्दर ही हमे ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जिनके मनन से हम उपरोक्त मत का प्रतिपादन कर सकते हैं। प्रथम स्कन्ध और द्वितीय स्कन्ध मे वर्णित अवतारो के नामो और उनकी गणना मे साम्य का अभाव पाया जाता है। प्रथम स्कन्ध मे नारद और मोहिनी को अवतारो की गणना मे प्रतिष्ठित किया गया है, पर द्वितीय स्कन्ध मे शुकदेवजी द्वारा परीक्षित को सुनाये गए अवतारो मे इन्हे

कथा-भेद

न रखकर हस और हयग्रीव को रखा गया है। इस भिन्नता को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना उचित नही होगा कि श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने ही दोनो स्थलो पर अवतारो का वर्णन किया है। विराट भगवान की कथा प्रारम्भ मे शुकदेवजी ने परीक्षित को सुनाई। आगे चलकर वही कथा मैत्रेय मुनि ने विदुरजी को सुनाई। पर दोनो वर्णनो मे प्रत्यक्ष भेद के दर्शन होते है। इसी तरह हम पाते है कि ग्रथ मे वर्णाश्रम-धर्म, साधक के कर्तव्य, सत-लक्षण आदि विपय एक स्थान पर ही नही, विविध स्थानो पर विवेचित हुए है।

भाषा और शैली का असाम्य भी स्पष्ट लक्षित होता है। कही पर वर्णन मे असाधारण प्रखरता और तेजस्विता पाई जाती है तो कही पर शैथिल्य एव सामान्यता। उदाहरणार्थ, नवम स्कन्ध मे श्रीशुकदेव ने परीक्षित को बहुत-से ऐसे राजाओ का जीवन-चरित सुनाया है, जिनका भक्ति-मार्ग मे कही स्थान नही है। नवम स्कन्ध मे कितने ही स्थलो पर भाषा मे वह भावपूर्णता, ओजस्विता, स्निग्धता एव रोचकता नही तथा वर्णन-शैली मे वह वैचित्र्य नही, जो इस ग्रथरत्न के प्रतिभाशाली रचयिता की सर्वमान्य विशेषताए है। भगवान कपिल, जडभरत, अजामिल, प्रह्लाद तथा महाराजा बलि के चरितो को अपनी अद्भुत लेखन-कौशल से प्रकाशित करनेवाला महान कवि एव चिन्तक नवम स्कन्ध मे आकर भगवान राम और राजा हरिश्चन्द्र के चरित खीचने मे साधारण भापा को ही क्यो प्रयुक्त कर पाया, यह शका सहज ही हमारे मनो मे अकुरित होती है। इस शका का एक ही समाधान है। वह यह कि इस विशाल ग्रथोदधि मे उपलब्ध अपार रत्नराशि को श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने ही नही, उत्तरकालीन अन्य विद्वज्जनो ने भी एकत्र किया है।

इसमे कोई सन्देह नही कि श्रीमद्भागवत-महापुराण एक अपूर्व धार्मिक ग्रथ है। इस महान ग्रथ मे भगवान के अवतारो मे यज्ञ, बुद्ध और कल्कि को छोडकर अन्य सभी की कथाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। दशम स्कन्ध मे वर्णित भगवान श्रीकृष्ण की सुमधुर मगलमयी कथाए तो भक्त-हृदयो को अत्यधिक प्रिय है। एकादश स्कन्ध मे भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को दिया गया उपदेश वर्णाश्रम-धर्म, साख्य ज्ञान, भक्तियोग, सत-लक्षण इत्यादि विषयो का पूर्ण और श्रेष्ठ विवेचन है। यद्यपि श्रीमद्भागवत की सभी कथाए भक्तियोग का उत्तम

अपूर्व धार्मिक ग्रंथ

उपदेश देनेवाली एव श्रद्धा बढानेवाली है, फिर भी भगवान कपिल का माता देवहूति को उपदेश, जडभरत, अजामिल, प्रह्लाद-चरित्र, वामनावतार एव महाराज वलि की कथाए विशेपतया आकर्पित करती हैं।

हमे यह निश्चिततया नही मालूम कि इस विशाल ग्रथ के महान रचयिता श्रीवेदव्यास ने इसे स्वय अपने करकमलो द्वारा लिखा या अपने अद्‌भुत मेधा-शक्ति-सम्पन्न शिप्यो को अपने श्रीमुख से पढाया।

भागवत के रचयिता

प्राचीन पाण्डुलिपि के अभाव मे हमारा दृढता के साथ यह कहना कि यह ग्रथ मूलत लिखा ही गया था, एक अनधिकार चेप्टा होगी। श्रुति-स्मृति की पुरातन पद्धति से यह ग्रथराज हमे परम्परागत प्राप्त होता गया—यह मत ही अधिक युक्ति-सगत प्रतीत होता है। इस पूर्व-प्रचलित पद्धति से जो भी ग्रथ मानवता को प्राप्त हुए हैं, उनके विषय मे यह आशका तो सदैव वनी ही रहेगी कि समय-समय पर अन्यान्य विद्वानो ने अपनी रुचि के अनुसार एव समयानुकूल प्रकरण मूल रचनाओ के साथ अन्तर्निहित कर दिये होगे। इस क्रिया के कारण ही कालान्तर मे यह ग्रथ इतना विशालकाय हो गया, यह कहना शायद अनुचित न होगा। यह कहा जाता है कि "व्यास" नामरूपी एक नही, अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। विद्वानो ने यह प्रतिपादित करने की चेप्टा की है कि 'व्यास' एक उपाधि-मात्र थी, उसी प्रकार जिस प्रकार महामहोपाध्याय, कविरत्न, आदि उपाधिया आजकल प्रचलित हैं, पर यह तो निर्विवाद है कि इस ग्रथ के अग्रगण्य रचयिता एव प्रणेता, अलौकिक काव्य-शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ही थे। अन्य 'व्यास' उपाधि-विभूपित काव्य कलाधरो एव विचारको ने समय-समय पर अपनी विविध कलाकृतियो को इस ग्रथ मे मिलाया, यह भी प्राय असदिग्ध है।

एक विद्वान के मतानुसार कवि व्यास और महावीर कृष्ण भारतीय सस्कृति के दो विशिप्ट स्तम्भ हैं। व्यास एक आदर्श द्रष्टा, तपस्वी और सिद्ध पुरुप हैं।

नवीन दर्शन के कवि व्यास कृष्णद्वैपायन

कृष्ण हैं अतिमानव और धर्मार्थ युद्ध मे सदैव विजयी योद्धा और नायक। महाभारत, विष्णुपुराण तथा भागवत-पुराण मे द्रष्टा और नायक दोनो की समान प्रशसा की गई। द्रष्टा की सम्मानजनक पदवी वेद-व्यास प्रदान की गई है और कहा गया है कि उन्होंने ही मूल वेद को चार सहिताओ

मे विभाजित किया और प्रत्येक के शिक्षण का भार अपने चार अलग-अलग शिष्यो को सौंप दिया। निस्सदेह यह कल्पना-मात्र है। किन्तु महाभारत के मूल रूप और भगवद्गीता के रचयिता व्यास, अर्थात कृष्ण-भागवत या कृष्ण-द्वैपायन निश्चित रूप मे हमारी श्रद्धा के अधिकारी है। कारण, उन्होने ही कृष्ण-भागवत धर्म अथवा एक नवीन 'पाचरात्र' धर्म का प्रतिपादन किया था, और वह भी इस ढग से कि उनका धर्म जैन-वौद्ध-धर्मो की भाति रूढ नही बन गया, बल्कि औपनिषदीय दर्शन मे पूरी तरह घुल-मिल गया। इसके अतिरिक्त व्यास ने जोर दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म का पालन करने की स्वतत्रता हो। उन्होंने शैव और शाक्त धर्मो के प्रति सहिष्णुता और उदारता पर भी जोर दिया। तभी से यह सहिष्णुता और उदारता सामान्य हिन्दू धर्म का विशिष्ट गुण है। गीता मे एक प्रकार की सार्वभौमिकता और समन्वयी गुण है। यही कारण है कि उसे श्रुति के वाद पहला और ब्राह्मण धर्म मे सर्वोच्च स्मृति का स्थान दिया गया है। यह उचित भी है। वैदिक साहित्य मे द्रष्टा के रूप मे व्यास का जिक्र कही नही है। तीनो वेदो के पृथक्करण मे भी उनका वास्तव मे कोई हाथ न था। वेद तो महाभारत-युग के वहुत पहले से ही मौजूद थे। उपर्युक्त कथा का सूत्रपात ब्राह्मण-धर्म के उनके नाम को पूज्य वनाने के विचार से ही किया गया था। इसके वावजूद भागवत-धर्म के विचार और सन्देशवाहक के रूप मे वह हमारी असीम श्रद्धा के अधिकारी है। वह कवि थे, कथाकार थे, राज-नीतिज्ञ थे और महर्षि थे। उन्हे पूरी तरह अहसास था कि अपराजेय विदेशी वर्वरो, जो गगा की पवित्र भूमि मे प्रवेश करते चले जा रहे थे, के आक्रमणो और विजयो से भारतीय भूमि और धर्म को कितना वडा खतरा था। इसी कारण महत्तर कीर्ति के अधिकारी हैं।

व्यास की महत्ता

स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं—'जिस प्रकार वाल्मीकि की दिव्य प्रतिभा से श्रीराम के उदात्त-चरित्र-रत्न को महान उज्ज्वलता प्राप्त हुई है उसी प्रकार श्रीकृष्ण के चरित्र और उपदेश को सजीव तथा दिव्य वनाने मे महर्षि व्यास की वाणी की देन कारणीभूत हुई है। जैसा ही श्रीकृष्ण का उदार चरित्र है वैसी ही व्यास की वाणी भी उदार ही है। वाल्मीकि को यदि आदि कवि कहते है, तो व्यास को आदि इतिहासकार कहना अनुचित न होगा। व्यास जैसा व्यवहार-

चतुर ग्रंथ-कर्ता भारतवर्ष मे दूसरा नही हुआ, ऐसा कहे तो अत्युक्ति नही। व्यासदेव जैसे व्यवहार मे चतुर थे वैसे ही तत्वज्ञान मे भी पारगत थे। 'व्यासोच्छिष्ट जगत् सर्व' यह गलत नही कहा है। क्या व्यवहार मे और क्या परमार्थ मे जो-जो सुन्दर कल्पना और उपमा-अलकार हमे सूझ पडते है, वे सब महाभारत मे मिल जाते हैं। श्रीकृष्ण जैसे व्यवहार तथा परमार्थ दोनो मे अग्रणी थे वैसे ही व्यास भी मिल गये। इस समान सुयोग के कारण श्रीकृष्ण का चरित्र और उपदेश बहुत सुन्दर रूप मे हमारे सामने आ पाया है। भगवद्गीता मे तो सौन्दर्य की कमाल ही हो गई है। भगवद्गीता के गहन तत्वज्ञान को व्यासदेव की गंभीर और प्रसन्न वाणी की जोड मिल जाने से गीता-ग्रथ सारे ससार मे मान्य हो गया। महाभारत और गीता मे श्रीकृष्ण का तत्वज्ञान तो अच्छी तरह उद्घाटित हो गया है, परन्तु यह नही कह सकते कि उनमे श्रीकृष्ण का चरित्र समग्र ग्रथित हो गया है। महाभारत के पढने के उपरान्त भी पाठक को श्रीकृष्ण-चरित्र जानने की उत्सुकता रहती है। वह 'हरिवश' और श्रीमद्भागवत से पूरी हो जाती है।

: ८ :

भागवत काल-निर्णय

प्राचीन ग्रथो के काल-निर्णय के बारे मे पुरातत्व के विद्वानो के मतो मे बडा अन्तर है। इनमे देशी-विदेशी सभी विद्वान सम्मिलित हैं। ठेठ वेदो से लेकर भागवत के रचना-काल तक यही मतभेद दिखाई देता है। वेद-काल ईसा-पूर्व १२०० से लेकर १०,००० वर्ष तक पहुचता है। भारती-युद्ध-काल मे कोई १५०० से १८०० वर्षो का अन्तर है। एक मत के अनुसार यह समय ईसा-पूर्व १६९५ से ३२ तक है तो दूसरे के अनुसार ३१३९ है। यही हाल स्मृति और पुराण-ग्रथो का है। सर्व-साधारण आधुनिक पडितो का मत है कि भागवत ग्रथ बहुत अर्वाचीन है। बाज-बाज तो कहते है कि ईसा की १४वी शती मे इसकी रचना हुई है। महर्षि दयानन्द इसे वोपदेव पडितकृत बताते हैं, तो लोकमान्य तिलक-जैसे विद्वान का कहना है कि भागवत पुराण बाद मे बनाया गया है। आधुनिक पडितो की परीक्षा-विधि को छोड दे, तो हमारे पुराण-ग्रथ भी भागवत

को अर्वाचीन वताने मे कारणीभूत हुए है, यह कहे विना नही रहा जा सकता। जैसे—भविष्य राजवर्णन, बुद्धावतार की कथा, स्पष्ट ही वताते है कि पुराणो मे ये बाद मे जोडी गई है। यह निर्विवाद है कि व्यासदेव ने पुराण-सहिता की रचना की और उन्होने अपने भिन्न-भिन्न कई शिष्यो को पढाई। इसमे भी सन्देह नही कि ये सहिताए तत्वपूर्ण प्रचलित साहित्य की गाथा, श्लोक, आख्यान, इतिहास उशना कवि के काव्य जैसे के आधार पर रची गई है। व्यास-रचित ये मूल सहिताए ज्यो-की-त्यो कायम नही रही। सूत आदि पौराणिको ने अपनी ओर से कुछ मिलाकर उसका विस्तार किया है। इसके फलस्वरूप विभिन्न पुराणो मे भी कथा-भेद उत्पन्न हो गये। ये इतिहास के कथा-भाग मे भी घुस गये। महाभारत तथा भागवत मे जो कथा-भेद दिखाई देता है, उसका यही कारण है। इसका यह अर्थ नही कि वर्तमान पुराणो मे प्राचीन जैसा कुछ नही है। कृष्ण और व्यास समकालीन थे, अत कृष्ण-चरित्र तो व्यास ने ही पुराणो मे डाला, इसमे सन्देह नही हो सकता। 'भविष्य-कथन'-सबधी अध्याय भी बाद मे जोडे हुए मालूम होते है। 'भविष्य-कथन' शब्द ही 'पुराण' शब्द का विरोधी है। एक ओर हमारे आधुनिक विद्वान पुराणो को ईसा की छठी शती के आस-पास ले जाते हैं तो दूसरी ओर हमारे प्राचीन पौराणिक उन्हे ठेठ नारायण, विष्णु, ब्रह्मदेव, शकर, आदि-आदि देवो तक पीछे घसीट ले जाते है।

यह सर्वविदित है कि व्यास ने अपने पुत्र शुकाचार्य को भागवत सुनाया। वही फिर शुकदेव ने परीक्षित को सुनाया। उसी को फिर सूत ने शौनक आदि ऋषियो को सुनाया। अत व्यासदेव की मूल भागवत-सहिता, जिसे 'सात्वत सहिता' भी कहते हैं, अपने मूल-रूप मे अब नही रही, यह बात सही है। परन्तु यह कहना उचित न होगा कि सारी-की-सारी भागवत किसी आधुनिक विद्वान की रचना है। अठारह पुराणो मे भागवत की गणना होती है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि महाभारत (ग्रथ) के पहले अठारहो पुराण उपलब्ध थे। अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते है कि जिस प्रकार मूल 'भारत' का अब 'महाभारत' हो गया है, उसी प्रकार मूल व्यास-सहिता को भी आज के भागवत का रूप प्राप्त हो गया।

सच पूछिए तो ११ वे स्कन्ध मे भागवत समाप्त हो जाती है। तत्वोपदेश

तथा चरित्र-कथनासंबंधी शुकदेव का कार्य इस स्कन्ध मे सम्पूर्ण हो जाता है। नीचे लिखे अतिम श्लोक ही इसका सबूत है—

इत्थहरेर्भगवतो रुचिरावतार
वीर्याणि बाल चरितानि च शेतमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्ति परा परमहस गतौ लभेत॥

—परीक्षित, जो मनुष्य इस प्रकार भक्तभयहारी निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार-सबधी रुचिर, पराक्रम और इस श्रीमद्भागवत पुराण मे तथा दूसरे पुराणो मे वर्णित परमानन्दमयी वाल-लीला किशोरलीला, आदि का सकीर्तन करता है, वह परमहस मुनीन्द्रो के अतिम प्राप्तव्य श्रीकृष्ण के चरणो मे पराभक्ति प्राप्त करता है।

फिर वारहवें स्कन्ध मे परीक्षित का यह पूछना कि श्रीकृष्ण के बाद की वश-कथा सुनाइए, अप्रासगिक मालूम होता है। यह सम्भवत बाद का जोडा हुआ प्रसग हो। अस्तु।

भागवत पर श्रीधर स्वामी की टीका है। उनका समय १,००० या १,१०० मान लिया जाय, तो भी उस समय भागवत मे अनेक पाठ-भेद हो गये थे और अनेक टीकाए उपलब्ध थी। चित्सुखाचार्य की, जो श्रीशकराचार्य के समकालीन थे, एक टीका उपलब्ध है। श्रीमत् मध्वाचार्य का कहना है कि स्वय शकराचार्य की भी एक टीका थी, परन्तु अब वह उपलब्ध नही है। इस प्रकार कोई ३१ टीकाओ का उल्लेख मिलता है, जिनमे हनूमती, चित्सुखी, तथा शकरी—ये टीकाए बहुत प्राचीन थी। पुराणो के परम विद्वान परगिटर सा० ने अपने 'Dyncsties of the Kalı age' नामक पुस्तक मे भागवत की एक पुरानी पोथी का उल्लेख किया है और कहा है कि वारहवा स्कन्ध १४०७ मे लिखा गया है।

यूरोपियन विद्वानो के मत मे शौनक का काल ईसा पूर्व ५०० है। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि ईसा पूर्व कम-से-कम ५०० वर्ष पहले भागवत विद्यमान थी और सो भी अपने मूल रूप मे। अलवत्ते सूत-शौनक-सवाद के निमित्त से उसका बृहत् सस्करण—पहला सस्करण हुआ होना चाहिए। ऐसा ख्याल किया जाता है कि मूल भागवत का एक ही सस्करण हुआ। सो भी बुद्ध-निर्वाण

बृहत् संस्करण

के १०० साल बाद, अर्थात ईसा पूर्व ४८७ के सौ सवा सौ वर्ष बाद। इस काल मे प्राय सभी पुराणो का पुन सस्कार हुआ। 'भारत' का सस्करण 'महाभारत' के नाम से हुआ। भागवत 'भारत' के बाद और 'महाभारत' के पहले की रचना है। इसका प्रमाण खुद भागवत मे ही मिलता है—

भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यने यत्र धर्मादि स्त्री-शूद्रादिभिरप्युत॥
अधापि बत मे दै ह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विधुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मचर्यस्यसत्तमः॥ १।४।२९-३०॥

भारत' की रचना करके भी व्यास-मुनि को कृतकृत्यता नही मालूम होती थी। इसलिए उन्होंने भागवत की रचना की।

भागवत की प्राचीनता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण और भी है, और वह यह कि भागवत को साख्यशास्त्र पूर्णत मान्य है। गीता महाभारत का अश है—यह अब निर्विवाद है। भारत के बाद भागवत रचा गया—यह ऊपर सिद्ध हो ही चुका है। भगवद्गीता मे साख्य और वेदान्त शब्दो का प्रयोग प्राय एक ही अर्थ मे किया गया है। भागवत मे भी साख्य के बिना वेदान्त एक कदम भी नही उठाता। बल्कि यह कहना चाहिए कि भागवत के मत मे साख्य और वेदान्त दोनो एक ही है। यह भेद आगे कही जाकर पैदा हुआ है। यदि भागवत ग्रथ कोई आधुनिक ग्रथ होता तो साख्य और वेदान्त की यह एकता—एकमतता नही दिखाई देती। अलबत्ता यह जरूर मानना होगा कि आज जो भागवत उपलब्ध है वह व्यासकृत अथवा शुकदेवकृत नही है। मूल सात्वत-सहिता को शुकाचार्य ने पुराण का रूप दिया और फिर बुद्ध-निर्वाण के पश्चात किसी महाविद्वान ने उसे वर्तमान रूप दिया होगा। फिर भी यह कहे बिना नही रहा जाता कि वर्तमान भागवत एक प्रकार का उच्चतम पुराण-काव्य है। यहा यह भी याद रखना चाहिए कि बुद्ध-निर्वाण के बाद जो सस्करण हुआ उसमे मूल शुक-सहिता के कथन अथवा ज्ञानोपदेश मे थोड़ा भी फर्क नही किया गया। भविष्य भाग तथा पुराण-श्लोक-सख्या जैसे विषय उसमे अलग से जोड दिये गए है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् **हनूमान,** चित्सुख के टीका-ग्रथ रचने के पूर्व भागवत का अन्तिम सस्करण किया गया।

साख्य और भागवत

कहते हैं कि उत्तर मे विष्णु-पुराण की रचना हुई। उसके ५०० वर्ष पश्चात नवी या दसवी सदी के बीच कावेरी की घाटी मे भागवत की रचना हुई। 'भारत की सस्कृति और कला' के लेखक राधाकमल मुकर्जी लिखते है—

"दक्षिण भारत के प्रसिद्ध ज्ञानपीठ काची मे 'श्रीमद्भागवतम्' की रचना शायद ९००-१,००० ईस्वी के दौरान हुई। सम्पूर्ण भारत के भक्ति-आन्दोलन पर इस ग्रथ का गभीर प्रभाव पडा। इसका सम्पूर्ण प्रभाव सभवत. 'भगवद्गीता' के प्रभाव से भी अधिक था। मध्ययुग मे इसे 'महाभागवत' कहा जाने लगा। इसने आळवार-परम्परा को विकसित किया तथा ईश्वर की अज्ञेय, पारलौकिक प्रकृति पर जोर दिया। ग्यारहवी शताब्दी के पहले दशक मे, जिस समय उत्तर भारत मे महमूद गजनवी अपने लूटपाट से भरे-पूरे और विनाशकारी अभियानो का प्रारम्भ कर, तथा उत्तर के सामाजिक एव आध्यात्मिक जीवन की जडें तक हिलाये दे रहा था, उसी समय दक्षिण मे सतो और रहस्यावादियो का युग समाप्त था। चिन्तको और दार्शनिको का युग आरम्भ हो रहा था। अन्तिम रहस्यवादी थे नम्मालवार, जिनके शिष्य नाथमुनि ने १,००० ईस्वी मे भजनो (प्रबन्धो) का विख्यात सग्रह किया। ये प्रबन्ध आज भी दक्षिण भारत के बडे मदिरो मे गाये जाते हैं।

"नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य उनके आध्यात्मिक पौत्र भी थे तथा रामानुज के अग्रज थे। इसी समय वैष्णवो और शैवो का ईश्वर की एकता और व्यक्तिगत देवता की उपासना-सबधी पारस्परिक अन्तर समाप्त हो गया। बौद्ध और जैन धर्मों का शीघ्रतापूर्वक पतन हो रहा था। नियम-निष्ठता तथा वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध भावना दृढ होती जा रही थी। बौद्धिक स्तर पर, 'पूर्वमीमासा' के विरुद्ध, विधि-विधान के विरुद्ध आवाजें दृढतर होती जा रही थी तथा शकराचार्य का माया-सिद्धान्त कमजोर पड रहा था।

सामान्य धारणा है कि शुगकाल मे ही ब्राह्मण-साहित्य के अधिकाश, जिसमे रामायण और महाभारत के अश, मूल पुराण और मानव-धर्मशास्त्र अथवा मनुस्मृति सम्मिलित हैं, का सृजन हुआ।

शुग-काल मे पुनरुत्थान

पुष्यमित्र ने विश्व-आधिपत्य के प्रतीक के रूप मे महान वैदिक यज्ञ का पुन: आयोजन किया और स्वय पतजलि ने सभवत याज्ञिक का कार्य किया (इह पुष्यमित्र याजयाम)। पतजलि ने

राजसूय और वाजपेय जैसे विशाल यज्ञो के साथ-साथ दैनिक पच महायज्ञो का वर्णन भी किया है और कहा है कि प्रत्येक गृहस्थ को ये यज्ञ प्रतिदिन करने चाहिए। एक और विशिष्ट बात यह है कि रुद्र को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की बात भी उन्होने लिखी है। शुगकाल मे ब्राह्मण-परम्परा-वादिता का पुनरुत्थान हुआ, इसके लक्षण है—वैदिक, धार्मिक कृत्यो और सस्कारो, पुरोहितवाद और ब्राह्मण-आधिपत्य की पुन प्रतिष्ठा, कृष्ण भागवत-धर्म का उदय जो कसवध तथा बलि-बन्ध-सबधी नाटको की लोकप्रियता से स्पष्ट है, तथा बौद्धों का दडित करना।

: ९ :

ज्ञान-मार्ग बनाम भक्ति-मार्ग

बौद्ध-मत का खण्डन करके अद्वै त-ब्रह्म-तत्व का निरूपण करनेवाले शकराचार्य की गणना जहाँ ज्ञानियो मे—ज्ञान-मार्गियो मे की जाती है, वहा विशिष्टाद्वैत के आविष्कर्ता रामानुजाचार्य की गणना भक्ति-मार्गियो के महान आचार्य के रूप मे। शकराचार्य यद्यपि ज्ञान-मार्गी-अद्वैत वेदान्ती थे, फिर भी उनेक भक्ति-परक, ललित, हार्दिक, करुणा और प्रार्थनामय कई देवी-देवताओ के स्तुति-स्तोत्र भारत मे प्रसिद्ध और सर्वत्र प्रचलित है। ज्ञान मे भक्ति का समावेश है व भक्ति से ज्ञान स्फुरित होता है। आज महाज्ञानी सन्त विनोबा तो कहते है कि भक्ति की आर्द्रता के बिना कोरा ज्ञान शुष्क है। जो हो, यहा शकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत को भी समझ लेना उचित होगा।

इसमे 'भारतीय सस्कृति और कला' (पृ० २८०) का निम्न अश खूब सहायक होगा—

"महान दार्शनिक रामानुज (१०३७-११३७) ने, जिन्होंने काची मे शकर के केवल 'अद्वैत' का सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त किया था, अपने सुविख्यात 'विशिष्टाद्वैत' के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। विशिष्टाद्वैत मे विवेक और अन्तर्ज्ञान, सर्वव्यापकता और पारलौकिकता का समन्वय है। यही कारण है कि शकर के कट्टर पारलौकिक अद्वैत की तुलना मे विशिष्टाद्वैत समकालीनो को कई अर्थो मे अधिक प्रभावित कर सका। इस सिद्धान्त

रामानुज की नैतिक निष्ठा और भक्ति

के अनुसार ब्रह्म की प्रकृति तथा ब्रह्म एव यथार्थ, आकेन्द्रित व शाश्वत जीव के पारस्परिक सबध को स्पष्टत समझना ज्ञान नही प्रत्युत ज्ञान और ज्ञान व आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान के बल पर ही सभव है। जीव ब्रह्म का एक रूप है—ब्रह्म के ही समान 'चित्'और 'अचित' दोनो है, अर्थात बधनमुक्त, अपरिवर्तनीय और सर्वोपरि भी है तथा कर्म-बन्धनो मे जकडा हुआ तथा पार्थिव वस्तुओ से सबधित भी। अपने बन्धनो और परिवर्तनशीलता से मुक्ति पाने के बाद ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो सकता है, जो उसका वास्तविक उद्देश्य है। जीव की यह मुक्ति, 'विष्णु-पुराण' के अनुसार (शकर से ठीक विपरीत रामानुज ने 'विष्णु-पुराण' का अधिक सहारा लिया है। नम्मालवार जैसे रहस्यवादियो के समान—रामानुज नम्मालवार के अनन्य भक्त थे) तीव्र आध्यात्मिक स्पृहा के पश्चात ही सभव है। भक्ति और प्रपत्ति के दुर्गम पथ पर चलनेवाली आत्मा के सहायक ईश्वर स्वय होते हैं। कारण, ईश्वर मुक्तिदायक प्रेम है और जीवन के साथ सम्मिलन के लिए लालायित है। इस प्रकार, परिसीमित एव अज्ञानी जीव ऊपर उठकर अपनी अनिवार्य अनन्तता एव सर्वज्ञता मे समाहित हो जाता है तथा मानव के प्रत्येक कार्य प्रेम, सहयोग और सेवा मे सत्य और धर्म का समावेश हो जाता है।

शकर का सिद्धान्त था कि स्थूल यथार्थ एक मायावी छल मात्र है। इसके विपरीत रामानुज के सिद्धान्तानुसार पार्थिव जगत ब्रह्म का ही परिणाम है।

शकर और रामानुज

रामानुज का यह सिद्धान्त टक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दिम और मरुचि के पहले के उपदेशो पर आधारित था। नाथमुनि और उनके पौत्र अलवन्दार ने भी, जिन्होने दक्षिण की आलवार-परम्परा मे पाचरात्र का समावेश किया, विशिष्टाद्वैत को बहुत प्रभावित किया था। विशिष्टाद्वैत वास्तव मे उत्तर भारत के पुराने भागवत-धर्म तथा दक्षिण भारतीय आलवारो के रहस्यात्मक भावोन्माद के सम्मिलन का सुफल है। इसमे वेदान्त के 'ध्यान' तथा भक्ति दोनो मिलकर एक हो जाते हैं। जीव की अन्तरात्मा का नाम है वासुदेव, और इसका रूप इस प्रकार है 'मैं तू हू और तू मैं।' शकर वेदान्त के परम पावन और निर्विकार-ईश्वर विशिष्टाद्वैत मे शासक न रहकर मुक्तिदाता हो गये हैं और उनकी कृपा कर्म से परे है। ब्रह्म धर्म और प्रेम (नारायण और श्री) ये द्वैतरूप ग्रहण करता है।

वह सौन्दर्य (भुवन सुन्दर) और शिव भी है, जो सासारिकता से परे है। वह अपने ही जीव नश्वर प्राणी (महात्मन्) के साथ सयोग करना चाहता है, और इसलिए मानवीय शरीर के भीतर प्रेम का रूप धारण कर अवतीर्ण होता है। भगवद्गीता मे लिखा है 'वे सब (धर्म का पालन करनेवाले चारो वर्ण) श्रेष्ठ हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष मैं स्वय को ही समझता हू।' भगवद्गीता की अपनी टीका मे रामानुज प्रश्न करते हैं कि इस ज्ञान की प्रकृति क्या है और उत्तर देते हैं 'मेरा जीवन ही उसपर निर्भर है। यदि पूछा जाय कि यह कैसे, तो इसका कारण यह है कि जिस प्रकार वह मेरे—अपने अन्तिम लक्ष्य के—बिना नही रह सकता, उसी प्रकार मैं उसके बिना नही रह सकता।' क्षुद्र, निराश्रय मानव अपने भक्ति और ज्ञान के बल पर ईश्वर को प्राप्त कर लेता है तथा मानवता को मुक्ति दिलाने के प्रयास मे ईश्वर का सहयोगी बन जाता है। अन्तत मानवता को शाश्वत-सामूहिक आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है। रामानुज की सेवा और प्रेम का यह मार्ग शकर के परात्परता और माया-सिद्धान्तो से अधिक सुनिश्चित है।

शाकर वेदान्त मे विश्व की दुर्बलताओ और दुर्गुणो पर समुचित ध्यान नही दिया गया है, इसीलिए उसमे नैतिकता की असमर्थता है। विश्व की दुर्बलताओ और दुर्गुणो को ऐसे ब्रह्म की आवश्यकता नही है, जो ससार और मानव का सृजन करने के पश्चात उन्हें उनके भाग्य पर छोड दे, वरन ऐसे ब्रह्म की आवश्यकता है जो आदेश दे, प्रोत्साहित करे और प्रेममय हो।

वैष्णव धर्म का प्रजातन्त्रीकरण

रामानुज ने किसी अमूर्त, शुद्ध निर्विकार और निराकार ब्रह्म के विचार पर नही बल्कि उसके असीम शिवम् और सुन्दरम् गुणो (सगुण ईश्वर) पर जोर दिया। शकर के माया-दर्शन के अनुसार, इस पापमय ससार मे ईश्वर की कृपा तथा भक्तो के प्रार्थना, आनन्द और सुख का कोई स्थान नही है, अत रामानुज ने इसका खडन किया। विशिष्टाद्वैत का नैतिक पहलू है। ईश्वर को अन्तर्यामी माना गया तथा धर्म-सिद्धान्त को, जो सृजन और विनाश की विश्वव्यापी प्रक्रियाओ के बीच भी महत्वपूर्ण है, ईश्वरेच्छा एव ईश्वरोद्देश्य का प्रतिफल माना गया। दोनों ही जीव को धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले है। भक्ति अथवा प्रपत्ति स्वय धर्मानुशासित जीवन का प्रतिफलन है, और ईश्वर की कृपा उसका शाश्वत सहारा और प्रेरणा है। धार्मिक दृष्टिकोण से, वेदान्त के शुद्ध, निराकार और निर्विकार

ईश्वर के स्थान पर ऐसे ईश्वर को मान्यता दी जिसकी 'लीला' का एक अंश है मानव का सहयोगी बनना। यह ईश्वर प्रेममय और निष्पक्षपाती अंश है। मानव उसकी स्थिति की आकांक्षा कर तथा सदैव के लिए उस तक पहुंच सकता है। विशिष्टाद्वैत का सामाजिक पहलू भी है। इसके अनुसार मानव के सभी अच्छे और आदर्श कार्यों में ईश्वर की उपस्थिति होती है, फिर चाहे कार्य करने-वाला कोई भी हो। यह धारणा असीम सामाजिक सद्भावना और सहिष्णुता को जन्म देती है, जो वर्ण और सम्प्रदाय की विभिन्न सीमाओं को तोड़कर प्रेम, सेवा और सहयोग की भावनाओं द्वारा चालित धार्मिक समाज का निर्माण करती है। अपने 'श्रीभाष्य' में रामानुज ने मानव-पूर्णता और ईश्वर-भक्ति के निम्न-लिखित सात साधन गिनाए हैं विवेक, विलोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, और अनुद्धर्ष। इस प्रकार रामानुज के वेदान्त अथवा ब्रह्मज्ञान का अर्थ है अथक प्रयास और सहयोग। विशिष्टाद्वैत नैतिक दृष्टि से ईमानदार, धार्मिक दृष्टि से स्फूर्तिमय और सामाजिक दृष्टि से समतावादी है।

रामानुज एक गम्भीर दार्शनिक मात्र न थे, वरन अत्यधिक साहसी और उदार सामाजिक दृष्टिकोणवाले आध्यात्मिक नेता भी थे। शंकर के समान उन्होंने भी उत्तर भारत की यात्रा की तथा वह बनारस, अयोध्या, द्वारका, जगन्नाथ और बदरी भी गये। बनारस और जगन्नाथ में उन्होंने बौद्ध विचारकों के साथ शास्त्रार्थ किया। श्रीरंगम वापस पहुंचकर उन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रसारार्थ सम्पूर्ण दक्षिण भारत को चौहत्तर इलाकों में विभाजित किया और प्रत्येक इलाके का दायित्व एक सामान्य आचार्य को सौंपा। चोल सम्राट के अत्याचारों के कारण उन्हें लगभग बीस वर्ष होयसल राज्य में बिताने पड़े। इस दौरान उन्होंने सिंचाई के लिए कई तालाबों, मठों, और मंदिरों का निर्माण कराया। श्रीरंगपट्टम के उत्तर में, मालीकोट (दक्षिण बदरिकाश्रम) का मंदिर भी उन्होंने ही बनवाया है। पंचमों को अधिकार दिया गया कि वर्ष में एक बार वे पूजार्थ उसमें प्रवेश कर सकते थे। किंवदन्ती है कि वे अपनी मुसलमान पत्नी के साथ-साथ रामप्रिय (कृष्ण) की एक मूर्ति दिल्ली से मालीकोट लाये थे और इसमें अछूतों ने उनकी सहायता की थी। उनकी व्यापक दृष्टि और सामाजिक न्याय-भावना को देखते हुए यह किंवदन्ती सत्य मालूम पड़ती है।

रामानुज का कार्य

उनके जीवनी-लेखको का कथन है कि वह जाति-पात से ऊपर थे और उनके शिष्य अ-ब्राह्मण, जैसे पिल्लई और उरगविल्लिदास, थे। वैष्णवधर्म सामाजिक अशान्ति फैलाये विना किसी सीमा तक दक्षिण भारत मे जनता मे फैल गया। इसके कारण थे, तमिल-प्रबन्धो का अध्ययन और प्रसार, मदिर-उत्सवो की प्रथा, अ-ब्राह्मणो को वैष्णव-धर्मावलम्बियो के जाति-चिह्नो और जीवन-पद्धति को अपनाने की आशा, तथा कम-से-कम ईश्वर के एक मदिर मे पचमो को प्रवेशाधिकार, और इन सब पर रामानुज का व्यापक प्रभाव था।

: १० :

भागवत-धर्म का मूल

भागवत-धर्म का अर्थ है—भगवा न का चलाया धर्म, या भगवा न की प्राप्ति का मार्ग-दर्शक-धर्म—भगवान के छ गुणो को प्राप्त करनेवाला। इसमे भक्त और भगवान की अन्तिम एकता या एकरूपता अभीष्ट है। वेद-उपिनषद को छोड़ दे जिनका उल्लेख पहले आ चुका है, तो भागवत-धर्म का मूल नारद-पाचरात्र मिलता है, जहा इसे 'नारायणीय' कहा गया है।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—

"नारद सामवेद के आचार्य थे, जिनके नाम से एक शिक्षा ग्रथ भी उपलब्ध होता है। यह इस बात का सकेत है कि नारद की परम्परा मे कोई वैदिक चरण या गुरु-शिष्य-परम्परा का वैदिक सम्प्रदाय विद्यमान था। नारद के नाम की प्रतिष्ठा प्राचीन बौद्ध साहित्य मे भी थी। वहा उन्हे महा-ब्रह्मा कहा गया है। प्राचीन चरण-युग मे किसी एक विद्या का जाननेवाला वेदिता, कई विद्याओ का जानकार भूयोविद्य और सब विद्याओ का पारगत सर्वविद्य कहलाता था, जिसकी उपाधि ब्रह्मा भी होती थी। नारद इसी प्रकार के सर्वविद्य आचार्य थे। पाचरात्र आचार्यो ने स्वभावत उनके उस प्रतीक से लाभ उठाया। किन्तु उन्होने नारायणीय धर्म के साथ विशेष रूप से नारद का सबध जोडने के लिए एक उपाख्यान की रचना की, जिसके अनुसार नारद पहले बदरिकाश्रम मे जाते है और फिर वहा से श्वेतद्वीप मे जाकर नारायणीय-धर्म की दीक्षा प्राप्त करते हैं। शान्ति-

पर्व के नारायणीय धर्म-प्रकरण में इसका विस्तार से उल्लेख है। स्वयं नारायण ने, जो सात्वत-धर्म के गोप्ता हैं, इस धर्म का उपदेश दिया था। नर-नारायण की महिमा का उपबृंहण सात्वत-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता थी।

सर्वदेशीय युग यवनों पर प्रभाव

आगे चलकर, इसकाल में, तक्षशिला, मथुरा, विदिशा और बाम्बरा सर्व-देशीय नगर थे। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में तक्षशिला के एक यवन हेलियो-डोरस ने वासुदेव के सम्मान में, विदिशा के समीप बेसनगर (भिलसा) में स्तम्भ का निर्माण कराया। वह महाराजा अन्तलिकित (अन्तियल्क निकाल) के दूत के रूप में राजन काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आया था और स्वयं भागवत बन गया था। ब्राह्मी लिपि में अंकित है कि 'तीन अमर साधनों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। ये साधन हैं—दम (आत्मसंयम) त्याग और अप्रमाद।' इन्हीं साधनों का इसी क्रम से वर्णन भगवद्गीता और महाभारत (११, ७, २३) में है। इसी प्रकार मथुरा के समीप, मोरा में प्राप्त पहली शताब्दी ईस्वी के एक अभिलेख से हमें पता चलता है कि एक विदेशी महिला, तोष ने 'पंचवीरों' (संकर्षणक, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध) की मूर्तियों की स्थापना की थी।

द्रष्टव्य है कि कृष्ण-वासुदेव की भक्ति का इतना अधिक प्रचार हुआ कि पहली और दूसरी शताब्दियों में, मथुरा में, जो उन समय शक-मडलेश्वरों के अधीन था, उनकी सर्वप्रिय मूर्तियां बनीं। खड़े हुए कृष्ण-वासुदेव और बुद्ध दोनों की मूर्तियों का निर्माण उस काल में हुआ था। इस प्रकार, हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म दोनों की छत्रछाया में नये भागवत-धर्म को व्यक्त करने की तत्कालीन आवश्यकता भी पूरी हो सकी। मोरा में प्राप्त (पहली शताब्दी ईस्वी) पांच वृष्णि-योद्धाओं की मूर्तियों के अतिरिक्त उसी युग की संकर्षण की प्रथम प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जिसके सिर पर सर्प की छाया है। यह मूर्ति अब मथुरा-संग्रहालय में है। मथुरा का संबंध उत्तर-पश्चिम में कापिश और तक्षशिला तथा समुद्रतटीय बारबरा और बैरी-गाजा के साथ था। और इन्हीं नगरों से विदेशी यूनानी और शक प्रभाव सीधे गंगा की घाटी में पहुंचा। यह प्रभाव हगान, हगामष, राजुवुल, सोडास तथा उनके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में, पिछली सहस्राब्दी के अन्तिम वर्षों से लेकर दूसरी शताब्दी ईस्वी तक विशेष रूप से पहुंचा। वासुदेव कृष्ण

की सर्वप्रथम मूर्तियो के निर्माण तथा रूढिवादी ब्राह्मण-समाज मे मूर्ति-पूजा की लोकप्रियता का कारण उतना अधिक यूनानी कला का प्रभाव नही था, जितना स्वयं को भागवत अथवा पाचरात्र कहनेवाले विदेशियो की ओजस्वी भक्ति का उत्साह।

शैव और वैष्णव

शुगकाल मे केवल भागवत-धर्म ही नही वरव माहेश्वर और पाशुपत सम्प्रदायो का भी भारत मे दूर-दूर तक प्रसार हुआ। और यह तो स्वाभाविक था ही कि विदेशी लोग साधुओ और श्रमणो के आध्यात्मिक चिन्तन और धार्मिक विवेकवाद की अपेक्षा भागवत-धर्म (फिर चाहे वह बौद्ध, वैष्णव अथवा शैव जो भी हो) को भली प्रकार समझ और स्वीकार कर सकते थे। शक और पल्लव शासको माउस और गोडोफर्नीज के तथा उज्जैन के सिक्को से स्पष्ट है कि शिव के प्रति विदेशियो मे कितनी श्रद्धा थी। मथुरा के आस-पास शिवलिंग प्राप्त हुए है, जिन्हे शकयुग का बताया जाता है।

शुग-पुनरुत्थान मे शिव की पूजा पर जोर दिया गया था और उसके आधार आध्यात्मिक व भक्ति-सबधी दोनो थे। यह विदेशियो की विजय और आर्यावर्त के मध्यभाग मे आक्रमणो के विरुद्ध एक शक्तिशाली विरोध था, और इसी कारण ब्राह्मण-समाज और सस्कृति का चतुर्मुखी पुनर्विकास भी था। इस युग के विशिष्ट भक्ति-आन्दोलनो ने, जिनका केन्द्र था रुद्र अथवा वासुदेव की पूजा, भारत और विदेश को पास ला दिया। इसी युग मे महाभारत और गीता मे एक विस्तृत आधार पर आचार-सहिता का निर्माण हुआ जिसके बल पर सामाजिक और धार्मिक सम्मिलन मे अधिक आसानी हुई। 'गुप्तवश के स्वर्णयुग' का आभास करानेवाले इस युग मे धार्मिक, कलात्मक और साहित्यिक क्रियाशीलता मे सहसा वृद्धि हुई और इस प्रकार एक सद्भावना-पूर्ण सामाजिक वातावरण उत्पन्न हुआ जो विदेशियो को अपने मे सम्मिलित करने के लिए आवश्यक था।

: ११ :

भागवतो की उपलब्धियां

भक्तिमार्गी 'भागवत' और 'वैष्णव' दो श्रेणी मे बट जाते है। विष्णु को प्रधान माननेवाले 'वैष्णव' और वासुदेव कृष्ण को प्रधान माननेवाले 'भागवत'

कहे जाते हैं। यहा हमने समस्त भक्ति-मार्गियो के लिए 'भागवत' और 'वैष्णव' शब्द का उपयोग समान अर्थ मे किया है।

भक्ति के क्षेत्र मे भागवतो की कई उपलब्धिया हैं—जिनमे वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार मुख्य-मुख्य ये हैं—

नव-साहित्य-निर्माण

भागवतो ने नव-साहित्य के निर्माण मे प्रमुख भाग लिया। वे उपाख्यानो की शैली मे निष्णात थे। जिस प्रकार बौद्ध साहित्य मे अनेक अवदानो की रचना हुई वैसे ही भागवतो ने अनेक नए उपाख्यान रचे। गुप्तयुग मे बौद्धो का विपुल धार्मिक साहित्य प्राप्त होता है। उसीके समकक्ष ब्राह्मणो की रचना तत्कालीन पुराण-साहित्य है। दोनो के तुलनात्मक अध्ययन मे शैली, विषय और लक्ष्य का साम्य या भेद जाना जा सकेगा।

नारी की प्रतिष्ठा

पुराण-साहित्य की जिस दूसरी विशेषता की छाप अनायास मन पर पडती है वह स्त्री-जाति के प्रति नई आस्था और नई निष्ठा का भाव था। यह ठीक भी हुआ, क्योकि जिस गृहस्थ-धर्म को भागवतो ने इतनी श्रद्धा से अपनाया था उसका अविचल केन्द्र नारी थी। विशेषत मार्कण्डेय पुराण मे तो कई कथानक ऐसे है जो स्त्री-महिमा स्थापित करने के लिए ही रचे गए हैं। इनमे ऋतध्वज की पत्नी मदालसा का उपाख्यान (अध्याय २०-३५) उस युग की नारी भावनाओ का प्रतिनिधि है। पुराण-लेखक ने मदालसा को उस युग की पुरन्ध्रि नारियो का प्रतीक मानकर उसके द्वारा गृहस्थ-धर्म, आचार-धर्म और राजतत्र की भी व्याख्या कराई है।

विराट वैष्णव आन्दोलन

सब देवो और धर्मो के श्लाघायुक्त समन्वय का श्रेय पाचरात्र भागवतो के महान आन्दोलन को था। पाचरात्र, एकायन या एकान्तिन्, नारायणीय, सात्वत, भागवत आदि नामो से एक ही विराट वैष्णव-आन्दोलन लोक मे फैल रहा था। चन्द्रगुप्त आदि गुप्त सम्राटो ने परम-भागवत विरुद धारण किया। वासुदेव-विष्णु के रूप मे सर्वदेवो का समन्वय भागवती दृष्टि की विशेषता थी। विष्णु ही सब देवो मे प्रभविष्णु, अप्रेमय, शाश्वत और अव्यय पुरुष के रूप मे मान्य हुए। भागवतो ने किसी देव का निराकरण नही किया। लोक के नाना

स्तरो पर देवो के ठट्ठ पूजे जा रहे थे। उन सबको देवाधिदेव विष्णु की दिव्य विभूतिया मान लिया गया। इस पुराण के आरम्भ मे ही चतुर्व्यूहात्मक विष्णु को वरिष्ठ, गरिष्ठ, वरेण्य और अमृतदेव कहा गया है, जो गुणातीत होते हुए भी त्रिगुणात्मक रूप मे भासित हो रहा है।[1] वैष्णव भागवतो ने उन्मुक्त हृदय से अहिंसा धर्म को भी स्वीकार किया—

अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वर॰।

(शांतिपर्व ३३६।५२)

एकायन धर्म के अनुयायी एकान्तिन भागवतो को अहिंसक कहा गया है (शाति पर्व ३३६।५८)। भागवत मे पृथु के अहिंसक यज्ञ का उल्लेख है और कहा है कि विष्णु ने अपने एक अवतार मे अपने वादो से (अर्थात अहिंसा के तर्को से) यज्ञ करनेवालो मे खलबली मचा दी थी। (वादैर्विमोहयति यज्ञकृत। भा० ११।४।२२) अपने घर मे भी जो लोग वेदो के अक्षर का आग्रह पकडकर हिंसा के पोषक थे, उनसे भागवतो ने जमकर लोहा लिया। भागवतो ने उन्हे मोह मे पडे हुए आम्नायवादी कहा है जो ठीक प्रकार कर्मकाण्ड भी नही जानते, जो अपनी ठसक मे पाण्डित्य का अभिमान करते हैं और विष्णु के भक्तो पर अपने दम्भ के कारण हँसते हैं (भागवत ११।५।५-७)।

भागवत और अहिंसा

भागवतो ने वैदिक कर्मकाण्ड और गृहस्थोचित स्मार्त कर्मकाण्ड का भी समन्वय किया। सब यज्ञो को भगवान विष्णु का स्वरूप कहा गया—विष्णुस्वरूपमखिलमिष्टमयम्। १०।३।१०)। नीतिप्रधान जीवन एव सद्व्रत और सदाचार पर उनका अत्यन्त आग्रह था। कितने ही पुराणो मे इस विषय के प्रकरण जोडे गए। योग-साधन और योगियो की चर्या को भी श्लाघनीय आदर्श के रूप मे भागवत-धर्म मे स्वीकार किया गया है। भक्ति-धर्म को जीवन के सबल तत्व के रूप मे स्वीकार करते हुए भगवान विष्णु

वैदिक और स्मार्त कर्मकाण्ड का समन्वय

---

१. चतुर्व्यूहात्मने तस्मै त्रिगुणायागुणाय च।
वरिष्ठाय गरिष्ठाय वरेण्यायामृताय च॥

—मा० पुराण, ४।३७

के प्रति प्रपत्ति-धर्म का उपदेश दृष्टिकोण की विशेषता थी। भक्ति-धर्म के साथ एक ओर मदिर-निर्माण और देवमूर्तियो के पूजन की क्रिया को आगम या सहिता ग्रथो मे विस्तार से पल्लवित किया गया, दूसरी ओर विचार के क्षेत्र मे साख्य और वेदान्त के साथ भक्तिधर्म का स्पृहणीय समन्वय हुआ। वाण ने भागवत, पाचरात्रिक, मीमासक धर्मशास्त्री, नैयायिक (ऐश्वर्यकारणिक) काणद, कापिल आदि आस्तिक दार्शनिको की सूची मे औपनिषदो का उल्लेख किया है। वेदान्त के साथ मिलकर भक्ति का आन्दोलन अत्यन्त प्रबल और आकर्षणयुक्त बन गया, जिसकी गहरी छाप उस युग के पुराण साहित्य मे पाई जाती है।

पाचरात्रिक भागवतो ने अपने व्यापक आन्दोलन की सफलता के लिए वैसा ही विशाल साहित्य भी तैयार किया। उस युग मे कितनी ही वैष्णव सहिताए, जिन्हे पाचरात्रिक आगम भी कहते हैं, तैयार की गई।

वैष्णव सहिताओ का निर्माण

अहिर्बुध्न्य सहिता उसी प्रकार का गुप्तकालीन पचरात्रो का आगम ग्रथ है। इन्हें उस युग मे तत्र भी कहते थे। मदिरो मे अर्चा-पूजा के लिए सहिता, आगम या तत्रो मे पूरे विधि-विधान का उल्लेख आया है। आगमप्रोक्त अर्चा-पूजन ही भागवतो का क्रियायोग था, जिनके द्वारा वे केशव की औपचारिक पूजा करते थे।[1]

भागवत-धर्म के नेता जिस समन्वयवाद को लेकर चले थे उसीकी प्रेरणा के अनुरूप उन्होंने पूर्व और नूतन दोनो को मिलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। वे सामाजिक गतिरोध के विरोधी थे, किन्तु भूतकाल के साथ सहसा तिनका-तोड भी करना सभव न था।

निगम और आगम दोनो को अपनाया

वे प्रगतिशील दृष्टिकोण को आगे रखते हुए पुरातन और नूतन दोनो के प्रति उदार भावना व्यक्त करते थे। वेद और तत्र या आगम दोनो को साथ लेकर उन्होने अपने धर्म का विकास किया—यजन्ति वेदतत्राभ्या परम जिज्ञासवो नृप। (भाग० ११-५-२८)। इस

---

१ विधिनोपचरेद्देव तन्त्रोक्तेन च केशव॥
लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सदर्शितागम।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मन.॥ (श्रीमद भाग० ११-३-४७-४९)

दृष्टि से भागवतो ने सबसे अधिक परिश्रम पुराण-साहित्य के पुन सस्करण मे किया। इतिहास और पुराण का अस्तित्व प्राचीन उत्तर वैदिक काल से था। इस साहित्य को पचमवेद ही कहा जाता था। महाभारत की भी उसीमे गणना थी। भागवतो को यह साहित्य उत्तराधिकार मे मिला था। उन्होने वडी युक्ति से उसे नए युग का समर्थ सावन वना दिया। उनका जितना नया दृष्टिकोण था, उसे कूट-कूटकर पुराणो मे भर दिया। पुराणो की पहली सामग्री का पुन सस्कार किया गया और कितने ही नए पुराणो की रचना हुई। प्रस्तुत मार्कण्डेय पुराण ऐसी ही अभिनव कृति थी। भागवत मे मत्स्यपुराण को 'दिव्य पुराण सहिता' का विशेषण देते हुए कहा है कि एक ओर उसमे प्राचीन साख्ययोग दर्शन की सामग्री थी, दूसरी ओर उस प्राचीन अध्यात्म ज्ञान के साथ नई आगमोक्त या तत्रोक्त क्रिया या चर्या का भी सनिवेश था। यही क्रिया देवालय और मूर्तियो एव दान, व्रत, पूजा आदि से सबधित सामग्री के रूप मे पुराणो का अग बन गई।[1]

भागवतो ने नरक और स्वर्ग की आध्यात्मिक व्याख्या की। नरक और स्वर्ग का निवास मानव के मन मे ही है। यह ससार गुण-दोषो से भरा हुआ है।

नरक और स्वर्ग की आध्यात्मिक व्याख्या

गुण स्वर्ग और दोष नरक के रूप हैं। मानव की चित्त-वृत्तियो मे ही स्वर्ग और नरक विद्यमान है। न गुणो को वाहर से लाना पडता है, न दोषो को। चित्त की भूमि मे ही सुख और दु ख की वृत्तिया जन्म लेती हैं। दु ख की वृत्तिया क्लिष्ट या क्लेश से भरी हुई होती हैं, सुख की अक्लिष्ट अर्थात अनुकूल अनुभवो से युक्त होती है। सुख और दु ख स्वर्ग और नरक मानव के शुभ-अशुभ कर्मों के फल हैं। कर्म-फल के भोगो से भागकर नही वचा जा सकता। घर मे या वन मे जहा भी मानव है चित्त उसके साथ है। चित्त के प्रक्षालन से ही वृत्तियो को निर्मल बनाया जाता है। स्वर्ग और नरक की भूमिकाए मानव के मन मे ही है। चित्त की वृत्तिया जब अन्तर्मुखी होती है उस स्थिति का

---

१. इत्युक्तवन्त नृपति भगवानादिपूरुषः।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरस्तत्त्ववाब्रवीत्।
पुराणसंहितां दिव्या साख्ययोग क्रियावतीम्॥
(श्रीमद भागवत, ८-२४-५४-५५)

धर्म और साख्य दर्शन इन दोनो का ग्रथिबधन भागवत परम्परा मे सिद्ध हुआ। साख्य के साथ योगधर्म का सबध अति प्राचीन काल मे ही हो गया था जैसा शाति-पर्व मे कहा है—

नास्ति साख्यसमं ज्ञान नास्ति योगसम बलम्।
तावुभावेकचर्यो तु उभावनिधनौ स्मृतौ॥

(शाति ३०४।२)

अर्थात स।ख्यज्ञान और योग-बल दोनो की चर्या एक है। दोनो ही अनिधन या मृत्यु-रहित अमृत-पद के प्राप्त करानेवाले हैं। मार्कण्डेय और सतत्सुजात दोनो इसी परम्परा के आचार्य थे। मार्कण्डेय को यतिधर्मों का आचार्य कहा गया है।[1] और सनत्कुमार उस अध्यात्म ज्ञान के उपदेष्टा थे, जिसमे यह माना जाता था कि मृत्यु है ही नही, अमृत ही एकमात्र सत्य है।[2]

इससे आगे भागवतो के प्रवृत्ति लक्षण धर्म मे आचार-पद्धति और जीवन का व्यावहारिक दृष्टिकोण क्या था, इसका विवेचन अलर्क और मदालसा के महान

भक्ति और मुक्ति दोनो

सवाद के रूप मे आया है। (अ० २७-३६)। मदालसा अपने पुत्र को प्रजारजन पर आश्रित राजतत्र, वर्णाश्रम धर्म, ग्राहस्थ-धर्म, नित्य और नैमित्तिक कर्म--श्राद्ध, देवता-पूजन, आचार-परिपालन और वर्ज्यावर्ज्य पदार्थों के विषय मे लम्बा उपदेश देती है। यह धर्म, अर्थ और कर्मरूपी त्रिवर्म को जीवम मे सिद्ध करने के आदर्श का लोकोपयोगी पक्ष था। भागवत-धर्म का हिरण्मय देवरथ प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण धर्मो के दो पहियो से गतिशील होता था। इससे ही उन्होने भुक्ति और मुक्ति के द्विविध आदर्शो का समन्वय प्राप्त किया था। मदालसा और अलर्क के इस सवाद मे भी वे दोनो पक्ष विद्यमान हैं। धर्म, अर्थ काम या त्रिवर्ग-सबधी व्याख्या चुनकर, उसका प्रतिपालन करने के बाद राजर्षि अलर्क ने सन्यास लेकर महाभाग दत्तात्रेय से अध्यात्मयोग की दीक्षा ली। इस प्रकार भागवत-धर्म के

---

१. मार्कण्डेय मुखात्कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान्। (शांति ३८।१३)

२ सनत्सुजात यदीदं शृणोमि मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदेशम्।
(उद्योग ४२।८)

मनीषी नेताओ ने निवृत्ति-प्रधान दृष्टिकोण का सूक्ष्म विवेचन करते हुए सान्ख्य-जीवन का वेदान्त के साथ समन्वय किया।

: १२ :

भागवत तथा अन्य वाद

भक्ति, उपासना, प्रार्थना की कोई-न-कोई पद्धति हर धर्म मे पाई जाती है। भारतीय भक्तिमार्ग मे शिव, कृष्ण (जिनमे विष्णु का समावेश होता है) और बुद्ध तथा जिन उपासना का समावेश होता है। यहा शिव, कृष्ण तथा बुद्ध भागवतवाद के उदय का वर्णन किया जाता है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी लिखते है—

ईसाई सन् के आरम्भ से तत्काल पहले की शताब्दियो के दौरान भारत के धर्मो मे गभीर रूपान्तर हुआ। सभी धर्मो मे भक्ति की प्रवृत्ति जागने लगी।

शिव, कृष्ण और बुद्ध-भागवतवाद का उदय

चार दिक्पालो-यक्षो के अतिरिक्त, वासुदेव और बुद्ध को भागवत कहा जाने लगा। पाणिनि ने चार महान दिक्पालो, महाराजो, के प्रति भक्ति का जिक्र किया है। भक्ति की यही प्रवृत्ति 'मज्झिमनिकाय' मे भी मौजूद है। 'मेरे प्रति जिसमे श्रद्धा और प्रेम है, वह स्वर्ग प्राप्त करने मे समर्थ होगा' भारतहुत (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व) मे अभिलेख है, 'भगवतो एक-मुनिनो बोधो' तथा पिपरावा के वर्तन पर अकित है, 'बुधस भगवते'। भागवत-वाद का उदय वास्तव मे आजीविक, जैन और बौद्ध धर्मो की प्रमुख विशेषताओ आत्मत्याग और सन्यास के विरोध मे हुआ। इसमे परिवार और समाज के प्रति दायित्वो पर जोर दिया गया तथा धार्मिक बौद्धिकता व शुष्क नैतिक विचारो से अधिक महत्वपूर्ण किसी विशेष देवता की पूजा व आध्यात्मिक आनन्द को माना गया। कौटिल्य ने वैदिक ढग से उसकी व्याख्या की और जीवन की वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुन प्रतिष्ठा का प्रयास किया, किन्तु मठवाद पर अशोक ने अधिक जोर दिया। अशोक का यह कार्य उदार एव पक्षपात-रहित था, किन्तु कुल मिलाकर इससे धार्मिक कृत्यो और सस्कारो तथा ब्राह्मण-सगठन का महत्व कम तो अवश्य हुआ।

शिव और कृष्ण भागवत धर्मों को भारत की उच्च जातियो की अपेक्षा विदेशियो तथा नीची जातियो ने अधिक स्वीकार किया, और विदेशियो तथा नीची जातियो दोनो ने प्रत्येक व्यक्ति को पूजा, योगाभ्यास अथवा सन्यास का अधिकार प्रदान कर वर्णाश्रम-धर्म के प्रतिकूल कार्य किया। परम्परावादियो ने तत्काल भागवत-धर्म का विरोध किया। प्रारम्भिक विरोध अत्रि के इन शब्दो मे स्पष्ट है: 'वैदिक साहित्य को न जाननेवाले ब्राह्मण-शास्त्रो (व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि) का अध्ययन करते है, शास्त्रो को न जाननेवाले व्यक्ति पुराणो को पढते है और उनका पाठ करके जीविकोपार्जन करते है, पुराणो के न जाननेवाले कृषक बन जाते हैं, और जो कृषक भी नही बन पाते, भागवत बन जाते हैं।' यह उक्ति कुछ विचित्र मालूम पडती है, क्योकि वासुदेव और अर्जुन की पूजा तो पाणिनि के समय से प्रचलित थी। हा, इतना अवश्य है कि महाभारत काल मे अनेक कौरव-चारण वासुदेव-कृष्ण को 'वात्य' कहकर निन्दनीय समझते थे। आभीरो ने एक साथ भागवत-धर्म स्वीकार कर लिया। (महाभारत, भीष्मपर्व, ११-२८) मे लिखा है कि शक अपना धर्म-परिवर्तन करके शैव हो गये थे। शायद पहली शताब्दी ईसा पूर्व और पहली शताब्दी ईस्वी के बीच रचित 'मृच्छकटिक' मे शिव और कार्तिकेय, गृह-देवताओ और भगवती मा को प्रतिदिन भेटे चढाई जाती थी। उत्तर-वैदिक कालीन हिन्दू धर्म के सामान्य देवी-देवताओ ब्रह्मा, विष्णु, हर, सूर्य और चन्द्रमा तथा शुम्भ-निशुम्भ का वध करनेवाली देवी—का उल्लेख है।

: १३ :

भागवतों द्वारा सुधार

यद्यपि भक्ति उपासना के सकेत ठेठ ऋग्वेद मे मिलते है, फिर भी लोक परम्परा कहती है कि भक्ति का उद्भव द्रविड देश मे हुआ। रामानन्द ने उसका प्रवेश उत्तर भारत मे कराया तथा कबीर ने उसका प्रसार ससार के सातो महाद्वीपो और नौ विभागो मे किया। हिन्दू धर्म के इतिहास मे पहली बार किसी ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना हुई, जिसके द्वार द्विजो के अतिरिक्त निम्नतम जातियो तथा स्त्रियो

के लिए भी खुले थे। शकर, रामानुज, निंबार्क और मध्व ने अपने प्रवचन सस्कृत मे दिये। रामानन्द और उनके शिष्यो ने अपने उत्तर भारत भ्रमण के दौरान प्रादेशिक भाषाओ मे उपदेश दिये। रामानन्द के धर्म-प्रचारक अनेक जातियो के थे, यह तथ्य महत्वपूर्ण है। चमार रविदास, मुसलमान जुलाहा कबीर, नाई राजपूत पीपा, तथा जाट किसान धन्ना के अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण भी थे, जो पहले रामानुज के अनुयायी थे और रामानन्द के साथ ही उस पथ से अलग हो गये थे। उनके प्रथम धर्म-प्रचारक दल मे शायद एक कसाई सदना, जो शालिग्राम की वटिया (विष्णु का प्रतीक) से मास तोलता था, चमार रैदास तथा दो स्त्रिया पद्मावती सुरसुरी और सुरसुरानन्द की पत्नी भी थे। ये थे रामानन्द के सर्वप्रथम बारह-तेरह शिष्य। इनके अतिरिक्त उनके अन्य अनेक शिष्य थे, जो अधिकाशत नीची जातियो के थे। गगा नाम की एक वेश्या भी उनकी शिष्या थी। रामानन्द ने दो स्त्रियो को अपना धर्म-प्रचारक नियुक्त करके स्त्रियो को महत्वपूर्ण दरजा प्रदान किया। सामाजिक दृष्टि से यह काम अत्यन्त विशिष्ट था।

ब्राह्मण पुनरुत्थान की दृष्टि से गुप्त काल बहुत महत्वपूर्ण है। 'डॉ० राधाकमल मुकर्जी लिखते है—"इस युग की विशेषताए थी अस्वीकृति के स्थान पर परिपाक, सघर्ष के स्थान पर समन्वय। गुप्तवश के सम्राट स्वय को 'भागवत' अर्थात भगवान वासुदेव के पूजक कहते थे। वे नव-ब्राह्मण पुनरुत्थान के अगुआ थे, किन्तु उन्होने बौद्धधर्म के प्रचार मे भी योग दिया। ब्राह्मण विष्णु-स्थानो, देवकुलो और देव-सभाओ की भाति बौद्ध तथा जैन-विहारो को भी उनका आश्रय और सरक्षण मिला। ह्वेनसाङ् के अनुसार, नालन्दा का बौद्धमठ गुप्त-सम्राट शक्रादित्य ने बनवाया था। कुछ इतिहासकारो का कथन है कि शक्रादित्य वास्तव मे चन्द्रगुप्त द्वितीय (देवराज) का ही दूसरा नाम है। पश्चिम मे वलभी-स्थित दुद्द के प्रसिद्ध मठ को बनवाने का श्रेय शिव-पूजक मैत्रकवशियो को है। नालन्दा की इमारतें छ मजिलो की थी और छ राजाओ ने उन्हे बनवाया था। उनमे दस हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन कर सकते थे। वहा के १५१० शिक्षक प्रतिदिन सौ विभिन्न प्रवचन रोज देते थे । तीन वेदो एव अथर्ववेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या (व्याकरण और दर्शन) चिकित्साविद्या, साख्य, न्याय और योग-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त कानून, दर्शन, ज्योतिष और पाणिनिकृत व्याकरण का अध्यापन

नव-ब्राह्मण-पुनरुत्थान

होता था। नालन्दा मे ह्वेनसाङ् ने बौद्धग्रथो के सभी सग्रहो तथा ब्राह्मणो के पवित्र ग्रथो का अध्ययन किया था। इस विश्वविद्यालय मे एक प्रथा थी कि विभिन्न शिक्षक विभिन्न एव परस्पर विरोधी विचार-प्रणालियो की शिक्षा दिया करते थे। इससे विद्यार्थियो के मस्तिष्क मे शकाए उठती थी और वे विरोधी तर्क प्रस्तुत करते थे। गुप्तवश के एक उत्तरकालीन सम्राट वैन्यगुप्त ने महायान बौद्ध-बिहार वैवर्तिक सघ को दान दिया था। गुप्त और गुप्तोत्तर काल मे यान के अन्य केन्द्र अयोध्या, कान्यकुब्ज, विदर्भ, उदयन, वलभी, पुण्डवर्धन, उड़ और काचीपुर थे। विभिन्न दर्शन-प्रणालियो के उद्भव और विकास तथा स्थानीय शासको के सरक्षण के अनुसार प्रत्येक केन्द्र का अपना उत्कर्षकाल था। दर्शन, साहित्य, कला तथा विज्ञान के क्षेत्रो मे पूरी आजादी से विभिन्न प्रणालियो, और यवनो तथा अन्य विदेशियों से प्रभाव ग्रहण किये जाते थे।

साहित्यिक सरक्षण और प्रशासन मे ब्राह्मणो, बौद्धो, निर्ग्रंथो, शैवो और वैष्णवों विशुद्ध एव मिश्रित वर्णों यहा तक कि भारतीयो और विदेशियो के बीच अन्तर नही समझा जाता था।

अस्थायी सामाजिक और बौद्धिक परिस्थिति के प्रति ब्राह्मण रूढिवादिता की प्रतिक्रिया अनेक स्पष्ट रूपो मे हुई। लगभग २००-१०० ईसापूर्व तक 'महाभारत' (विस्तृत आकार मे) तथा 'मानवधर्म शास्त्र' ने परस्परागत समाज के समक्ष वैदिक जीवन-प्रणाली को प्रस्तुत किया। किन्तु दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ब्राह्मण सिद्धान्तो का सुसगठन गुप्तकाल मे ही सभव हो सका। गुप्तकाल मे विदेशियो का भारतीयकरण तो अवश्य हो गया था, किन्तु वे हिन्दूधर्म के विभिन्न पाखडी सम्प्रदायो को अपनाने लगे थे। इसके अतिरिक्त ईस्वी सन् के प्रारभ मे महायान के उदय के फलस्वरूप बौद्धधर्म मे भक्ति की बाढ आ गई और समाज की स्थिति बदलने लगी। इन दोनो स्थितियो ने ही सामाजिक शिथिलता व पथभ्रष्टता के नये खतरे को जन्म दिया। इस खतरे का सामना करने के लिए ही ब्राह्मण सिद्धान्तो का सुसगठन अनिवार्य हो गया। सर्वप्रथम तो ब्राह्मण-धर्म की प्रतिक्रिया साहित्यिक क्षेत्र मे व्यक्त हुई। स्मृतियो मे सशोधन हुए और महाभारत तथा प्रमुख पुराणो के नवीन सस्करणो मे ब्राह्मण-धर्म के सामाजिक और नैतिक आदर्शो की व्याख्या हुई। इनसे एक महान उद्देश्य

नव-ब्राह्मण-पुनरुत्थान की प्रकृति

की पूर्ति हुई कि भारतीय जीवन में लगातार प्रवेश पाते रहे यवनों और अन्य म्लेच्छों के विरोधों और बर्बर आक्रमणों के आघात के विरुद्ध हिन्दू कानून, आचार और संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा हुई। गुप्तकाल से पहले ही यवन, शक, सासानी, कुषाण आभीर, गर्द-भिल्ल, मालव आदि विदेशियों और म्लेच्छों ने गुजरात, काठियावाड़ मालवा, महाराष्ट्र और पंजाब में छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे।

हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थों में आदर्श और कलियुग (अर्थात् सामाजिक ह्रास का युग) का सिद्धान्त विकसित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार उच्चतम भी यदि अपने कर्तव्य को निभा नहीं पाते थे तो उन्हें पदच्युत किया जाता था, और यहाँतक कि स्वीकार भी रद्द किया जाता था—सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार अनिवार्यता रही थी। महाभारत में इस बात का जिक्र है, और भग-वद्गीता तथा पुराणों में तो यह मनोहारी आशा जगाने का यत्न भी किया गया है कि भागवतों के स्वामी कृष्ण-वासुदेव का अवतार भविष्य में भी होगा। कहा गया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होगी, तब-तब कृष्ण-वासुदेव धर्मात्माओं के संरक्षण और पापियों के विनाश के लिए अवतरित होंगे। इस ईश्वरीय भविष्य-वाणी ने, कि धर्ममूलक समाज की स्थापना अवश्य होगी, प्राचीन मूल्यों और आदर्शों ने उसे बचाये रखा। महाकाव्यों, पुराणों और धर्मशास्त्रों ने उन आधारभूत आध्या-त्मिक सिद्धान्तों और नैतिक मूल्यों की व्याख्या और स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है, जो ब्राह्मण संस्कृति के सभी मतों और दार्शनिक सम्प्रदायों को मान्य थे। वास्तव में वृहत्काय महाकाव्य और पौराणिक साहित्य तथा प्राचीन नन्दन-काव्यों में भार-तीयों की सम्पूर्ण सामाजिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तथा जीवन-प्रणाली का जैसा विशद और यथार्थ चित्रण हुआ है वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। संस्कृत का पुनरुद्धार शुंगकाल में ही प्रारंभ हो गया था, गुप्तकाल में तो वह एक तरह से प्राकृत के स्थान पर लोकभाषा ही बन गई। गुप्तकाल के महान सम्पादकों और विद्वानों ने महाभारत और भागवत, स्कन्द, शिव, मत्स्य और वायु पुराणों की विषय-वस्तु को घटाया उसमें कुछ और जोड़ा तथा उसका परिवर्धन किया। अपने इस कार्य से उन्होंने इन ग्रंथों को विस्मृत होने से बचा लिया और साथ ही बौद्धधर्म से ब्राह्मणधर्म की रक्षा करने के लिए पहला कदम बढ़ाया, जो किसी-न-किसी को बढ़ाना ही चाहिए था। शूद्रों और स्त्रियों की शिक्षा के विशेष उद्देश्य को लेकर महाकाव्यों तथा प्रमुख पुराणों को एक ऊंचे स्तर तक विकसित किया गया।

धार्मिक आन्दोलन ने शैक्षिक और राष्ट्रवादी दोनो रुख अपनाये। प्रारभिक पाचरात्र वैष्णवधर्म, शैवधर्म, शाक्तधर्म और अन्य धर्मो की समतावादी प्रवृत्तियो के अतिरिक्त पुरातनवादी ब्राह्मण, शिक्षक और उपदेशक जन-साधारण के बीच जाते थे और अपना दृष्टिकोण सा मने रखते थे।

इस्लाम पर भागवत-धर्म का प्रभाव

कबीर, दादू और नानक के उपदेशो मे एक ओर तो इस्लाम की आस्तिकता की कट्टरता और व्यक्तित्वहीनता का खण्डन और दूसरी ओर हिन्दू पुरोहितवाद, बहुदेववाद व जातिप्रथा का दृढ विरोध स्पष्ट परिलक्षित है। इससे दोनो धर्मानुयायियो के अन्त मिश्रण को प्रोत्साहन मिला। इतना ही महत्वपूर्ण यह तथ्य भी है कि कबीर और नानक दोनो का सीधा सम्पर्क गोरखनाथ-परम्परा के साथ हुआ तथा उन्होने सूफी-आन्दोलन के विशुद्ध रसामृत का भी पान किया। यहा हमे हिन्दूधर्म की प्राचीन अनिवार्य प्रवृत्ति के दर्शन होते है। यह प्रवृत्ति सहिष्णु व उदार है तथा धार्मिक समुदाय के असीम विस्तार के लिए उत्सुक है। निश्चय ही यह प्रवृत्ति विदेशी विजेता और उसके धर्म-परिवर्तन-कार्य के समक्ष पराजय वृत्ति नही है।

पहले कह चुके है कि रामानन्द के महान धर्म-सुधार के कारण भक्ति-आन्दोलन तमिलनाड से उत्तर भारत मे आया तथा उनके जीवन-काल (चौदहवी शताब्दी) और फिर पन्द्रहवी व सोलहवी शताब्दियो मे क्रमश फैलता गया। किन्तु भक्ति-रहस्यवाद उत्तर भारत के समान दक्षिण मे सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता और समानता का जन-आन्दोलन न बन सका, जाति और पद को नजर-अन्दाज करके कार्य की महत्ता को प्रोत्साहित न कर सका, और न इसके साथ-साथ लोकोपयोगी साहित्य का अद्भुत उत्थान हो सका। कारण यह था कि विजयनगर साम्राज्य के शानदार शासनकाल मे न तो मुसलमान आक्रमणकारी दक्षिण में पहुच सके और न इस्लाम का विघटनकारी प्रभाव। फिर भी, उत्तर भारत में भक्ति राष्ट्रीय पराजयवाद अथवा पलयानवाद की नही, वरन् एक महान प्रजातात्रिक उत्थान तथा गतिमय धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति थी। भक्तिधारा ने इस्लाम की धार्मिक और सामाजिक चुनौती का प्रभावपूर्ण ढग से सामना किया तथा इस्लाम के कट्टर अद्वैतवाद और फिरकापरस्ती को अपने अनुसार सशोधित करके उसके ही किंचित् पृथक् सूफी सम्प्रदाय को सुदृढ किया।

श्रीकृष्ण : जीवन-दर्शन

१

श्रीकृष्ण—एक अवतार

जिस प्रकार भगवद्गीता के वक्ता श्रीकृष्ण भगवान हैं, उसी प्रकार उद्धव ता के भी वक्ता वही हैं। श्रीकृष्ण को महापुरुष मानने से तो कोई इन्कार कर ही सकता, अवतार मे अलवत्ता एक राय न होकर भिन्न-भिन्न राये हो सकती हैं। दि हम यह मान लें कि महापुरुषो को ही बाद मे लोग अवतार मानने लगते हैं ो फिर यह मतभेद समाप्त हो जाता है। भारतवर्ष मे आम धारणा यह है कि ीकृष्ण केवल अवतार ही नही, पूर्ण अवतार थे। अलौकिक कृत्यो (अर्थात चमकारो) को निकाल दें तो अवतारी पुरुष फिर महापुरुष ही रह जाता है। अच्छा हो कि हम यहा दोनो दृष्टियो से श्रीकृष्ण के जीवन पर विचार कर लें।

श्रीकृष्ण—एक अवतार

पहले अवतार को लें। अवतार शब्द मे तर्क की अपेक्षा भावना और श्रद्धा का बल अधिक है। तर्क की अर्थात बुद्धि की कल्पना-शक्ति की एक सीमा हो सकती है, परन्तु भावना और श्रद्धा असीम होती है। तर्क का काम ही भावना और श्रद्धा को सीमा मे बाधना है। जब वह सीमा मे बध जाते हैं तब वह भावना और श्रद्धा तर्कसिद्ध या बुद्धि युक्त मानी जाती है। परन्तु जहा आत्मा, परमात्मा, चेतन, परमेश्वर आदि अलौकिक विषय आते हैं वहा तर्क पहले ही अपनी हार मान लेता है। जिस वस्तु का कुछ आकार हो, कुछ रूप हो, कोई सीमा हो उसका तो विचार बुद्धि मे समा सकता है, परन्तु जो अनत, अथाह, अव्यक्त, अव्यय, निर्गुण, निराकार हो, जिसे पहुचे हुए अनुभवी सत महात्माओ ने स्व-सवेद्य कहा है उसकी वैसे तो कल्पना की जाय और कैसे वर्णन किया जाय। वहा तो तर्क-प्रमाण या शब्द-प्रमाण बाजी मार ले जाता है और साधक या जिज्ञासु का एकमात्र वही सहारा रह जाता है। शब्द तो किसीके मुह से निकला हुआ ही हो सकता है। फिर उसे आप गुरु कहिये, पहुचा हुआ औलिया कहिये, सत-महात्मा कहिये, पीर-पैगम्बर कहिये या

वेद, कुरान, इजील, ग्रथसाहब कहिये। इनमे वेद को अलबत्ता एक मत के लोग अपौरुषेय मानते है। इजील ईसा मसीह पर उतरी, कुरान शरीफ मोहम्मद पर उतरी, परतु वेद किसी सत-महात्मा के नही उतरे। उनको श्रुति कहते है। जिसका अर्थ है सुना हुआ या सुनकर याद किया हुआ। सुना हुआ का अर्थ यह है कि ऋषियो के मन मे एक स्फूर्ति या प्रेरणा हुई उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह स्वय कुछ नही कह रहे है। कुछ उनको अन्दर से सुनाई दे रहा है और वे बोलते जाते है और दूसरा कोई कठस्थ करता जाता है। यह अपौरुषेय की एक व्याख्या हुई।

शब्द और तर्क मे भेद यह है कि शब्द स्फूर्णा, अनुभव का बयान करता है और तर्क उसकी मानवी सभावना पर जोर देता है, जिससे उसकी सीमा अपने आप बध जाती है। मनुष्य को अनुभव कुछ भी हो, प्रेरणा कुछ भी हो, अर्न्तध्वनि कुछ भी हो, परन्तु वह प्रकट होती है किसी नाम-रूप के द्वारा ही—इन्द्रियो के द्वारा ही, और तभी वह जीवन और ससार के कार्यकारी होता है और हो सकता है। अत. अगम्य, अचिन्त्य चेतनसत्ता भी भले ही हो, परन्तु मनुष्य-समाज या सृष्टि के काम मे वह तभी आ सकती है जब वह किसी भौतिक साधन से पकडी जाय और व्यक्त की जाय। इस दृष्टि से कोरी भावना, कोरी श्रद्धा मनुष्य के काम की उतनी नही जितनी तर्क-सिद्ध और तर्क-शुद्ध भावना और श्रद्धा। परन्तु यह तो समुद्र मे से घडा भरने जैसा हुआ। समुद्र का पानी घर मे लाना हो तो घडा अनिवार्य है, परतु हमे यह न भूलना चाहिए कि घडे का पानी समुद्र का एक बहुत ही नगण्य अश है। समुद्र से घडा बढकर नही हो सकता, इसलिए तर्क कितना ही उपयोगी हो, कार्यकारी हो परतु वह भावना और श्रद्धा का स्थान नही ले सकता। उसका वह पहरेदार और पथ-प्रदर्शक हो सकता है। नौकर मालिक का स्थान नही ले सकता है। अश पूर्ण से अधिक महान नही हो सकता है।

शब्द और तर्क

तो अब श्रीकृष्ण के विषय मे शब्द, भावना और श्रद्धा या अनुभव क्या कहते हैं? शब्द आर्य साहित्य मे वेद से आगे नही जाता है। वेदो मे मौजूदा अर्थ मे श्रीकृष्ण शब्द का उल्लेख नही मिलता। ब्रह्म, चेतना, परमात्मा, ईश्वर, परमेश्वर, आदि शब्द वेदो मे आते है। श्रीकृष्ण और पूर्णावतार की कल्पना बाद की है। कृष्ण-जन्म को ही जब पाच-छह हजार से अधिक वर्ष नही हुए है, तो उससे प्राचीन साहित्य

शब्द क्या कहता है?

मे उनका जिक्र आ ही कैसे सकता है? अवतार की शृखला मे वे (आठवें) माने जाते हैं। २४ अवतारो मे १० मुख्य अवतार हैं, उनमे भी दो—राम और कृष्ण को मर्यादा पुरुषोत्तम, पूर्ण पुरुषोत्तम अथवा पूर्णावतार कहते हैं। श्रीकृष्ण को छोड शेष सब अशावतार हैं। इसका अर्थ यह है कि और अवतार परमात्मा के एक दो अशो को लेकर प्रकट हुए हैं, अर्थात बहुत सीमित शक्ति को प्रकट करते हैं जबकि कृष्णावतार मे परमात्मा की पूर्ण कला अभिव्यक्त हुई है। इसका तत्पर्य यह है कि और अवतारो मे मानव-जीवन का उतना परिपूर्ण विकास नही देखा जाता जितना कृष्णावतार मे। मनुष्य-जीवन को हम चार विभागो मे बाटते हैं। बाल्यकाल, जवानी, प्रौढता और वृद्धावस्था। चारो अवस्थाओ का पूर्ण विकसित रूप जैसा श्रीकृष्ण के जीवन मे पाया जाता है वैसा और किसी अवतार के जीवन मे नही। बचपन मे कृष्ण स्वाभाविक बाल-लीला करते है। जवानी मे युवकोचित गुण और शक्तियो का परिचय देते हैं। प्रौढावस्था मे ज्ञान और विवेक का दर्शन होता है और वृद्धावस्था मे सन्यासी का-सा जीवन दिखाई देता है। उनके जीवन की समस्त घटनाओ पर मानवी और अतिमानवी दोनो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। बाल-लीला के जितने प्रसग आये है मानवी दृष्टि से बच्चो के जीवन में वैसी घटनाएँ अक्सर घटती है। परन्तु वे घटनाए तब बहुत महत्व पा जाती हैं और उनमे अलौकिकता भी नजर आने लगती है जब वह बालक आगे जाकर कोई महा-पुरुष या अवतारी हो जाता है। जैसे गाव मे छोटे बच्चे अक्सर नगे ही रहते हैं। लडके-लडकी दोनो कभी-कभी इकट्ठे होकर झुड बनाकर खेलते, नाचते और गाते हैं। नौ-दस साल के कृष्ण ने यदि गोप-बालिकाओ के साथ नाच-खेल किया हो, मडल बनाकर नाचे हो, तो कोई अनहोनी बात नही। स्वाभाविक ग्राम-जीवन का यह निर्दोष नमूना है, परतु आगे जाकर भक्तो और कवियो ने उसी स्वाभाविक घटना को लेकर बडे-बडे काव्य और मधुर रस से परिपूर्ण भक्ति-साहित्य का सृजन किया है। यह उन रचयिताओ की कम महिमा नही है। अर्जुन को भारतीय युद्ध के प्रारभ मे कुछ मोह हुआ तो श्रीकृष्ण ने उसको कुछ डाटकर, कुछ झिडककर, कुछ उलाहना देकर, कुछ उपदेश देकर, कुछ त्याग की बातें बताकर जगा दिया और कर्तव्य-पालन को उद्यत कर दिया। यह है सहज स्वाभाविक, साधारण घटना। अब यह भगवान व्यास की सूझ-बूझ है, रचना-कौशल है कि उन्होने इस प्रसग का लाभ उठाकर, सहारा लेकर एक अद्वितीय दर्शन 'जीवन दर्शन'—ग्रथ की रचना

कर दी, जिसे हम भगवद्गीता के नाम से जानते हैं। यह भगवान व्यास का मानव जाति पर कम उपकार नही है। श्रीकृष्ण ने क्या किया, क्यो किया, कैसे किया यह तो वह ही जाने परतु हम उन्हे जो महापुरुष या पूर्णावतार के रूप मे जानते है वह उनकी देन नही, उन महाकवियो, भक्तो और साहित्य स्रष्टाओ की है जिन्होने कबीर के सामने यह समस्या खडी कर दी कि 'गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काके लागू पाय' और अत मे उन्हे उसका सही हल मिल गया—'बहिलारी गुरु आपकी गोविन्द दिया बताय।' और यदि कबीर का हल सही है, तो फिर हमे भी शब्द प्रमाण पर आना ही पडेगा।

परमात्म-शक्ति के प्रतिनिधि

जिन्होने श्रीकृष्ण को अवतार चित्रित किया, उन्होने हम पर बडा उपकार किया है। महापुरुष मानने मे उसके समस्त गुणो, शक्तियो, पराक्रम का श्रेय हम उसी व्यक्ति को देते है। उस व्यक्ति मे छिपी परमात्म-शक्ति को एक प्रकार से भूल जाते हैं या भुला देते हैं। अवतारवादियो ने उसमे निहित या गुप्त या अनुस्यूत महान परमात्म चेतन-शक्ति की ओर हमे सकेत किया है कि यह महिमा कृष्ण नामधारी शरीर की नही, उस परमात्म चेतन-शक्ति की है जो कि श्रीकृष्ण के रूप मे अवतरित हुई है। फिर जब परमात्म शक्ति के प्रतिनिधि श्रीकृष्ण हो गये तब उन महान या साधारण घटनाओ का सबध भी ईश्वरीय शक्ति के साथ अपने-आप जुड गया। भगवान की अवतार की या महापुरुष की शक्तियो गुणो और कार्यों का वर्णन करने मे लेखको कवियो, साहित्यिको कलाकारो, भक्तो, सत, महतो, पौराणिको, कथावाचको आदि ने अपने-अपने अनुभव अपनी-अपनी प्रतिभा और अपनी-अपनी कला का चमत्कार भी उसमे उडेला है। जिससे राई के बराबर वट का बीज विशाल वट वृक्ष बन गया, जिसकी छाया मे सैकडो पशु पक्षी ही नही मनुष्य भी विश्राम करते रहते है। इस प्रकार वसुदेव-देवकी का जेल मे पैदा हुआ बेटा, गोकुल के नद-यशोदा जैसे अहीर के घर मे जन्म लेकर गाये चराता ग्वाल-बालो और बालिकाओ के साथ खेलकूद करता हुआ छोकरा आज परब्रह्म-परमात्मा का पूर्ण अवतार होकर हमारे सामने आ गया है। यह हमारा इतना बडा अहोभाग्य है और हम तो क्या खुद श्रीकृष्ण भी उन भक्तो और कवियो पर बलि जायगे और उनके सदैव कृतज्ञ रहेगे।

प्रत्येक महापुरुष को माननेवाले प्राय दो प्रकार के लोग होते हैं। एक उन्हें केवल श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते हैं—भगवान मानकर उन्हें पूजते हैं, और दूसरे बुद्धि और आलोचना की कसौटी पर कसकर उनके महत्व को स्वीकार करते हैं। उद्धव-गीता के वक्ता श्रीकृष्ण इन दोनो कसौटियो पर अर्थात श्रद्धा और बुद्धि दोनो की तराजू पर सही उतरते हैं। ५००० वर्ष हो जाने पर भी इस आलोचना-प्रधान युग मे भी ऐसे अनेक उच्चकोटि के भक्त हुए हैं और मौजूद है कि जो वृन्दावन, गोकुल और मथुरा को जड वस्तु नही चिन्मय और कृष्णमय देखते हैं और स्मरण और दर्शन करके अपना अहोभाग्य मानते हैं। उससे विलक्षण दैवी प्रेरणा लेते हैं। वे वहा के पशु-पक्षी तरु-लता सब मे कृष्ण की वासुरी की सुरीली तान सुनते हैं। मुसलमान कवि रसखान ने कैसी अनुपम याचना की है—

जायसी और चैतन्य अनन्यभक्ति

> पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर-धारन।
> जो खग हौं तो बसेरो करो मिलि कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन॥
> जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नद की धेनु मझारन।
> मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन॥

चैतन्य महाप्रभु तो वृन्दावन का नाम लेते ही समाधि-मग्न हो जाते थे और मीरा ने सारे वृन्दावन मे कृष्ण को ही एक पुरुप माना है। अर्थात श्रीकृष्ण के रूप मे ही वृन्दावन को देखा अर्थात यावत जड-चेतन वृन्दावन की सृष्टि को उन्होंने एकमात्र कृष्ण रूप देखा है। ऐसी जाग्रत समाधि जहा लग सकती हो, उससे अधिक प्रमाण उस प्रदेश की दिव्यता का और क्या हो सकता है। और वह सव इसलिए, श्रीकृष्ण भगवान ने वहा जन्म लिया था और लीलाए की थी। इससे अधिक उनके जीवन को महत्व दिलाने वाली और क्या वस्तु हो सकती है।

वैसे भारत मे कई अवतार और अवतारी पुरुप हो गये हैं, परतु श्रीकृष्ण ने जीवन मे सवसे वडी बात जो की, वह धर्म-सम्थापना की कही जा सकती है। और अवतारी महापुरुपो की भाति श्रीकृष्ण ने भी महादिव्य और अद्‌भुत कार्य किये हैं। परतु कलियुग मे धर्म-मार्ग प्रवर्तित करके उन्होंने जो महान कार्य किया है

उसका नमूना कही नही मिल सकता। इसको भी छोड दे, तो श्रीकृष्ण के जीवन मे जो विलक्षण कर्म मिलते हैं जैसे—राजनीति-पटुता, दया, शौर्यवीर्य, चातुर्य, और इनको भी छोड दे तो भी उनकी विद्वत्ता, तत्वदर्शिता, परोपकार-भावना, धर्मपरायणता विवेचन-पद्धति और वक्तृत्व आदि का भी विचार किया जाय तो घोर आधुनिक आलोचक को भी उनका महत्व स्वीकार किये बिना गति नही।

धर्म या जीवन-सिद्धि के तीन अग प्रसिद्ध है—कर्म, भक्ति और ज्ञान। तीनो का समन्वय भगवद्गीता मे जिस प्रकार हुआ है, वह एक ही बार श्रीकृष्ण के महत्व को स्वीकार कराने के लिए काफी है। गीता के द्वारा जो उपदेश उन्होने दिया और जिसको उन्होने उद्धव-गीता द्वारा परिपुष्ट किया वह इतनी विचार-क्रातियो के वाद भी अभी तक ज्यो-का-त्यो अक्षुण्ण है, बल्कि ज्यो-ज्यो उसका अधिक अध्ययन किया जाता है त्यो-त्यो वह अधिकाधिक उज्ज्वल होता जाता है। भगवद्गीता की कोटि का परिपूर्ण ग्रथ ससार के किसी साहित्य मे नही मिलता। श्रीकृष्ण ने जिस धर्म का उपदेश दिया उसीका नाम भागवत-धर्म है। साधारण जन-समाज के कल्याण के लिए भागवत-धर्म के बरावर कोई सरल मार्ग उससे पूर्व किसीने भी नही वताया था। भगवद् गीता और श्रीमद्भागवत मे निरूपित भागवत धर्म, दोनो, श्रीकृष्ण के चिरतन स्मारक है। तात्विक और आचारिक दोनो विषयो मे गीता, और भागवत की जोड का कोई ग्रथ नही है। आचार क्षेत्र मे तो भागवत धर्म का स्थान भारत मे चिरस्थायी हो गया है। भारत के साधु-सतो का इतिहास बहुताश मे भागवत-धर्म के इतिहास का ही अग है। इतिहास मे चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, अशोक, शिवाजी आदि महान विभूतिया भारतवर्ष मे उत्पन्न हुई, परतु आजतक किसीने उनका मदिर और उनका भक्ति-पथ नही चलाया। इतिहास प्रसिद्ध-व्यक्तियो के वार्षिकोत्सव होते हैं, परन्तु धार्मिक श्रद्धा का स्थान वे नही ले पाये। ऐतिहासिक व्यक्तियो मे ईसा मसीह और हजरत मोहम्मद पैगम्बर ये दो ही देव या ईश्वर-कोटि मे माने गये, गौतम वुद्ध भी इसी कोटि मे आते है। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन-सिद्धातो को अपने जीवन मे ही चरितार्थ करके दिखाया और यही कारण है कि उनके दिव्य कर्म आज हमारे लिए बहुताश मे आदर्शभूत हो गये हैं।

जीवन-सिद्धि तीन अंग

२

श्रीकृष्ण-महिमा

स्व० चिन्तामण विनायक वैद्य की सम्मति मे श्रीकृष्ण जैसा सर्वतोपरि अद्वितीय पुरुष भारत मे तो ठीक, किसी भी देश मे आज तक नही हुआ। अलौकिक पराक्रम, अप्रतिम बुद्धिमत्ता, असामान्य स्वार्थत्याग इत्यादि सद्‌गुणो के कारण श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ऐतिहासिक ही नही बल्कि काल्पनिक व्यक्तियो मे भी शिरस्थानीय हो गया है। नेपोलियन के ऐसा पराक्रमी और बुद्धिमान इतिहास मे दूसरा नही मिलता, परन्तु उसकी स्वार्थ-परायणता भी उसी तरह बेहिसाब थी। सार्वभौम बन जाने पर भी अन्त मे रक होकर जेल मे उसकी मृत्यु हुई। इसके विपरीत श्रीकृष्ण ने अपने जीवन मे जो-जो ठाना सब कर दिखाया। बडे-बडे युद्धो मे और राजनैतिक समस्याओ मे उनकी बुद्धिमत्ता से विजय ही प्राप्त हुई। और स्वार्थ तो उन्हें छू तक नही गया था। नेपोलियन का पराक्रम, वाशिंगटन का स्वार्थ-त्याग, ग्लैडस्टन-बिस्मार्क प्रभृति राजनेताओ का नय श्रीकृष्ण में एकत्र हो गये थे। और सबसे बडी बात यह कि श्रीकृष्ण जैसे राजनीति मे अग्रणी थे, वैसे ही परमार्थ मे भी थे। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद इत्यादि धर्म-सस्थापको मे उनकी गिनती की जा सकती है। ईसा ने सौजन्य से, बुद्ध ने बुद्धिवाद से तथा मुहम्मद ने अपने निश्चय के बल पर धर्म-प्रसार किया। श्रीकृष्ण मे निश्चय, सौजन्य और बुद्धिवाद तीनो का सम्मेलन हुआ था। बल, सौन्दर्य, बुद्धि, पराक्रम, साहस, नये निश्चय, शाति, सौजन्य, ज्ञान, स्वार्थ-परामुखता इत्यादि अनेक लोकोत्तर गुण-भोगैश्वर्य-सहित श्रीकृष्ण मे थे। श्रीकृष्ण को हम भारतीय आर्य जो परमेश्वर का पूर्णावतार मानते हैं उसका कारण यही है । श्रीरामचद्र पराक्रम और नीति-मर्यादा के उत्कर्ष से नरशिरोमणि थे, परतु रामावतार मे ज्ञान का उपदेश भगवान ने स्वमुख से नही दिया। श्रीकृष्ण ने अपने उपदेशामृत से भारतवर्ष के हृत्पटल पर ऐसा अमिट सिक्का जमा दिया है कि उसे पोछ डालना सभव नही है। श्रीकृष्ण के उपदेश और चरित्र ने भारतीय इतिहास को जो मोड दिया उसे बदला नही जा सकता। जिसके कान मे भगवद्‌गीता की वशीध्वनि-ज्ञान-रव पड गया है उसे फिर दूसरी ध्वनि मधुर लग ही नही सकती। आर्यो के वेदान्त-ज्ञान रूपी दुर्ग मे भगवद्-

लोकोत्तर श्रीकृष्ण

गीता मानो शतघ्नी-तोप है। उसके प्रहार के बाद इस किले पर दूसरा आक्रमण हो ही नही सकता। यही नही, बल्कि इस दिव्य अस्त्र के सहारे भारतीय आर्यों का तत्वज्ञान सारे ससार को जीतता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति हम भारतीय आर्य जो असीम आदर रखते है वह उचित और सकारण ही है। और आश्चर्य तो यह है कि हमारी आर्य-भूमि के सभी प्रकार के लोगो मे श्रीकृष्ण समान रूप से प्रिय और पूज्य है। वैदिक लोग हरि ॐ' कहकर वेद-पाठ करते है। कर्मठ लोग कर्म के आरभ मे परमेश्वर के जो चौबीस नाम लेते है, उनमे श्रीकृष्ण का ही नाम अन्तिम है। योगी लोग श्रीकृष्ण को योगेश्वर मानते है, भक्ति-मार्गी उनका भजन करके भगवच्चरण मे लीन होते हैं। मथुरा-वृन्दावन मे तो श्रीकृष्ण नाम की ध्वनि से घर-वार, मन्दिर, घाट, पृथ्वी-आकाश, गूज रहा है। क्या महाराष्ट्र क्या बगाल, क्या मद्रास और क्या गुजरात सभी जगह भावुक भक्त श्रीकृष्ण का सकीर्तन करते और नाचते है और ध्यानस्थ हो जाते है। सारे भारत मे आर्य स्त्रियो के मुख से श्रीकृष्ण की ही बाल-लीला के गीत-भजन सुनाई देते हैं। सुबह उठते ही चक्की पीसते-पीसते, बच्चो को जगाते हुए, श्रीकृष्ण के ही गीत गाती है। भरतखण्ड के सभी आर्य-धर्मी स्त्री-पुरुप, बाल-वृद्ध, धनी-गरीब, नागर-ग्राम्य पडित-मूर्ख, सस्कृत-असस्कृत, ससारी-परमार्थी सभीके विचारो और उच्चारो मे श्रीकृष्ण का ही नाम और चरित्र समाया हुआ है।

स्व० किशोरलाल घ० मश्रुवाला लिखते हैं—

"श्रीकृष्ण का समूचा चरित्र नि स्वार्थ लोक-सेवा का एक अनुपम उदाहरण है। अपने जन्म के समय से लेकर लगभग सौ सवासौ साल तक वह कभी चैन से नही बैठे।

लोक-नेता

बचपन गरीबी मे दूसरो के घर बिताया, पर उस बचपन को भी उन्होने ऐसे सुन्दर ढग से सुशोभित किया कि भारतवर्ष की अधिकाश जनता बालकृष्ण पर ही मुग्ध होकर उनके उतने ही जीवन को अवतार मानने मे धन्यता का अनुभव करती है। उनकी जवानी माता-पिता की सेवा मे, भटकते हुए स्वजनो को इकट्ठा करके उनमे नवजीवन जगाने मे, अपने पराक्रम द्वारा नि सहाय राजाओ की सहायता करने मे और साम्राज्य-लोभी राजाओ का सहार करने मे बीती। उन्होने अपने जीवन का तीसरा काल तत्वचिन्तन और ज्ञान-प्राप्ति मे बिताया। इसके बाद उन्होने युद्धो से मुह मोड लिया। फिर भी अपनी चतुराई से न्यायेच्छु को न्याय दिलाने मे वह कभी

पीछे न हटे। उन्हीके कारण नरकासुर के पजे से अवलाओ को मुक्ति मिली, जरासन्ध का नर-मेघ रुका और पाण्डवो को न्याय मिला। राजकाज की वडी-से-वडी खटपट मे पडकर भी उन्होंने कभी मजाक मे भी असत्य भाषण नही किया, धर्म का पक्ष नही छोडा और विजय मे भी शत्रु का तिरस्कार नही किया। महर्षि व्यास ने उनकी इस प्रतिज्ञा का कीर्तन किया है और इसके प्रमाण के रूप मे परीक्षित के पुनरुज्जीवन का वर्णन किया है।"

काका सा० कालेलकर ने श्रीकृष्ण की महिमा का वखान इस तरह किया है —

"श्रीकृष्ण का जन्म कारावास मे हुआ। माता-पिता के वियोग मे उन्हें अपना वालपन विताना पडा। गोपियो के साथ विविध लीलाएँ खेलने मे वह मगन रहते थे। पुराणकारो ने उनका ऐसा चित्र हमारे सामने उपस्थित किया है। परन्तु अपने माता-पिता दूसरे के राज्य मे कैदी हैं, यह वात श्रीकृष्ण भूले न थे। श्रीकृष्ण ने अपना सारा वालपन गोपियो के वीच वासुरी की तानें छेडने मे ही नही विताया, वल्कि कसरत करके वे मल्लविद्या मे प्रवीण हुए थे। दुष्टो के दमन करने का पदार्थ-पाठ उन्होंने लडकपन से ही सीखा था। मथुरा की राजनैतिक गतिविधि की वह हमेशा खवर रखते थे। अनुकूल समय देखकर उन्होंने कस को दण्ड दिया, अपने माता-पिता को कैद से छुडाया और उसके वाद गुरु के यहा विद्या सीखने गये। उन्होंने उस विद्या को पहले सीखा, जिससे उनके पिता-माता की मुक्ति हुई। उसके वाद वह आत्मा की भूख मिटाने व प्यास वुझाने और विद्यानन्द मे निमग्न होने के लिए सादीपनि के विद्यापीठ मे गये। पहले माता-पिता की मुक्ति, फिर विद्या। यह श्रीकृष्ण का जीवन-मत्र था। श्रीकृष्ण को इस वात का किसी समय भी पश्चात्ताप न हुआ कि मुझे माता-पिता की मुक्ति के लिए, स्वदेश की मुक्ति के लिए अपनी जवानी के दिन व्यतीत करने पडे। कर्तव्य-पालन के उत्साह से श्रीकृष्ण की वुद्धि इतनी तीव्र हो गई थी कि गुरु के समीप विद्या-सपादन करते हुए उन्हे न तो मेहनत ही पडी और न समय ही लगा। माता-पिता को छुडाया, विद्या समाप्त की, गुरु को दक्षिणा दे दी, उसके वाद श्रीकृष्ण ने शादी की। विवाह के उपरान्त सारी जिन्दगी उन्होंने निरासक्त होकर परोपकार मे लगाई। जव दूसरे सव लोग अपने-अपने राज्य का और उत्कर्ष का विचार कर रहे थे तव श्रीकृष्ण सारे भारत-

लोक-सग्रही

वर्ष की राजनीति का और धर्म-सस्थापना का विचार कर रहे थे। 'लोक-सग्रह' का अर्थ श्रीकृष्ण 'लोगो की सख्या का सग्रह' नही करते थे। और इसीलिए उन्होने भयकर मनुष्य-सहार को देखते हुए भी धर्म पर ही दृढ रहने की हिम्मत दिखलाई और स्वय अनुपम मल्ल होते हुए भी और देश मे इतने भारी राष्ट्र-क्षयकारी युद्ध के छिडते हुए भी वह अशस्त्र और अयुध्यमान रह सके। जिस समय दुर्योधन और अर्जुन दोनो श्रीकृष्ण के पास मदद मागने के लिए आये उस समय उन्होने उन दोनो राजपुत्रो के सामने जो पसन्दगी रक्खी वह अर्थ-पूर्ण है। या तो नि.-शस्त्र श्रीकृष्ण को पसन्द करो या यादव-सेना को पसन्द करो। दोनो ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पसदगी कर ली और उसका परिणाम जो हुआ वह हमारे सामने ही हैं।

श्रीकृष्ण का चरित्र अभी हमने ध्यान-पूर्वक देखा नही है। श्रीकृष्ण की बालपन की लीलाएँ और बडे होने के बाद श्रीकृष्ण के कार्य इतने मनोमोहक और उदात्त है और हम श्रीकृष्ण को अवतार मानकर इतने आश्चर्य-मूढ हो गये है कि उस पुरुषोत्तम के उस जीवन-क्रम की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता, जो उसने आदर्श पुरुष के रूप मे बिताया था। आज तक हमने जिन नररत्नो के चरित पढे अथवा देखे है, उनसे श्रीकृष्ण का चरित भिन्न दिखाई देता है। लडकपन मे छीके से उतार-कर माखन का आत्मदेव को भोग लगाने के बाद इस डर से कि यशोदा-माता पकड लेगी घबराये हुए श्रीकृष्ण की नाटकी लीला को छोड दें तो उनके सारे जीवन मे दु ख या भय का लेशमात्र भी कही नही दिखाई देता। उनका सारा जीवन विविध घटनाओ से परिपूर्ण होते हुए भी वह किसी भी समय दिङमूढ न हुए, दु ख से दब नही गये और उदासीनता से शिथिल नही हुए। जिसे किसी प्रकार की आसक्ति ही नही वह उदासीन क्यो होने लगा। जो ब्रह्मानन्द को जानता है, वह किसलिए डरे ? जो सर्वभूतो मे अपनी ही आत्मा को देखता है, उसके मन मे राग या द्वेष या जुगुप्सा कहा से हो सकती है ? यही श्रीकृष्ण का पूर्णत्व है। श्रीकृष्ण ने उसे अपने अवतार-कार्य का सहायक समझकर, उसका स्वागत किया। अभिमन्यु मारा गया, घटोत्कच मारा गया, द्रौपदी के पुत्रो का वध हुआ, अठारह अक्षौहिणी सेना का नाश हुआ, महान-महान आचार्य हताहत हुए, यादव-कुल का सहार हुआ, परन्तु श्रीकृष्ण ज्यो-के-त्यो, अविचल, गभीर महासागर बने रहे।

अचल श्रीकृष्ण

भारतीय युद्ध मे सग्राम-भूमि पर घायल हुए हजारो मुमूषु योद्धा खून के कीचड मे लथ-पथ हो रहे हैं और उनके बीच श्रीकृष्ण की कारुण्य-मूर्ति प्रत्येक के सिर पर अपना शीतल वरद हस्त रख रही है, ऐसा चित्र कोई समर्थ चित्रकार चित्रित कर सकता है ? अतिम समय पर श्रीकृष्ण का दर्शन ! जिस जमाने को यह अहोभाग्य प्राप्त हुआ, वह जमाना धन्य है। उस काल के कवियो ने इस भाव के गीत गाये हैं,

उदात्त एव मधुर श्रीकृष्ण

'मरणोन्मुख वीरों का है, यह मुरलीधर मोहन विश्राम।'

भावी सकट को देखकर मैदान मे सामने आना अथवा अकेले ही सारे सकट को उठा लेना,और जब राज्य-वैभव अथवा कीर्ति प्राप्त होने का समय हो तव लज्जा-वती वधू की तरह पीछे रहना, श्रीकृष्ण का यह स्वभाव कितना उदात्त व मधुर है ! गोकुल मे जितने राक्षस आये उन सबको श्रीकृष्ण ने खुद मारा। जब यमुना मे कालिनाग आकर रहा और सारे वृन्दावन मे त्राहि-त्राहि मचा दी तव श्रीकृष्ण बिना अपने प्राणो का विचार किये कदम्ब के पेड से उस सकट के कालीदह मे कूद पडे। सव ग्वाल-बाल डरे। कितने ही घर की ओर दौडे, कितने ही मूढ होकर काठ की तरह वही चिपके रहे। किसीको कुछ न सुझाई दिया। अकेले श्रीकृष्ण ने कालिय के साथ युद्ध किया, उसे हराया, नमाया और जीवनदान देकर छोड दिया। कस-वध मे भी सवसे आगे वढे और जरासन्ध-वध मे भी अग्रसर रहे। जहा-जहा सकट वहा-वहा खुद हाजिर !

इन्द्र ने जब प्रलय-काल के बादल भेजे तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन उठाकर प्रजा की रक्षा की। पर उसके साथ प्रजा को यह भी नसीहत दी कि जब हर एक शख्स गोवर्धन उठाने मे मदद देगा तभी प्रभु श्रीकृष्ण अपनी अगुली उठावेंगे, शक्ति परमात्मा की, पर प्रयत्न तुम्हारा।

'कृष्णायन' के लेखक श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र लिखते हैं—

"श्रीकृष्णचन्द्र को पूर्णावतार कहा गया है, जिनमे सभी कलाओ का पूर्णरूपेण विकास हुआ है। यदि बचपन मे ही उन्होंने गोपियो के प्रति अलौकिक, असाधारण प्रेम का परिचय दिया है तो उसी अवस्था मे दूसरी ओर कस के भेजे हुए अनेकानेक असुरो का वध करके अलौकिक शक्ति और शौर्य का भी दृष्टान्त उपस्थित किया है। यदि गीता का ज्ञान रण-स्थल मे उन्होने अर्जुन को दिया है तो समय-समय पर

अपनी चातुरी और सासारिक बुद्धिमत्ता से पाण्डवो को अर्थ-सकट और धर्म-सकट मे भी बचाया है। यदि वह अनेक रानियो और पटरानियो के पति हुए है तो साथ ही स्थितप्रज्ञ योगी भी रहे है। श्रीकृष्ण शास्त्र-शस्त्रविद् है, कला-कोविद है, राजनीति-विशारद है, योगी है, दार्शनिक है—सभी एक साथ और सबमे महान है।

आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेपण करने से कृष्ण-चरित के हमे तीन मुख्य रूप दिखलाई पडते है—

१ धर्म-सस्थापक कर्मयोगी कृष्ण,

२ गोपीजनवल्लभ और राधाकृष्ण, तथा

३ बालगोपाल।

ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्णचरित्र का प्रथम रूप सबसे अधिक प्राचीन तथा कम-से-कम काल्पनिक है। यह रूप हमे महाभारत मे सुरक्षित मिलता है। इन कृष्ण को हम आजकल के शब्दो मे राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक कह सकते है। आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीक कस, जरासध, जयद्रथ, दुर्योधन आदि का नाश करानेवाले तथा आर्य-धर्म के प्रतिनिधि पाण्डवो के पक्ष के समर्थक। धर्म-सस्थापन मे अपने-पराये का भेद व्यर्थ है, यह तो आदर्श की रक्षा का प्रश्न है, फलत अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए इन्होने धर्म-क्षेत्र स्वरूप कुरुक्षेत्र मे महाभारत के युद्ध के अवसर पर गीता का उपदेश दिया तथा अधर्म पक्ष के समर्थक भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे गुरुजनो का वध कराने मे भी इन्हे लेशमात्र सकोच नही हुआ। आसुरी प्रवृत्तियो को कुचलने के लिए आसुरी उपायो का अवलबन भी अनुचित नही, बल्कि आवश्यक हो सकता है—आर्य-धर्म तो आर्यो के आपस के व्यवहार के लिए है—यह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सदेश इनके अनेक व्यवहारो और उपदेशो से स्पष्ट है। भविष्य के सबध मे भी आशा का सदेश वह सदा के लिए छोड गये है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात अधर्म के बहुत अधिक बढ जाने पर यह असभव है कि किसी-न-किसी असाधारण आत्मा का अवतार उसे नष्ट करने के लिए न हो।

कृष्ण-चरित का चरम विकास हम वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग मे बालगोपाल के रूप मे पाते है। इस भावना को काव्यमय रूप महाकवि सूरदास ने अपने बाल-लीला सबधी पदो मे दिया है। यद्यपि इन चरितनायक के चरित्र का यह एक अति-

सीमित अग था तथापि साथ मे ही इसमे एक व्यापक नित्य आकर्पण भी सन्निहित था। इष्टदेव के सवध मे वालगोपाल की भावना भावुकता की दृप्टि से मनुष्य को ममता की साकार मूर्ति माता के कोमल हृदय के निकटतम पहुचा देती है। असुर-सहारक कृष्ण राष्ट्र की कल्पना मे एक वार फिर वालक हो गये और उनके साथ-साथ जनता का हृदय भी इस कल्पना के लालन-पालन मे व्यस्त हो गया। सूरसागर का वाललीला-सबधी अश अपने सीमित क्षेत्र मे वहुत ही ऊचा और साथ ही वहुत गहरा है, किन्तु यह भी कहना पडेगा कि कृष्ण-चरित का यह एक ऐसा रूप है, जो ऐतिहासिकता से और वास्तविकता से हमे इतनी दूर ले जाता है कि हम एक प्रकार से नये काव्यमय काल्पनिक जगत मे विचरण करने लगते हैं।

३

अवतार-तत्व

श्रीकृष्ण को भारतवासी आमतौर पर अवतार मानते हैं। वह अवतार या उसका तत्व क्या है—यह 'भारतीय सस्कृति और वैदिक विज्ञान' के विद्वान लेखक ने इस प्रकार वताया है—

परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है। स्वरूप लक्षण द्वारा हम उसे पहचान नही सकते। यह सबमे विलीन-निगूढ है। किन्तु जगत, जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक नही। वही जगत है, और वही जगत का नियन्ता है, इस-लिए जगत मे जो-जो—उसके रूप जगत का नियमन करते हुए दिखाई देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहचान सकते हैं। उनके द्वारा ही उपासना कर सकते हैं, वे ही परमेश्वर के 'अवतार' हैं। दूसरे शब्दो मे क्षर पुरुष मे अव्यय पुरुष की जो कलाए परिचित होती है, वे ही अवतार हैं। उनके द्वारा ही अव्यय पुरुष उपास्य या ध्येय होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि मे 'आविर्भाव' शब्द भी आया है और जगद्व्यापी विराट-रूप को ही भागवत मे पहला अवतार वताया गया है—'एतन्नानावताराणा निधान बीजमव्ययम्।', जगत मे परमात्मा जो आविर्भूत होता है, सो मानो, अपने स्व-स्वरूप स्वधाम से जगत मे उतरता है।

अव्यय पुरुष ही क्षर रूप मे उतरकर आया है। इसलिए उसे 'अवतार' कहते हैं। परमात्मा का रूप 'सत्य' है, वह तीनो कालो मे, सब देशो मे, सब दशाओ मे अबाधित रहता है। कारण को सत्य कहते है। वह सबका कारण है, इसलिए परम सत्य है। वह सत्य जगत मे 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है। जल सदा नीचे की ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही उठती है, वायु सदा तिरछी ही चलती है, सूर्य नियत समय पर ही उदित होता है। हरिण के दोनो सीग बराबार नाप मे बढते हुए समान रूप से मुडते है। बेर के वृक्ष मे प्रत्येक पर्व-ग्रथि पर दो काटे पैदा होते है, जिनमे एक मुड जाता है, एक खडा रहता है। वसन्त ऋतु आते ही आम के वृक्षो मे मजरी निकलने लगती है। इस प्रकार सब जगत को अपने-अपने धर्म मे नियत रूप से स्थिर रखनेवाली शक्ति, जिसमे चेतना भी अनुस्यूत है, 'अन्तर्यामी नियति' वा 'सत्य' शब्द से कही जाती है। कह सकते है कि उस परम सत्य का नियति रूप से, इस जगत मे अवतार है। **'सत्यस्य सत्यम्'** कहा जाता है। श्रीमद्भागवत मे भगवान श्रीकृष्ण की गर्भस्तुति आरम्भ करते हुए देवताओ ने कहा है—

सत्यव्रत सत्यपर त्रिसत्यं
सत्यस्य योनि निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना.॥

जिनके व्रत-कर्म का सकल्प सत्य हैं (देवताओ के—अग्नि, वायु, सूर्य आदि के कर्म व्यभिचारी नही होते, इस विशेषण से भगवान की सर्वदेवरूपता बताई गई है) सत्य ही जिनका पर-आश्रय आधार है (इससे पूर्वोक्त नियतिरूपता भगवान की कही गई) जो तीनो काल मे सत्य अबाधित है वा तीनो रूप से जो सत्य है (अन्तर्यामी, वेद और सूत्रात्मा—ये तीन भगवान के सत्यरूप है) जो सत्य के कारण हैं, जो उक्त तीनो सत्यो मे निहित-निगूढ रूप मे प्रविष्ट है वा जो अव्यय पुरुप-रूप भगवान परम सत्यशुद्ध रस-रूप ब्रह्म मे निहित आतमरूप से स्थित है, जो सत्य के भी सत्य है, अर्थात कारणो के भी कारण है (कार्य की अपेक्षा कारण को सत्य कहा जाता हे), ऋत और सत्य दोनो जिनके नेत्र (सूत्र) है। जिनका केन्द्र न हो, उन्हे ऋत कहते है, जैसे—वायु, जल आदि। जो केन्द्रबद्ध हो, वे सत्य कहलाते है जैसे—तेज, पृथ्वी आदि। इन दोनो प्रकार के नेताओ (रई चलाने की रस्सिया),

मे से जिन्होंने सब प्रपच को पकड रखा है, (इन दोनो भावो की अभिव्यक्ति परमेष्टिमण्डल मे होती है, इससे भगवान का परमेष्टिरूप बताया गया) और स्वय भी जो सत्यरूप है—हम उसी भगवान की शरण मे हैं। इस श्लोक मे भगवान के सत्यरूपो का सक्षिप्त विवरण है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नामरूप आदि) रूपो से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयभू मे होता है। वही विश्व का प्रथमोत्पन्न रूप है। अत सत्य का प्रथम आविर्भाव यही है। आगे परमेष्ठी मे, सूर्य मे, चन्द्रमा मे और पृथ्वी मे क्रमिक अवतार है। पृथ्वी द्वारा पृथ्वी के सब प्राणियो मे भी परमात्मा के विश्वचर रूपो का आशिक अवतार होता है। अत स्वयभू भगवान का प्रथमावतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमे पूर्व-पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर मे अनुस्यूत होता है। इससे पूर्व-पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा मे उत्तरोत्तर मे सक्रात हैं। स्वय के प्राण और उसके धर्म परमेष्ठी मे, दोनो के सूर्य मे, तीनो के चन्द्रमा मे, चारो के पृथ्वी मे और पाचो के प्राणियो मे सक्रात होते हैं। कौन-कौन मण्डल किस-किस 'प्राण' का अन्यत्र सक्रमण करता है, यह भी श्रुतियो से प्रमाणित हो जाता है। स्वयभू-मण्डल से भृगु, चित् और सूत्र (ऋत, सत्य) परमेष्ठिमण्डल से भृगु, अगिरा और अत्रि, सूर्य से ज्योति, गौ और आयु, चन्द्रमा से यश, रेत और पृथ्वी से वाक् गौ एव द्यौ, ये प्राण निकलते रहते हैं, और अन्यत्र सक्रात होते हैं। इन सबका विवरण यहा नही किया जा सकता, सक्षेप मे इतना ही कहना है कि प्राणिमात्र मे, विशेषत मनुष्यो मे जो शक्तिया देखी जाती हैं, वे इन्ही भगवान के अवतारो से प्राप्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न-भिन्न आत्माओ का विकास भी इन मण्डलो से प्राप्त प्राणो द्वारा ही प्राणियो मे होता है। जैसे, खनिज आदि मे केवल वैश्वानर आत्मा, वृक्षादि मे वैश्वानर और तेजस, आदि इतर प्राणियो मे वैश्वानर, तेजस, प्रज्ञान ये तीनो भूतात्मा और मनुष्यो मे भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जिसमे जिस मण्डल के प्राण की अधिकता हो, उसमे उसीके अनुसार विशेष शक्ति पाई जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार, सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान के विभूति-अवतार कहे जा सकते हैं। किन्तु जिसमे शक्तियो का जितना अधिक विकास होता है, वह उतने ही रूप मे औरो का विभूति-रूप से उपास्य हो जाता है।

स्वयभू—प्रथम अवतार

जिनमे जीव-कोटि से अधिक शक्तियो का विकास हो, बुद्धि के चारो ऐश्वर-रूप या उनमे से एक-दो या तीन मनुष्य-कोटि से अधिक मात्रा मे जहा प्रकट हुए हो, जीव साधारण आवरण से हटकर अव्ययात्मा की कलाए, जिनमे आविर्भूत दीख पडे, उन्हें विशेष रूप से अवतार माना जाता है, और जहा पूर्णरूप से सब शक्तियो का विकास हो, पूर्ण रूप से अव्ययात्मा की सब कलाए प्रकट हो, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्मरूप से उपास्य होते है।

साक्षात् परमेश्वर

वेद का एक वचन है—'आत्मा सत्यकाम—सत्य सकल्प' है, इसका अर्थ यह होता है कि हम जो भी सोचे या चाहें, वही प्राप्त कर सकते है। जिस शक्ति के कारण हमारी कामनाएं सिद्ध होती हैं, उसीको हम परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म कहते हैं। जान या अनजान मे भी इसी परमात्मा की शक्ति का आलम्बन-शरण-आश्रय लेकर हमने अपनी वर्तमान स्थिति प्राप्त की है और भविष्य मे जो स्थिति हम प्राप्त करेंगे वह भी इसी शक्ति के आलम्बन से करेंगे। श्रीकृष्ण ने भी इसी शक्ति के आलम्बन से सर्वेश्वर-पद-अवतार-पद प्राप्त किया था। आगे जो मनुष्य-जाति के पूजनीय अवतार होगे वे भी इसी शक्ति का उपयोग मूढता-पूर्वक अज्ञान-पूर्वक करते हैं, उन्होने उसका अवलम्बन बुद्धिपूर्वक किया था।

दूसरा अन्तर यह है कि हम अपनी क्षुद्र वासनाओ की तृप्ति के लिए परमात्मा की शक्ति का उपयोग करते हैं। अवतारी पुरुषो की आकाक्षाए उनके आशय महान और उदार होते हैं। वे उन्हीके लिए आत्मबल का आश्रय लेते हैं।

तीसरा अन्तर यह है कि जन-समाज महापुरुषो के वचनो का अनुसरण करने-वाले और उनके आश्रय मे एव उनके प्रति रही अपनी श्रद्धा मे अपना उद्धार मानने-वाला होता है। प्राचीनशास्त्र ही उसके आधार होते है। किन्तु अवतारी पुरुष केवल शास्त्रो का अनुसरण नही करते, वे शास्त्रो को स्वय बनाते है और उनमे परिवर्तन भी करते हैं। उनके वचन ही शास्त्र बन जाते है और उनके आचरण ही दूसरो के लिए दीप-स्तभ का काम देते हैं। उन्होने परतत्व को जान लिया है। अपने अन्त करण को उन्होंने शुद्ध कर लिया है ऐसे ज्ञानवान, विवेकवान और शुद्ध-चित्त लोगो को जो विचार सूझते हैं वही सत्-शास्त्र और वही सद्धर्म बन जाता है। दूसरे कोई शास्त्र न तो उन्हें बाध सकते हैं और न उनके अन्त करण मे अन्तर पैदा कर सकते हैं।

यदि हम अपने आशयो को उदार बनावे अपनी आकाक्षाओ को उन्नत करें और ज्ञान-पूर्वक प्रभु की शक्ति का आश्रय ले तो हम और अवतार माने जानेवाले पुरुष तत्वत भिन्न नही है। घर मे बिजली की शक्ति लगी है, जिस तरह हम उसका उपयोग एक क्षुद्र घण्टी बजाने मे कर सकते हैं, उसी तरह उसके द्वारा सारे घर को दीपावलि से सुशोभित भी कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रभु हममे से प्रत्येक के हृदय मे विराजमान है, हम चाहे तो उसकी सत्ता द्वारा अपनी एक क्षुद्र वासना को तृप्त कर सकते हैं और चाहें तो महान एव चरित्रवान बनकर ससार से तर सकते हैं तथा दूसरो को तरने मे मदद दे सकते हैं।

अवतारी पुरुषो ने अपनी रग-रग मे व्याप्त परमात्मा के बल से पवित्र, पराक्रमी और पर-दुख-भजन बनना चाहा। अपने स्वार्थ-त्याग इन्द्रिय विजय, मन-सयम, चित्त की पवित्रता, करुणा की अतिशयता, प्राणिमात्र के प्रति अतिशय प्रेम, दूसरो के दु ख दूर करने के लिए अतिशय कर्तव्यपरायणता, निष्कामता, अनासक्ति निरभिमानता और सेवा-द्वारा गुरुजनो की कृपा प्राप्त कर लेने के कारण ये अवतार माने गये, मनुष्य-मात्र के पूज्य बने।

यदि हम उनके जैसे बनने का प्रयत्न करें तो उनका नाम-स्मरण करना हमारे लिए व्यर्थ है और ऐसे नाम-स्मरण से उनके पास तक पहुचने की आशा रखना भी व्यर्थ है।

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने भी लिखा है—

श्रीकृष्ण भगवान विष्णु रूप के प्रतिनिधि है। विष्णु का अर्थ है व्याप्त करना। श्रीकृष्ण का महाभारत की कथा मे भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, जहा उन्हे अर्जुन के मित्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु ही श्रीकृष्ण

पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन को पूजा का पात्र बताया है। श्रीकृष्ण प्राचीन यदुवश की वृष्णि या सात्वत शाखा मे उत्पन्न हुए थे। कृष्ण वैदिक याजकवाद के विरोधी थे और उन सिद्धान्तो का प्रचार करते थे, जो उन्होने घोर अगिरस से सीखे थे। वैदिक पूजा-पद्धति से उनका विरोध उन स्थानो मे प्रत्यक्ष दिखाई पडता है जहा इन्द्र पराजित होने के बाद कृष्ण के सम्मुख झुक जाता है। महाभारत मे कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति और भगवान का अवतार दोनो ही रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी मे वासुदेव की पूजा-पद्धति स्थापित हो चुकी थी।

अवतार का सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत के नियम की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। अवतार परमात्मा का मनुष्य मे अवतरण है। मनुष्यो का परमात्मा मे आरोहण नही है। अवतरण या अवतार का तथ्य इस बात का द्योतक है कि ब्रह्म एक पूर्ण, सप्रमाण और शारीरिक प्रकटन से विरोध नही है। हिन्दू विचार-धारा मे किसी व्यक्ति को परमात्मा के साथ एकरूप मानना साधारण वात है। उपनिषदो में वताया गया है कि पूर्णतया जाग्रत आत्मा परब्रह्म के साथ एकरूप हो जाती है और वह अपने ब्रह्म के साथ एक होने की घोषणा भी कर देती है। भगवान कृष्ण ने जिस दिव्यता का दावा किया है वह सब सच्चे आध्यात्मिक अन्वेषको को प्राप्त होने-वाला सामान्य प्रतिफल है। कृष्ण का अवतार हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा के प्रकटन का उदाहरण अधकार मे छिपे हुए ब्रह्म के प्रकाशन का एक उदाहरण है।

ससार जो कुछ है उसका कारण तनाव है। वह पूर्णता तक पहुचने के लिए निरतर प्रयत्नशील है। असत् जो सब अपूर्णताओ के लिए जिम्मेवार है। ससार मे एक आवश्यक तत्व है क्योकि यही एक वह सामग्री है जिसमे परमात्मा के विचार मूर्त होते हैं। दिव्यरूप (पुरुष) और भौतिक तत्व (प्रभूति) एक ही आध्यात्मिक समाज के अग है। जब सारा ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब यह निर्दोषता की स्थिति तक ऊचा उठ जाता है, जब यह पूर्णत. आलोकित हो जाता है तब भगवान का प्रयोजन पूरा हो जाता है और ससार फिर अपनी मूल विशुद्ध सत् अवस्था में पहुच जाता है।

श्रीकृष्ण के जन्म-कर्म और महाप्रयाण या निर्माण का रहस्य यही है।

४

श्रीकृष्णावतार

श्रीकृष्ण को पूर्ण अवतार सिद्ध करने के लिए 'वैदिक धर्म' के विद्वान् लेखक श्री सातवालेकर ने एक पूरा अध्याय लिखा है वह हमे इतना रोचक और समीचीन लगा कि उसे लगभग ज्यो-का-त्यो देने का लोभ हम सवरण न कर सके। वह इस प्रकार है—

ईश्वर और अवतार का यह रहस्य दृष्टि मे रखकर भगवान श्रीकृष्ण के चरित्रों

की समीक्षा करें, तो स्पष्ट रूप से भासित हो जायगा कि वे 'पूर्णावतार' हैं। दुरा-ग्रह छोड दिया जाय, तो विवश होकर कहना ही पडेगा कि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'–(श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान परब्रह्म परमेश्वर हैं। पहले वुद्धि के चारो ऐश्वर

पूर्णावतार

रूपो-धर्म, ज्ञान, ऐश्वर और वैराग्य को ही देखिए, इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण मे स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्म की स्थापना के लिए ही भगवान श्रीकृष्ण का अवतार है, उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध और सात्त्विक हैं; रज और तम का वहा स्पर्श भी नही है। अमानिता, अदम्भ आदि वुद्धि के धार्मिक गुणो को पूर्ण मात्रा मे वहा मिला लीजिये। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ मे आगन्तुको के पाद-प्रक्षालन का काम उन्होने लिया था। महाभारत मे अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातो से बढकर निरभिमानता और क्या हो सकती है? भगवान श्रीरामचन्द्र इसलिए धार्मिक शिरोमणि मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते है कि पिता की आज्ञा से उन्होने राज्य छोड दिया था। अव विचारिए, वहा साक्षात पिता की साक्षात आज्ञा थी, किन्तु कस के मारने पर भगवान श्रीकृष्ण से मथुरा का राज्य ग्रहण करने का सब वान्धवो ने जब अनुरोध किया, तब उन्होने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हमारे पूर्वपुरुष यदु का महाराज ययाति ने वश-परपरा तक के लिए राज्याधिकार छीन लिया है, इसलिए हम राजा नही हो सकते, यो उन्होने बहुत पुराने पूर्व-पुरुष की परोक्ष आज्ञा का सम्मान कर राज्य छोडा। इससे उनका धार्मिक आदर्श कितना ऊचा सिद्ध होता है। धर्म के प्रधान अग–सत्य मे वह इतने सुदृढ थे कि शिशु-पाल की माता को शिशुपाल के सौ अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा मे शिशुपाल के कटु भाषण पर तटस्थो को क्रोध आ गया। किन्तु वह सौ की पूर्ति तक चुपचाप रहे। सौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा। इसके अतिरिक्त धर्म के नाम पर जो लोग उलटे मार्ग मे फसते हैं, दो धर्मों का परस्पर विरोध दिखाई देने पर उस ग्रथि को सुलझाने मे वडे-वडे विद्वानो की भी वुद्धि जो चक्कर मे पड जाती है, और भ्रातिवश अधर्म को धर्म मान लेती है, उन ग्रथियो को अपने आचारण और उपदेश दोनो से भगवान श्रीकृष्ण ने खूब सुलझाया है और धर्म के सब अगो को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देश-काल-पात्र सापेक्ष होता है। एक समय एक के लिए जो धर्म है, भिन्न अवसर मे अथवा भिन्न अधिकारो के लिए वही अधर्म हो जाता है। इस अधिकार-भेद–'श्रेयान् स्वधर्म' के वह पूर्ण ज्ञाता

थे। धर्म का बलाबल वह खूब देखते थे। दुष्टो का किसी भी प्रकार दमन वह धर्मानुमोदित मानते थे। कर्ण-अर्जुन-युद्ध मे रथ का पहिया पृथ्वी मे चले जाने पर धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाना बन्द करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को उन्होने यही कहकर फटकारा था कि जिसने अपने जीवन के आचरणो मे धर्म का कभी आदर नही किया, उसे दूसरे से अपने लिए धर्माचरण की आज्ञा करने का क्या अधिकार है ? कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मथुरा पर चढाई कर आया, तब उसे धोखा देने मे उन्होने कुछ भी अनौचित्य नही समझा। अधार्मिको के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय तो अधार्मिक का हौसला बढता है और धर्म की हानि होती है। इसलिए समाज-व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौडते हुए उन्होंने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि तुमने धार्मिक होकर भी अधर्मी दुर्योधन का साथ क्यो दिया, तब भीष्म के 'राजा परं दैवतम्'—राजा बडा देवता है, उसकी आज्ञा माननी ही चाहिए—ऐसा उत्तर देने पर उन्होने स्पष्ट कहा था कि दुष्ट राजा कभी माननीय नही होता, तभी तो देखो मैंने स्वय कस का नियत्रण किया। यो सामाजिक नेता के धर्मों की उन्होने खूब शिक्षा दी है, और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहा-कहा नीति को प्रधानता देनी चाहिए और कहा-कहा धर्म को, इन बातो को खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग जहा धर्मरक्षा मे होता है ,वहा वह नीति को प्रधानता देते है। इस व्यवस्था को भूल जाने से ही भारतवर्ष विदेशियो से पदाक्रात हुआ है और परिणाम मे इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पडी है। अस्तु ! कर्णपर्व मे महाराज युधिष्ठिर के गाण्डीव धनुष की निन्दा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निर्वाह के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाने के लिए उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर मे सत्य-पालन का अनौचित्य बताते हुए उन्होने रोका था, और बडो की निन्दा ही उनका हनन है, इस अनुकल्प रूप से सत्यरक्षा कराई थी। सौप्तिक पर्व मे अश्वत्थामा ने जब सोये हुए द्रौपदी के पाचो पुत्रो को मार दिया और अर्जुन ने उसके वध की प्रतिज्ञा से पुत्र-शोक से बिलखती द्रौपदी को सान्त्वना देकर युद्ध मे जीतकर उसे पकड लिया—तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि ब्रह्महत्या मत करो। इसे छोड दो। भीमसेन कह रहे थे कि ऐसे दुष्ट को अवश्य मारो। अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष मे थी। उस समय भी उन्होने 'धनहरण' मारने के ही सदृश होता है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो, यह अनुकल्प बता-

कर अर्जुन से दोनो गुरुजनो की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्महत्या से बचाकर अनुकल्प रूप से सत्य-रक्षा कराई थी। ऐसे प्रसग धर्म-सकट सुलझाने के आदर्श उदाहरण हैं। भगवद्गीता के प्रारम्भ मे अर्जुन के विचार स्थूल दृष्टि से बिलकुल धर्मानुकूल, प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्होंने स्वधर्म विरुद्ध कहकर 'प्रज्ञा वादाश्च भाषसे' के द्वारा उन विचारो को बिलकुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध मे प्रवृत्त किया, जो गीता-स्वाध्याय करने पर बिलकुल ठीक मालूम होता है। बाल्यकाल मे ही गोपो द्वारा इन्द्र की पूजा हटाकर उन्होंने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमे भी वही अधिकार-भेद का रहस्य काम कर रहा है। उनका यही अभिप्राय था कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है तब, गोवर्धन जो हमारे समीप है और जिससे हमारा सब प्रकार से पालन होता है, उसे ही ईश्वर की मूर्ति मानकर क्यो न पूजा जाय? क्या वह ईश्वर की विभूति नही है? 'इन्द्र की पूजा करने से इन्द्र वर्षा करेगा' इस काम्यधर्म के वह सदा से विरोधी रहे हैं, इसे उन्होने स्थान-स्थान पर 'दुकानदारी' बताया है। और धर्म-सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्तव्य समझ, धर्म का अनुष्ठान करना, यही श्रीकृष्ण भगवान की शिक्षा है। अस्तु, विस्तार का प्रयोजन नही, सर्वांगपूर्ण, बलाबल-विवेचन-सहित, आदर्श धर्म का उनकी कृति और उपदेशो मे पूर्ण निर्वाह है। इसीलिए उस काल के धार्मिक नेता भगवान व्यासजी, बाल-ब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मावतार युधिष्ठिर आदि उनको साक्षात ईश्वर मानते थे और धर्मग्रथि सुलझाने मे उनको ही प्रमाण म नते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालक-दशा मे जन्म हुआ तब उसको जिलाते समय भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी धर्म-परायणता का ही आधार रखा है, ऐसा महाभारत मे भी आख्यान है। वहा उनकी उक्ति यही है कि यदि मैंने आजन्म कभी धर्म वा सत्य का अतिक्रमण न किया हो, तो यह बालक जी उठे। इससे अपनी धर्मपरायणता का आदर्श और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान श्रीकृष्ण ने स्वय प्रकट की है।

दूसरे, बुद्धि का रूप 'ज्ञान' भी भगवान श्रीकृष्ण मे सर्वांगपूर्ण था। क्या व्यावहारिक ज्ञान, क्या राजनीतिक ज्ञान, क्या धार्मिक ज्ञान, क्या दार्शनिक ज्ञान—सबकी उनमे पूर्णता थी। वह सर्वज्ञान निधि थे। इसके लिए उनका एक भगवद्-गीता का उपदेश ही इसका पर्याप्त प्रमाण है, जिसमे ज्ञान की थाह आज पाच

हजार वर्ष बीत जाने तक भी मिल न सकी। नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान उस ७०० श्लोको के छोटे-से ग्रथ से प्रस्फुटित हो रहे हैं। और श्रीमद्-भागवत के एकादश स्कन्ध आदि मे उनके कार्य ऐसे उपदेश हैं, जो ज्ञान मे उनकी पूर्णता के प्रवल प्रमाण है। इनके अतिरिक्त व्यवहार मे भी उनका पूर्ण ज्ञान विकसित है।

व्यावहारिक ज्ञान कार्य-कारण-भावज्ञान का नाम है। किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह जान लेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है, इसका चिन्ह है सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमे होगा, उतनी ही सफलता उसे मिलेगी। जीवकोटि के वडे-वडे विद्वान और महान नेता भी खास-खास अवसरो पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं। इतिहासो मे इसके सैकडो उदाहरण है। भगवान श्रीकृष्ण का व्यवहारिक मार्ग वाल्यकाल से ही कितना कण्टकाकीर्ण था, यह उनके चरित के स्वाध्याय करनेवालो से छिपा नही है। चारो तरफ आसुर-भावपूर्ण राजाओ का दवदवा था, उन सवका दमन करना था। किन्तु इस दशा मे भी उन्हे वहा असफलता नही मिली। इतना ही नही, किसी दशा मे चिन्तित होकर सोचना भी न पडा, प्रत्येक स्थान मे सफलता हाथ वाधे खडी रही। क्या यह उनके ज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नही है ? क्या इससे भगवान श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नही होता ? भारत का सम्राट जरासन्ध और उनका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्य-सागर से मथुरा पर घेरा डाले पडे हैं, उस दशा मे सभी यादवो को अपने अक्षत सामान-सहित कठिया-वाड के द्वारका स्थान मे ले जाकर वसा देना और समुद्र के मध्य मे एक आदर्श नगर वना उसे भारत के सव नगरो से प्रधान कर देना, वास्तव मे व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत पराकाष्ठा है। यादवो के एक छोटे-से राज्य का इतना दवदवा जमा देना कि सम्पूर्ण भारत के महाराजाओ को उनकी आज्ञा माननी पडे, यह राजनीतिक ज्ञान की सीमा है। महाभारत मे भी उनका राजनीतिक ज्ञान स्थान-स्थान मे अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है। वर्तमान युग के राजनीतिक भी उनके राज-नीतिक ज्ञान का लोहा मानते हैं। ज्ञान की सर्वाङ्गपूर्णता मे किसी विचारक को सन्देह नही हो सकता।

अव ऐश्वर्य लीजिए। कहा जा चुका है कि वुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है। उसके प्रतिफल आध्यात्मिक अणिमा, महिमा आदि सिद्धियां और वाह्य अलौकिक

सम्पत्ति आदि होते हैं। जिन्होंने द्वारका की समृद्धि का वर्णन पढा है. उन्हे वाह्य अलौकिक सम्पत्ति की बात बतानी न होगी। वाल्य चरित्रो मे कालियदमन, गोवर्धन-धारण आदि का आगे चरित्रो मे विश्वरूप-प्रदर्शन, अनेकरूप प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियो की पराकाष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते है, जिन्हे आध्यात्मिक ज्ञान-शून्य आजकल की जनता असभव कोटि मे मानती है। वस्तुत भगवान श्रीकृष्ण मे ऐश्वर्य जन्मसिद्ध हैं, आध्यात्मिक शक्तियो की विभूतियो के रूप मे ही उनके अलौकिक कार्य हुए हैं। काल-वश भारत के दुर्दैव से योगविद्या आज नष्ट हो गई। जिनके कारण भारत आध्यात्मिक शक्तियो का जगद्गुरु था, आज उनका परिचय ही न रहा, इससे आध्यात्मिक शक्तियो के कार्यों को आज असभव समझा जाय, तो आश्चर्य नहीं। किन्तु किसी बात को असभव वता देना कोई वुद्धिमत्ता का लक्षण नही है। कार्य-कारण-भाव-पूर्ण उपपत्ति सोचना वुद्धिमत्ता का लक्षण नही है।

व्यवसायात्मिकता बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि रागद्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिन्ह यह है कि सब काम करता हुआ भी, पूर्ण रूप से ससार मे रहता हुआ भी, सबसे अनासक्त रहे, किसी बधन मे न आवे। कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त बना रहे। ससार छोडकर अलग हो जाना अभ्यासवश जीवो से सभव है, किन्तु ससार मे रहकर सर्वथा निर्लिप्त रहना शुद्ध ऐश्वर्य धर्म है। भगवान श्रीकृष्ण के चरित्रो मे आदि से अन्त तक वैराग्य का--राग-द्वेष शून्यता का पूर्ण विकास है। कहा वाल्यकाल का गोप-गोपियों और नन्द-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमे वधकर एक क्षण वे विना श्रीकृष्ण के न रह सकते थे और कहा यह आदर्श निष्ठुरता कि अक्रूर के साथ मथुरा जाने के बाद वह एक वार भी वृन्दावन वापस नही आये। उद्धव को भेजा, वलराम को भेजा, उन्हे सान्त्वना दी, किन्तु अपना 'वेलागपन' दिखाने को एक वार भी किसीसे मिलने को स्वय उधर मुख नही किया। पहले गोपियो के साथ रासलीला करते समय ही मध्य मे अन्तर्हित होकर अपनी निरपेक्षता उन्होंने दवा दी थी। प्रकट होने पर जव गोपियो ने व्यग से प्रश्न किया कि अपने साथ प्रेम करनेवालो से भी जो प्रेम नही करते, उनका क्या स्थान, तव उन्होंने कहा था कि वे दो ही हो सकते हैं---आत्मसमा, आप्तकामा, अकृतज्ञा, गुरुद्रुह---या तो पूर्ण ज्ञानी या कृतघ्न। साथ ही अपना स्वभाव भी उन्होंने वताया था कि---'नाह सु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्ति

सिद्धये', बस इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह उन्होने किया। यादवो के राज्य का सब काम वह चलाते थे, किन्तु बन्धन-रूप कोई अधिकार उन्होने नही ले रखा था, वहां भी 'बेलगाव' ही रहे। महाभारत-युद्ध अपनी नीति से ही चलाया, किन्तु बने रहे, पार्थसारथि। बहुत-से दुष्ट राजाओ को मारा, किन्तु उनके पुत्रो को ही राज्य का अधिकार दे दिया, राज्यलोलुपता कही भी नही दिखाई। अपने कुटुम्बी यादवो को भी जब उद्धत होते देखा, उनके द्वारा जगत मे अशान्ति की सभावना हुई, तब उनका भी अपने सामने ही सर्वनाश करा दिया। वैराग्य का—राग-द्वेष-शून्यता का भी लक्षण 'समता' है, सो उनके आचरणो मे ओतप्रोत है। हरएक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किन्तु वह थे किसीके नही, सबके और सबसे स्वतन्त्र। पटरानियो मे भी यही दशा थी। रुक्मिणी अपने को पटरानी समझती थी; सत्यमामा अपने को अतिप्रिया मानती थी। सब ऐसा ही समझती थी। यह भगवान श्रीकृष्ण की समता का निदर्शन है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी समता पर आश्चर्य प्रकट किया था। आप सत्यभामा का हठ रखने को परिजात-हरण करते है, तो जाम्बवती को पुत्र प्राप्त होने के लिए शिव की आराधना करते हैं, किसी भी प्रकार समता को नही जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनो ही सहायता मागने जाते हैं और दोनो का मनोरथ पूर्ण होता है। अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किन्तु गर्वभजन के लिए स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। ये सब समता के प्रबल प्रमाण है। बुद्धि के उक्त चारो सात्विक रूप जिसमे हो, वही भगवान कहा जाता है—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
> वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
> बुद्धयः श्रीर्यशश्चैते षड् वै भगवतो भगाः॥
> उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥इत्यादि।

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणो को भग शब्दार्थ मे और अन्तर्गत किया गया है, उन दोनो का भगवान श्रीकृष्ण मे पूर्ण मात्रा मे विकास सर्वप्रसिद्ध है। इसपर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नही। तृतीय श्लोक मे भगवान का लक्षण बताया है—भूतो की उत्पत्ति, प्रलय, लोकलोकान्तर-गति, वहा से लौटना, विद्या

और अविद्या—इस सर्वक ज्ञान। गीता मे इन सब विषयो का सुस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान श्रीकृष्ण में यह परिपूर्ण रूप से है। भगवद्गीता मे उक्त चारो सात्विक बुद्धियो का विशद निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। उसमे वैराग्य-योग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग—यह क्रम रखा गया है। इनको क्रम से राजविद्या, सिद्धविद्या और आर्षविद्या नाम से भी कहते हैं। इनका फल क्रम से अनासक्ति, (समता) अनावरण, भक्ति और बधन—मुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा मे समर्पण-रूप योग है। यह सब भगवद्गीता विज्ञान-भाष्य में सगतिपूर्वक निरूपित हुआ है। इससे भी उक्त चारो रूपो की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान श्रीकृष्ण मे सिद्ध होती है। यो 'भग' लक्षण की पूर्णता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान कहलाते हैं। यद्यपि योग-साधन से जीवो मे भी सात्विक-बुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किन्तु किसी मात्रा मे ही होते हैं। एक कोई पूर्णरूप मे प्रकट हो जाय—यह भी सभव है, और ऐसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि आदि भी भगवान कहे जाते हैं। किन्तु सब रूपो की परिपूर्णता जीव मे अशतः भी जीवभाव रहने पर असभव है। सबकी पूर्णता ईश्वर मे ही होती है। फिर यह भी विलक्षणता है कि जीवो मे ये लक्षण प्रयत्न-साध्य होते हैं और ईश्वर मे स्वत सिद्ध। भगवान श्रीकृष्ण का योगसाधन-रूप प्रयत्न किसी इतिहास मे नहीं लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक बुद्धि के लक्षण उनमे प्रकट हैं। इससे उक्त बुद्धि-लक्षण उनमे स्वत सिद्ध हैं—यही कहना पडेगा और उन्हें अच्युत भगवान ईश्वर का पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर ही मानना पडेगा।

व्यवसायात्मक बुद्धि की पूर्णता के कारण अव्यय पुरुष का आचरण अशत भगवान श्रीकृष्ण मे नही है। अव्यय पुरुष की पाचो कलाओ का पूर्ण विकास है। अतएव भगवान श्रीकृष्ण ने अपने-आपको भगवद्गीता मे 'अव्यय पुरुष' कहा है। अव्यय पुरुष का लक्षण पहले लिखा जा चुका है कि सबमे समन्वित रहता हुआ भी, सबका आलम्बन होता हुआ भी वह सर्वथा निर्लिप्त रहता है। बिलकुल 'बेलाग' रहता है। यह लक्षण भगवान श्रीकृष्ण मे किस प्रकार समन्वित है, हम वैराग्य, निरूपण मे दिखा चुके हैं। अब अव्यय की कलाओ के विकास पर भी पाठक विचार करे। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अव्यय पुरुष की कलाए हैं। इनको क्रम से देखिये।

वाक् के विकास के लक्षण हैं भौतिक समृद्धि और वाक्-शक्ति। भौतिक

समृद्धि की पूर्णता भगवान श्रीकृष्ण मे हम दिखा चुके हैं। वाग्मिशक्ति से भी उन्होने कई जगह काम लिया है। भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध है—[illegible] युद्ध छोडकर भागते हुए एक दृढप्रतिज्ञ हठी वीर को अपनी वाक्शक्ति से ही उन्होने स्वधर्म मे लगाया। छोटी-सी अवस्था मे वाक्शक्ति से ही गोपो से इन्द्रपूजा छुडवाकर गोवर्धन-पूजा करवा दी। ग्राम की भोली-भाली जनता का विश्वास, धार्मिक विश्वास बदल देना कितना कठिन काम है। वह उन्होने सात वर्ष की अवस्था मे ही वाक्शक्ति के प्रभाव से कर दिखाया। गोप-कन्याओ का नग्न-स्नान रोकने मे भी उन्होने वाक्शक्ति से काम लिया, ऐसे वाक्शक्ति विकास के कई एक उदाहरण है।

दूसरी कला—प्राण के विकास के लक्षण हैं—बल, शौर्य, क्रिया शीलता आदि, इससे शिशु-अवस्था मे लात मारकर ही बडे शकटो को उलट दिया, कुमारावस्था मे पुराने अर्जुन-वृक्षो को एक झटके मे उखाड फेंका, किशोरावस्था मे कस के बडे-बडे मल्लो को अखाडे मे पछाड दिया, मस्त हाथी को मार गिराया, यौवन मे एक राजा के यहा सात मत्त वृषभो को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस काल मे—महावीर क्षत्रियो के भारत मे विराजमान रहते, जिनके सामने लडकर कोई न जीत सका—सब दुष्ट राजाओ पर आक्रमण कर सबका दमन जिन्होने किया, सारे भूमण्डल का भार उतारा, अकेले, इन्द्रपुरी पर चढाई कर पारिजात-हरण मे इन्द्र तक का मान भग किया—उनके इस बल और शौर्य के अतिमानुष विकास मे सन्देह को स्थान ही कहा है? उनकी क्रियाशीलता भी जगविदित है। आज द्वारका मे है, तो कल इद्रप्रस्थ मे, परसो युद्ध मे चढाई हो रही है, तो अगले दिन तीर्थयात्रा। अनेको रानियो के साथ पूर्ण गार्हस्थ-धर्म का निर्वाह, यादव राज्य का सब प्रबन्ध कर भूमण्डल मे उसे आदर्श-प्रतिष्ठित बनाना, पाण्डवो के प्रत्येक कार्य मे सहायक और सलाहकार रूप से उपस्थित रहना, भू-भार हरण कर अपना कर्त्तव्य-पालन भी करते जाना, महाशत्रुओ से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओ पर आक्रमण कर उनका विध्वस भी। यथा समय मे द्वारका से विदर्भ देश पहुच रुक्मिणी का मनोरथ पूर्ण कर देना आदि भी क्रिया-शीलता के अति-मानुष उदाहरण है। इस प्रकार, अव्यय पुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्ण रूप से सिद्ध होता है।

तीसरी कला मन के विकास के लक्षण हैं—मनस्विता, उत्साहशीलता, मनोमोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल जैसे वीर राजा के मित्रो और

सेना-सहित उपस्थित होने का समाचार सुनकर भी अकेले कुण्डिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट परम शत्रु जरासन्ध से लडने को केवल भीम और अर्जुन का साथ ले, बिना सेना के जा पहुचना, भरी सभा में कूदकर कस-जैसे राजा के केश पकड उसे गिरा, देना, मणि की चोरी का कलक लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना—ऐसी मनस्विता और हिम्मत के उदाहरण उनके चरित्र मे सैकडो हैं। मनोहरता तो उनकी प्रसिद्ध है, उनका नाम भी 'चितचोर. है। शत्रु भी लडने को सामने आकर एक बार श्रीकृष्ण को देखकर चौकडी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि ऐसे सुन्दर नौजवान से लडना पडेगा।

चौथी कला 'विज्ञान' के सबध मे पहले ही बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। 'बुद्धिप्रसाद-रूप ज्ञान के रहते अव्यय पुरुष की इससे ज्ञान-कला का विकास होता है। यहा विज्ञान से ससार-ग्रथिमोचक आत्मविज्ञान का अभिप्रेत है। उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेशे से बढकर किसी प्रमाण की आवश्यकता नही।

अब पाचवी सबसे उत्कृष्ट अव्यय की (प्रथम) कला आनन्द है। वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—'रसो वै स ।' इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारो मे भी नही देखा जाता। भगवान श्रीरामचन्द्र मे अन्य सब कलाओ का विकास है, किन्तु आनन्द का सर्वांश मे विकास नही है। उनका जीवन 'उदासीनतामय' है। उसमें शान्त्यानन्द है, किन्तु भगवान श्रीकृष्ण मे आनन्द के सब रूपो का पूर्ण विकास है। आनन्द के दो भेद हैं—एक समृद्धयानन्द, दूसरा शान्त्यानन्द। जब मनुष्य को इष्ट वस्तु, धन-पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तब उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उस प्रफुल्लता की मनोवृत्ति-रूप आनन्द को समृद्धयानन्द कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोडे काल रहती है, आगे वह इष्ट-वस्तु-धन पुत्रादि-मौजूद रहती है, किन्तु वह चित-विकास, वह प्रफुल्लता नही रहती, जब वह समृद्धयानन्द शान्त्यनन्द मे परिणत हो गया। निर्धन की अपेक्षा धनवान को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान को अधिक आनन्द है। किन्तु उस आनन्द का सर्वदा अनुभव नही होता। चित्त-विकास सदा नही रहता। अनुभव-काल मे, चित्त-विकास दशा मे, समृद्धयानन्द और अनुभव मे न आने वाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होने वाला आनन्द शान्त्यानन्द कहलाता है। मन मे इच्छा-रूप तरग न उत्पन्न होने की दशा मे या दु ख-निवृत्ति-दशा मे भी शान्त्यानन्द ही होता है।

शान्त्यानन्द के ब्रह्मानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द आदि भेद, पचदशी आदि ग्रथो मे वताये गए हैं, और समृद्धयानन्द के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैत्तिरीयोपनिषद् मे, आनन्दमय के सिर, पक्ष आदि के रूप से किये गये हैं। अभिनव वस्तु के दर्शन मे प्रिय रूप आनन्द है; इसके प्राप्त होने मे मोद और भोग-काल मे प्रमोद होता है, ऐसी भाष्यकारो की व्याख्या है। वस्तुत शान्त्यानन्द तो ईश्वर के प्राय सभी अवतारो मे रहता है, क्योकि ईश्वर है ही आनन्द-रूप, किन्तु भोग-लक्षण समृद्धयानन्द का भगवान श्रीकृष्ण मे भी पूर्ण विकास है। चित्त-विकास रूप आनन्द की पूर्ण मात्रा हमारे चरित्रनायक मे ही है। अनेक ग्रथो मे सक्षेप या विस्तार से भगवान श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र लिखा गया है, किन्तु कही उनके जीवन मे ऐसा अवसर दिखाई नही देता, जहा वह गाल पर हाथ टिका कर चिन्ता मे निमग्न हो। जीवन-भर मे कोई दिन ऐसा नही, जिस दिन वह शोकाक्रात हो आसू बहा रहे हो। कैसी भी झझट सामने आये, सबको खेलतमाशो मे ही उन्होंने सुलझाया। चिन्ता या शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल मे ही नित्य कस के भेजे असुर मारने को जा रहे है, किन्तु खेल-तमाशो मे ही उन्हे ठिकाने लगाया जाता है। कस-जैसा घोरकर्मा पातकी ताक मे है, किन्तु यहा गोवत्सो को चराने के बहाने से गोप-सखाओ के साथ वशी के स्वरो मे राग अलापे जा रहे है। गोपियो के घरो का माखन उडाया जा रहा है, चीर-हरण का विनोद हो रहा है, रास-लीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रो पर आक्षेप करते हैं, वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नही समझते। इतना अवश्य कहेगे कि यदि वे लीलाए न होती तो भगवान श्रीकृष्ण पूर्णावतार या साक्षात भगवान न कहलाते, आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमे न मानी जा सकती। आगे यौवन-चरित्रो मे भी दुष्टो का सहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है। जो सुन्दरिया अपने अनुरूप सुनी जाती है, उनके साथ विवाहो का आयोजन भी चल रहा है। सब प्रकार के झझट भी सुलझाये जा रहे है और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बनाकर अनेक रानियो के साथ आदर्श गार्हस्थ्य सुख का उपभोग भी हो रहा है। पारिजात-वृक्ष लाकर सत्यभाभा के मान का भी अनुरोध रखा जा रहा है, भूमि को स्वर्ग-रूप भी बनाया जा रहा है। अर्जुन-जैसे मित्रो के साथ सैर का आनन्द भी लूटा जा रहा हैं। कदाचित कोई मनचले महाशय प्रश्न करे कि बहुत से पुरुष मद्यपानादि मे या अनेक स्त्रियो के सहवास मे या ऐसे आरामो मे ही अपना जीवन

विताना जीवन का लक्ष्य मानते हैं, क्या उन्हे भी ईश्वर का पूर्णावतार समझा जाय, तो उत्तर होगा कि हा, समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विच्युत न होते, यदि सव प्रकार के ऐसे आराम मे रहकर भी उनमे लौकिक और पारलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सव कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र मे सवको छोडकर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे भोगो के परिणाम-रूप नाना आधि-व्याधि के भयानक शोक-मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समृद्धयानन्द भोगते हुए भी शान्त्यानन्द मे निमग्न रहते, यदि उस दशा मे भी अपने अनुभव के ऐसे सच्चे उद्‌गार

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्‌वत्।
तद्‌वत्कामा य प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि॥

—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

निकालकर ससार को शात-समुद्र मे लहरा सकते। क्या ससार मे कोई जीवन ऐसा दृप्टान्त है, जिसके जीवन मे दु ख का स्पर्श भी न हुआ हो ? जिसने सव प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुए भी अपना पूर्ण कर्त्तव्य-पालन किया हो ? जो ससार मे लिप्त दीखता हुआ भी आत्म-विद्या का पारगत हो ? जो जगत भर का अन्याय हटाने की चुनौती देता हुआ भी भय और चिन्ता से दूर रहे ? नि सन्देह ये परमानन्द परमात्मा के लक्षण हैं, जीव-कोटि के वाहर की वाते हैं।

वेदान्त के ग्रथो मे आनन्द का चिन्ह प्रेमास्पदत्व को माना है, आत्मा को आनन्द रूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परम प्रेमास्पद है। औरो के साथ प्रेम आत्मार्थ होने पर ही सभव है, आत्मा मे निरुपाधिक प्रेम है। भागवत मे, जव ब्रह्मा ने गोप-गोवत्स-हरण किया था और भगवान श्रीकृष्ण ने सव गोप-गोवत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसग मे कहा है कि गौओ को वा गोपो के पिताओ को उनमे वहुत अधिक प्रेम हुआ। परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण वताया कि आत्मा-आनन्द रूप होने से परम प्रेमास्पद है, भगवान श्रीकृष्ण सवके आत्मा हैं, आनन्दमय हैं, अत उनके स्वरूप से प्रकट गोवत्सादि मे अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिए। अस्तु जिसमे अधिक प्रेम हो, वह आनन्दमय होता है,

यह इस प्रसंग से सिद्ध हुआ। इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करे, तो भी भगवान श्रीकृष्ण की आनन्दमयता पूर्णरूप से सिद्ध होती है। जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने वहाया था, वैसा किसी ने नही वहाया। बाल्यकाल से ही सव उनके प्रेम मे बध गये थे। ब्रज के खग, मृग, वृक्ष, लता, भी वशी-ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। गोप-गोपाङ्गनाए अपने कुटुम्वियो से प्रेम छोड उनसे प्रेम करते थे। जो आसुर भाव से दवे हुए थे, उन्हे छोड श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह भूमण्डल को प्लावित कर चुका था। शत्रु भी क्षणमात्र तो उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे, यह हम लिख चुके हैं। उस दिन ही क्यो ? आज भी सव श्रेणी, सव धर्मों व सव जाति के मनुष्यो का जितना प्रेम भगवान कृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नही। एक गवैया यदि गान का अभ्यास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जवान पर आते है। किसी जाति का कोई ऐसा अभागा गायक न होगा जिसने श्रीकृष्ण के पद न गाये हो, तुकवन्दी-वालो तक कोई ऐसा कवि न होगा, जिसने श्रीकृष्ण के सवध मे कभी अक्षर न जोड़े हो। चित्रकला पर जिसने जरा भी हाथ जमाया है, वह श्रीकृष्ण की मूरत एक आध वार अवश्य वना चुका होगा। मूर्ति वनाने का शिल्प जानने वाला, प्राय ऐसा नही मिलेगा, जिसने श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी न वनाई हो। धार्मिक भक्त, विलासी रसिया, राजनीतिक रिफार्मर, न्यू जेण्टलमेन, दार्शनिक, निरपेक्ष, सवके कमरो मे या मकान की दीवारो पर किसी-न-किसी रूप मे नजर आ जायगे। ताना-री-री करने वाले छोटे वच्चे, कुमार, किशोर, मार्ग मे अलापने हुए तानसेन को मात देने की इच्छा रखने वाले रसिया, खेतो के किसान, गावो की भोली-भाली स्त्रिया, सवकी जिह्वा पर किसी-न-किसी रूप मे उनका नाम विराजित सुन पडेगा। और तो क्या, होली मे उन्मत्त जनता भी आपके ही यश को अपनी वाणी पर नचाती है। भक्त लोग अपना सर्वस्व समझकर, धार्मिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दार्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनीतिक नीति के पारगत समझकर देशहितैषी देशोद्धारक समझकर और गोसेवक गोपाल समझकर समय-समय पर उनका स्मरण करते है। साम्प्रदायिक भेद रहते हुए भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्यशक्ति का अवतार कह कर और शैव शिव का अनन्य समझकर उनको भजते है। शिव, विष्णु और शक्ति की उपसाना मे चाहे मतभेद रहे, श्रीकृष्ण-मूर्ति की ओर सवका झुकाव है। भारत के ही नही अन्यान्य देशो के लोग भी कृष्ण-प्रेम से प्रभावित हुए हैं। उनके उपदेशो

और चरित्रो का रूपान्तर से आदर सब देशो मे हुआ है। मुसलमानो मे रसखान, खानखाना, नवाज, ताज बेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही हैं। वर्तमान युग के ईसाइयो मे भी कई विद्वानो ने इस बात की चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्ण का रूपान्तर सिद्ध किया जाय। आज भी, महात्मा गाधी के अनयायी चित्र मे गाधीजी के हाथ मे सुदर्शन दे कर या गोवर्धन-पर्वत उनकी भुजा पर रख कर उन्हे श्रीकृष्ण-रूप मे देखने को उत्सक हैं। यह बात क्या है? क्यो श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह सब को आप्लावित कर रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि वे आनन्द रूप हैं, सर्वात्मा हैं, परब्रह्म हैं। इसलिए प्राकृतिक रूप से सब को विवश हो कर उनसे प्रेम करना पडता है। अस्तु, अव्यय पुरुष की पाचो कलाओ का विकास भगवान श्रीकृष्ण मे परिपूर्ण है।

बहुतो के चित्त मे यह शका होती है कि द्विजो का गौर वर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध क्षत्रिय राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यो हैं? कदाचित कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार है। विष्णु भगवान कृष्णवर्ण हैं, इसलिए ये भी कृष्णवर्ण है, तो वहा भी प्रश्न होगा कि सत्वगुण के अधिष्ठाता भगवान विष्णु का भी कृष्णवर्ण क्यो? सत्व का रूप शास्त्र मे श्वेत माना गया है, रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्णवर्ण हो सकता है, किन्तु सत्व का अधिष्ठाता श्वेतवर्ण होना चाहिए। आइए, पहले इसी प्रश्न पर विचार करें। कृष्णवर्ण तीन प्रकार का है—अनुपाख्य कृष्ण, अनिरुक्त कृष्ण और निरुक्त कृष्ण। सृष्टि के पहले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है—'आसीदिद तमोभूतम् (मन)। यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमे कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ मे आ जाय वह शुक्ल कहलाता है। निगूढ़ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते है। यह औपचारिक प्रयोग है। काला परदा पडने पर कुछ नही दीखता, इसलिए न दीखने वाली वस्तु काली कही जाती है। प्रकाश श्वेत मालूम होता है, इसलिए प्रकाशमान वस्तु को श्वेत कहते हैं। कार्य जब तक उत्पन्न न हो, तब तक अपने कारण मे निगूढ रहता है, उसका ज्ञान हमे नही होता, इसलिए कार्य की अपेक्षा से कारणावस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते हैं। सब जगत जहा निगूढ है, जहा आज दीखने वाले जगत का कोई ज्ञान नही, उस सब जगत की कारणवस्था पूर्वावस्था को दृश्यमान जगत की अपेक्षा कृष्ण ही कहना पडेगा। इसलिए सब जगत के कारण भगवान विष्णु वा आद्याशक्ति

कृष्णवर्ण ही कहे जाते हैं। इस कृष्ण का हमे कभी अनुभव नही होता, यह केवल शास्त्रवेद्य है, इसलिए इसे अनुपाख्य कृष्ण कहेगे।

· ५ ·

श्रीकृष्ण और भक्ति-मार्ग

श्रीमद्भागवत मे वैसे बहुत सी कथाए प्रसगोपात्त कही गई है, परन्तु भागवत के चरितनायक तो श्रीकृष्ण ही है। भागवत के परम विद्वान और भक्त स्वामी अखडानन्दजी कहते हैं—

श्रीकृष्ण और भागवत

"सर्वान्तर्यामी सर्वातीत एव सर्व-स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण का भागवत के साथ क्या सबध है—यह बात पद्मपुराणवाले माहात्म्य मे तीन प्रकार से बताई गई गई है—एक तो यह कि श्रीमद्भागवत क्षीर सागर है, और भगवान श्रीकृष्ण इसके पद-पद अक्षर-अक्षर मे अव्यक्त अन्तर्यामी रूप से विराजमान है, "**तिरोधाम प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्**"। दूसरी यह कि '**गौरवेण इद महत्**'। अनिर्वचनीय महिमा सब से अतीत होती है। वक्ता, वचन और वाच्य का भेद उसमे नही हुआ करता। अनिर्वचनीय वस्तु 'इदम्' पद से निर्वचनीय न होने के कारण स्वरूप भूत ही होती है। तीसरी बात यह है कि श्रीमद्भागवत भगवान कृष्ण की ही मूर्ति है—'**तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षावर्त्तते हरे**'। इन तीनो सबधो पर विचार करने से जान पडता है कि भगवान श्रीकृष्ण का स्वरूप भागवतान्तर्यामी, भागवतातीत और भागवत-रूप है। इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत के पद-पद मे, अक्षर-अक्षर मे, भगवान श्रीकृष्ण के त्रिविध स्वरूप का साक्षात्कार होता है। अवश्य ही यह बात केवल पद-ज्ञान से नही होती, इसके लिए पर्याय शब्दो से कोई सहायता नही मिलती, यह बात होती है पद के वाच्यार्थ का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर, लक्ष्यार्थ का इगित समझ लेने पर। फिर तो भागवत के घट, पट, मठ आदि शब्दो के अर्थ के रूप मे भी श्री भगवान श्रीकृष्ण की ही उपलब्धि होती है, और भागवत मे कही भी किसी हेयाश का प्रकरण नही मिलता। यही बात भागवत को 'रसम्' कह कर सूचित की गई है।"

ऐसी स्थिति मे श्रीमद्भागवत के अमुक प्रकरण मे ही भगवान श्रीकृष्ण की लीला है यह कहना नही बनता। भागवत का सब कुछ श्रीकृष्ण की ही लीला है। उसका प्रकाश कही व्यक्त रूप से है और कही अव्यक्त रूप से। जहा अव्यक्त रूप से है, वहा भी सहृदय लोगो के लिए सकेत विद्यमान है। ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, दैत्य, देवता और सभी पदार्थों को स्थान-स्थान पर भगवत-स्वरूप बतलाकर भावुक भक्त और तत्वज्ञ के लिए इस बात का स्पष्ट सकेत कर दिया गया है कि जहा जिस रूप मे भगवान श्रीकृष्ण अपना ऐश्वर्य गुप्त रखकर विहार कर रहे हैं, वहा भी वे उन्हे पहचान जाय।

श्रीमद्भागवत इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की पूर्णता का प्रतिपादन करती है और उन्ही मे समा जाती है। श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण हैं, वह श्रीकृष्ण मे हैं। वास्तव मे श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय वस्तु तथा सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवत को जानना श्रीकृष्ण को जानना है। श्रीकृष्ण को जानना श्रीमद्भागवत को। इसलिए श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण के सबध का नही, स्वरूप का ज्ञान ही अपेक्षित है और यह भी एक लीला है।

आर्यों का उत्कर्ष और श्रीकृष्ण

श्रीराम के समय मे आर्य जाति के निवास पजाव मे तथा पूर्व मे हिमालय से लेकर गगा तक फैले हुए थे, श्रीकृष्ण के समय मे गगा के दक्षिण की ओर विन्ध्य-पर्वत के सम्पूर्ण भाग तक पहुच गये थे। गुजरात, बगाल मे भी कही-कही पहुच पाये थे। विन्ध्य के दक्षिण मे विदर्भ-वरार मे भोज लोग जा बसे थे। उसके भी दक्षिण की ओर सह्याद्रि के पठार पर माहिष्मती (सभवत मैसोर), करवीर, वनवासी और रत्नपुर— ये राष्ट्र नाग-कन्याओ से उत्पन्न यादवो ने स्थापित कर लिये थे। आर्य-राष्ट्र भारत मे सब तरह सम्पन्न और सुखी हो रहा था। धर्म नीति और उन्नति की पराकाष्ठा हो गई थी। कुरु, पाचाल, शूरसेन, चेदि, करुष, मगध, भोज, आनर्त, पचनद, केकय, कोसल, विदेह इत्यादि अनेक राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुच गये थे। श्रीराम-काल को यदि आर्यों की उन्नति का श्रीगणेश कहे तो श्रीकृष्ण-काल मे वह उन्नति चरमावस्था को पहुच गई थी। श्रीराम के समय आर्यों के नेता सूर्यवशी थे, तो श्रीकृष्ण काल मे चन्द्रवशी क्षत्रिय थे। दोनो ही वैदिक धर्म के अनुयायी थे। धर्म और नीति मे दोनो ही उदात्त आचार रखते थे।

आर्य मूलत. गोरे थे, किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि चन्द्रवशी क्षत्रिय कुछ काले रग के होगे। गगा के दक्षिण भाग के उष्ण-प्रदेश मे बसने के कारण उनका रग काला या सावला हो गया होगा, क्योकि श्रीकृष्ण काले-सावले थे। अर्जुन भी ऐसा ही था। द्रौपदी तो काली थी ही। कृष्ण-द्वैपायन व्यास भी काले ही थे। इस समय अनार्य नाग आदि कन्याओ से विवाह-सबध होने के कारण भी रग मे फर्क पड़ गया होगा।

श्रीकृष्ण के काल मे ही आर्यों के उत्कर्ष मे घुन लगने लग गया था। श्रीकृष्ण के अन्त तक वह लगभग मटियामेट हो गया। जरासघ, दुर्योधन, कंस-जैसे आसुरी प्रवृत्ति के मदान्ध राजा पैदा होने लगे थे। भौतिक सुख-प्रवृत्ति-प्रधानता का जोर बढ गया था। इसीका परिणाम अन्त मे महाभारत तथा यादव-वश का नाश था। यह सारा कटु कर्तव्य श्रीकृष्ण को अपने ऊपर लेना पडा। उस समय वहा एक ओर ऐश्वर्य-भोग-लालसा उठ रही थी और दूसरी ओर निवृत्ति-वाद भी बल पकड रहा था।

श्रीकृष्ण-काल उपनिषत्काल के आसपास माना जाता है। वेद-प्रतिपादित कर्म-काण्ड प्रवृत्ति मार्ग उपनिषत्काल मे शिथिल पडकर ज्ञान-प्रधान निवृत्ति-परायणता बढती जा रही थी। इन दोनो छोरो का समन्वय श्रीकृष्ण को रखना पडा। दोनो को उचित सीमा मे उन्होने बाध दिया। जीवन मे सम्यक्ता, सतुलन, साम्ययोग, कर्तव्य-पालन मे दृढता किन्तु फल के प्रति अनासक्ति आदि मूल्यो को श्रीकृष्ण ने बढावा दिया। अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश के द्वारा जन-समाज को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो के मध्य बिन्दु पर लाने का प्रयत्न किया। न उन्होने तप का निषेध किया, न सन्यास का, न यज्ञ का। बल्कि तीनो को उदात्त रूप दिया और लोक-कल्याण मे उन्हे लगाने पर जोर दिया। सभी मतो को उन्होने उचित महत्व देकर उनका समन्वय किया और निरपेक्ष फलेच्छारहित कर्म नये कर्तव्य-सिद्धान्त की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया। भगवद्गीता मे उनके दिये उपदेश का यही सार है।

श्रीकृष्ण द्वारा समन्वय

इसी गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भक्ति-मार्ग का भी उपदेश दिया। स्व० चितामण विनायक वैद्य का मत है कि भक्ति-मार्ग अथवा भागवत धर्म के प्रथम उपदेष्टा श्रीकृष्ण ही थे। श्रीकृष्ण के कारण ही इस मत का नाम

'भागवत' पडा। इसीका एक विशिष्ट स्वरूप 'पाचरात्र मत' है। इस ज्ञान को श्रीकृष्ण ने 'गीता' मे 'राजविद्या-राजगुह्य' कहा है। अन्त मे अठारहवें अध्याय मे 'सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज', इस श्लोकार्ध मे उन्होंने यह 'गुह्यतम' मत्र दिया। अनन्य भाव से एक परमेश्वर की प्रेम-पूर्वक भक्ति करके उसके शरण जाना—यह उन्होंने मोक्ष का सबके लिए सरल मार्ग बताया।

भक्ति-मार्ग

उस समय आर्यों मे तीन वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। चन्द्रवशी क्षत्रियो की बस्तिया चारो ओर होने पर चौथा शूद्र वर्ण उनमे मिल गया। और भी अनेक मिश्रवर्ण उत्पन्न हुए। इन्हीका बहुजन समाज हो गया। इनके लिए यज्ञ, सन्यास, योग आदि मार्ग बन्द हो गये। तब यह प्रश्न जोरो से उठ खडा हो गया कि अपढ लोगो के लिए भी कोई सरल मोक्ष-मार्ग हो सकता है या नही? तब श्री-कृष्ण ने सबको भक्ति-मार्ग का पाठ पढाया और उन्हे उसकी ओर आकर्षित किया। इसमे सभी वैश्य, शूद्र, चाण्डाल सबके लिए मोक्ष का मार्ग खोल दिया—अपनी अनेक विभूतिया बताकर भिन्न-भिन्न मतो मे जबरदस्त समन्वय किया—विविधता मे एकता का मार्ग बता दिया। 'राम शस्त्रभृताह', 'वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि' आदि कहकर उन्होने आध्यात्मिक एकता की दीक्षा सबको दी।

उपासना का हेतु

राम और कृष्ण दोनो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो वाली महान विभूतिया हैं। हम जिन देवो के समान बनना चाहते हैं वे हमारे इष्टदेव कहलाते हैं। उपासना का हेतु है उपास्य के समान बनना। राम और कृष्ण की सच्ची उपासना तभी की जा सकती हे जब हममे उनके समान बनने की अभिलाषा जागे।

श्रीकृष्ण की उपासना मोहक है, पर सरल नही। सहजानद स्वामी ने कहा है—कृष्ण की रसिक भक्ति से भ्रष्ट तो अनेक हो चुके हैं, पर तरनेवाले विरले ही हुए हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो गोपी बनकर कृष्ण की भक्ति करने की विकृत रीति, और दूसरे जीवन को उत्सव मानने से मनुष्य की स्वाभाविक भोगवृत्ति को मिलनेवाला प्रोत्साहन।

उपास्य देव और भक्त के बीच का सबध कई प्रकार का हो सकता है, माता अथवा पिता और पुत्र का, बन्धुत्व का, मित्रता का, पति-पत्नी का, पुत्र और माता-पिता का अथवा स्वामी-सेवक का। इन सबधो मे से हम अपने इष्टदेव को जैसा

सबधी बनाते है उसके प्रतियोगी सबधी के भाव हममे प्रतिबिंबित होते है और धीमे-धीमे उस सबध के योग्य लक्षण हमारा स्वभाव बन जाते है। यदि हम अपने इष्ट-देव की उपासना माता-पिता के रूप मे करते हैं और यदि हमारी भक्ति सच्ची होती है, तो हममे आदर्श पुत्र के गुण प्रकट होते हैं। इसी प्रकार यदि हम इष्टदेव को पति के रूप मे भजते हैं तो हममे स्त्रीत्व के भाव जागते है। जार के रूप मे भजे तो हममे वैसी स्त्री के हाव-भाव प्रकट होगे। उपासना-भक्ति मनुष्य को पूर्णता तक पहुचाने वाला योग है।

कृष्ण हमारे भक्ति भाव का भूखा है। यदि हम उसके साथ अनन्य भाव से प्रेम करते है तो वह हमारी त्रुटिया नही देखता, वह हमे निवाह लेता है, सुधार लेता है और हमे शीघ्र ही शुद्ध तथा शान्त बना देता है।

जैसे-जैसे उमर बढती गई वैसे-वैसे बलराम और कृष्ण दोनो की बुद्धि बल भी बढता गया और वे दोनो बूढे गोपो के लिए भी बहुत उपयोगी बनने लगे।

कृष्ण-भक्ति

अपने बढते हुए बल के साथ ही उन दोनो की, और विशेषकर कृष्ण की पर दुख भजनता भी बढने लगी। उन्होने अपनी ही शक्ति से दो बार गोपो को दावानल से बचाया और अतिवृष्टि से उनकी रक्षा की। कालिय नाग का दमन करके यमुना को निर्विष बनाया और जगली गधो का नाश करके वन को भयरहित किया। इसीके साथ उनका प्रेमल स्वभाव भी दिन-पर-दिन विकसित होता गया। उनकी मधुर मुरली से निकलनेवाला स्नेह रस गायो को भी ठिठका देता था। उनके रासो मे अद्भुत आनद-रस प्रकट होता था। कृष्ण की पवित्र प्रेमलता के कारण गोप-गोपियो के चित्त उनके प्रति कुछ ऐसे आकर्षित हुए कि सासारिक जीवन मे उन्हे कोई रस नही रह गया।

अवनति के काल मे जब हमारे देश मे भावनाओ का शुद्ध विकास रुक गया और उनकी पवित्रता को समझने की हमारी शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि कही भी स्त्री-पुरुष के बीच परिचय देखकर हमे उसमे अपवित्रता की ही गध आने लगी, उस काल मे कृष्ण की इस आत्यन्तिक स्वाभाविक प्रेमभक्ति की कथा ने हमारे देश मे विकृत स्वरूप धारण करना शुरू किया, और भक्तो ने उसीको जनता के सामने आदर्श के रूप मे रखने का साहस किया। जिन दिनो कृष्ण के निर्दोष चरित्र

को जार के रूप मे चित्रित किया, उन दिनो हमारे देश की सामाजिक स्थिति कैसी रही होगी, यह विचार करने योग्य है। इसके सहारे यशोदानन्दन के चरित्र का अनुमान करना एक साहस ही माना जायगा।

रासलीला तथा गोपियो के साथ अश्लाघ्य व्यवहार करने का आरोप श्रीकृष्ण पर आलोचक लोग अक्सर लगाते हैं। उसके समाधान मे स्व० वैद्य लिखते हैं—

रास-लीला का रहस्य

"श्रीकृष्ण के समय मे ऐसा आरोप किसीने उनपर नही लगाया। गोपियो का जो प्रेम श्रीकृष्ण से था वह निर्व्याज व विषयातीत था, ईश भावना से प्रेरित था। महाभारत मे ऐसा ही मालूम होता है। महाभारत को वर्तमान रूप ईसा पूर्व २५० के लगभग प्राप्त हुआ। उस समय तक ऐसा ही विचार प्रचलित था। द्रौपदी ने वस्त्र-हरण के समय श्रीकृष्ण से जो पुकार की थी उसमे उसने उन्हे 'गोपी-जन-प्रिय' सबोधन किया था। इसका अभिप्राय इतना ही था कि श्रीकृष्ण दीन-अबलाओ के त्राता थे। यदि कोई निन्द्य अभिप्राय होता तो द्रौपदी को अपने पाति-व्रत की रक्षा के समय श्रीकृष्ण याद नही आते। इसके अलावा शिशुपाल ने राजसूय-यज्ञ मे अर्घ-ग्रह के प्रसग पर श्रीकृष्ण की तरह-तरह से निन्दा की। उसमे भी श्रीकृष्ण पर यह आरोप उसने नही लगाया। श्रीकृष्ण बचपन से ही मल्लविद्या के शौकीन थे। उस बाल मल्ल ने कस-जैसे को पछाड मारा। यदि वह कामी होता तो ऐसा पराक्रम कैसे दिखला सकता था। फिर उस समय श्रीकृष्ण की उम्र भी ७ से १४ वर्ष के भीतर थी। छोटे-छोटे लडके-लडकी आपस मे नाच, गान, आलिगन आदि प्रेमाचार सहज भाव व निर्दोष भाव से करते हैं। उससे अधिक श्रीकृष्ण के साथ गोपियो के व्यवहार को नही मानना चाहिए। इसीका विकास रासलीला मे समझना चाहिए। मूलत सीधी-सादी घटनाओ को कवियो और भक्तो ने, अपनी-अपनी भावनाओ के अनुसार अनेक रगो मे चित्रित किया है। इन चित्रो मे कवियो की भावनाओ और धारणाओ पर तत्कालीन समाज की स्थिति का भी प्रभाव पडा है।

परन्तु कुछ भक्त और विद्वान लेखक इस सफाई की आवश्यकता नही मानते। वे भी कृष्ण को ईश्वर मानकर उन घटनाओ को 'ईश्वरीय लीला' की कोटि मे बिठाते हैं और कहते हैं कि ईश्वर ने जो किया उसका अनुकरण साधारण जन को नही करना चाहिए—उसने जो आदेश दिया उसका पालन करना चाहिए।

इसलिए वे कहते है कि श्रीकृष्ण ने जो कुछ किया, अपनी दृष्टि से और अपनी भावना से ठीक ही किया है, परन्तु उसका अनुकरण हमे न करके धर्म, नीति, सदाचार-सबधी उनके मन्तव्यो और आदेशो का ही पालन करना उचित है।

श्री किशोरलाल घ० मश्रुवाला के मत मे—"गोपियो के प्रति कृष्ण का प्रेम कैसा रहा होगा ? पाच वर्ष का बालक अपनी माता के सिवा अन्य स्त्रियो को किस भाव से देखता होगा ? हम ससारी लोग यह जानते हैं कि सयाना आदमी पराई स्त्री के प्रति मा-बहन या बेटी के सबध की भावना प्रयत्न-पूर्वक खडी करके ही निर्दोष रह सकता है। इसका कारण यह है कि हम बचपन की अपनी निर्दोषिता गवा बैठे है। क्या बालक को ऐसी भावना बनानी पडती है ? जिसके हृदय मे कु-विचार जाग चुकता है उसे फिर से निर्दोषिता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पडता है। पर बालक के लिए तो वह सहज है। किन्तु हम यह मानते है कि अमुक उम्र के बाद चित्त की निर्दोष स्थिति की कल्पना नही की जा सकती। हमारे युग के मलिन वातावरण का ही यह एक परिणाम है। जब हम अपने चित्त को फिर से शुद्ध करके उम्र मे बडे होने पर भी पाच वर्ष की उम्र का अनुभव पुनः कर सकेंगे तभी हम कृष्ण के प्रेम को समझने के योग्य होगे। उस दशा मे कृष्ण को कलक लगाने का, उस कलक को दिव्य मानने की और उसपर किसी भाष्य की रचना करने की आवश्यकता नही रहेगी। जो सहज होना चाहिए, उसकी प्रतीति होने पर हमे विश्वास हो सकेगा कि गोपी-जन-प्रिय कृष्ण सदा निष्कलक और ब्रह्मचारी थे। युवक होते हुए भी बालक के समान थे और उनके प्रति गोपियो का प्रेम भी उतना ही निर्दोष था।"

कृष्ण और गोपियां

पुरुष के लिए पौरुष का विकास और स्त्री के लिए स्त्रीत्व का विकास पूर्णता है। पुरुष मे स्त्रीत्व का भाव और स्त्री मे पुरुषत्व का भाव अधोगति है। यदि पुरुष अपने को स्त्री मानता रहेगा तो वह अपने पौरुष को गवाने का मार्ग पकडेगा। इससे उसे स्त्रीत्व की पूर्णता की प्राप्त होगी नही, उल्टे पुरुषार्थ घटेगा और स्त्री को शोभा देनेवाले और पुरुष को कलक लगानेवाले हाव-भाव ही केवल उससे प्रकट होगे। इसके कारण भोगवृत्ति भी भडक सकती है और अतिशय दृढ जागृति न रही तथा भक्ति की उत्कटता न हुई तो अधःपतन निश्चित ही है। भारत मे

गोपी-भक्ति

राधा अथवा गोपी के रूप मे कृष्ण की उपासना करनेवाले अनेक भक्त हो चुके है। उन सबके जीवन की ज.च करने पर वहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे, जो ब्रह्मचारी, वीर अथवा विलास के प्रति उदासीन रह पाये हो। इसके विपरीत, हनुमान, रामदास, तुलसीदास आदि के समान प्रसिद्ध राम-भक्त अपने ब्रह्मचर्य, शौर्य, पुरुषार्थ और वैराग्य आदि के लिए विख्यात हो चुके हैं। गोपी की भक्ति मीरावाई के जीवन मे जिस प्रकार सुशोभित हुई है उस प्रकार पुरुषो मे हो ही नही सकती, और सन्यासियो मे तो और भी कम।

स्वामी अखण्डानदजी इस विषय मे कहते हैं—

"श्रीकृष्ण वैरागी भी थे। गोपियो से उनका इतना प्रेम था, फिर भी मथुरा जाने के वाद एक बार भी वृन्दावन नही आये। यह विराग नही तो क्या है? यदि उनके गोपी-प्रेम, रास-लीला आदि को काम का विकार या प्रकोप भी कहे, तो क्या उनका यह रुख कामी पुरुष के लिए शक्य है? कस की मृत्यु के बाद वहा का राज्य श्रीकृष्ण के चरणो पर लोटता था। युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य क्या श्रीकृष्ण के चरणो पर निछावर नही किया था? परन्तु उनकी ओर न ताककर उग्रसेन और धर्मराज के यहा सेवा का कार्य करना क्या अखण्ड वैराग्य का चिन्ह नही है? सोलह हजार पत्नियो के रहते उन्हे कभी किसी ने उनमे आसक्त नही देखा। यह अविचल वैराग्य नही तो क्या है?—'**पत्न्यास्तु षोडशसहस्रमनंग-बाणैर्यस्येन्द्रिय विमथितु करणैर्न विभ्व्य**।' पुत्रो की वहुत वडी सख्या थी। श्री-कृष्ण सबको प्यार करते थे। परन्तु ऋषियो के शाप से उन्होने किसी एक की भी रक्षा नही की। सोने की द्वारका पलक मारते जल मे डूव गई—पर विरक्त की तरह सब देखते रहे।"

एक दूसरे विद्वान ने रासलीला का वैज्ञानिक प्रतिपादन 'कृष्ण' और 'राधा' नामो को लेकर इस प्रकार किया है—

"जिसका अनुभव तो हो, किन्तु 'इदमित्थम्' रूप से एक केन्द्र मे पडकर निर्वचन न किया जा सके, वह अनिरुक्त कृष्ण है। जैसे ऊपर आकाश मे अन्धकार मे या आख मीच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है, किन्तु वह सर्वरूप का अभाव कालेपन से भासित है, किसी केन्द्र मे पडकर उस काले रूप को निरुक्त नही किया जा सकता। तीसरा निरुक्त कृष्ण कोयला आदि पदार्थों मे है। इनमे अनुपाख्य कृष्ण का अनिरुक्त कृष्ण मे और अनिरुक्त कृष्ण का निरुक्त कृष्ण मे अवतार होता

है। या यो कहे कि पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चन्द्रमा, पृथ्वी और सूर्य ये तीनो मण्डल निरुक्त कृष्ण है। यह वैदिक सिद्धान्त है। पृथ्वी को वेद मे कृष्णा कहा जाता है, अन्धकार पृथ्वी की काली किरणो का ही समूह है—यह भी वेद मे प्राप्त होता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण' (शतपथ, १३।२।१।७) इत्यादि श्रुतियो मे चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा है, और 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्' इत्यादि मत्रो मे सूर्य-मडल को भी कृष्ण कहा है, और हिरण्यमय प्रकाश-भाग को सूर्य का रथ वताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाश, मडल एव योगज है, कई प्राणो के सवध मे वनता है, सूर्य-मण्डल स्वभावत कृष्ण ही है। आज के वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त के अनुकूल ही जा रहे है। अस्तु इन तीनो से परे जो परमेष्ठी-मण्डल है, वह अनिरुक्त कृष्ण है। रूपो का अधिदेवता सूर्य है, सूर्य-किरणो से ही सव रूप वनते है, अत सूर्य-मण्डल की उत्पत्ति के पूर्व परमेष्ठी-मण्डल मे कोई रूप नही कहा जा सकता। उसे 'आपोमय मण्डल' वा 'सोममय मण्डल' कहा जाता है। सोम, वायु और आप तीनो एक ही द्रव्य की अवस्थाए मानी जाती है। वायु घनीभूत होने पर 'आप' अवस्था मे आ जा ी है, और तरल होने पर 'सोम' अवस्था मे। इसी द्रव्य मे अनिरुक्त कृष्ण वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणो द्वारा वहुत वडे आकाश-प्रदेश मे व्याप्त है। सूर्य यद्यपि हमारे लिए वहुत वडा है, किन्तु इस सोम-मण्डल की अपेक्षा उसकी स्थिति (पोजिशन) ऐसी ही है, जैसी घोर अन्धकारमय जगल मे एक टिमटिमाते दीपक की। एक सूर्य का प्रकाश जहातक पहुचता है उसकी परिधि-कल्पना कर वहातक ब्रह्माण्ड समझा जाता है। उस परिधि से वाहर अनन्त आकाश मे यह अनिरुक्त कृष्ण, सोम व आप भरा हुआ है। वही अनिरुक्त कृष्ण काले आकाश के रूप मे हमे प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है, और सूर्य-प्रकाश की प्रतिमा 'राधा' है। 'राध' धातु का अर्थ है 'सिद्धि'। सूर्य प्रकाश मे ही सव व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते हैं, अत 'राधा' नाम वहां अन्वर्थ (सार्थक) है। कृष्ण श्यामतेज है, राधा गौर तेज। कृष्ण के अक मे (गोद मे) अर्थात श्याम तेजोमय मण्डल के वीच मे राधा विराजित है। ब्रह्माण्ड की परिधि के भीतर भी वह सोम-मण्डल व्याप्त है। जैसे व्यापक आकाश मे कोई दीवार (भित्ति) वनाई जाय, तो हमे प्रतीत होता है कि यहा अव आकाश (अवकाश) नही रहा। किन्तु यह भ्रम है। उस दीवार के आधार-रूप से आकाश वहा मौजूद

है, उसीमे दीवार है, और दीवार हटते ही फिर आकाश-ही-आकाश रह जाता है। इसी प्रकार, सूर्य-प्रकाशित होने पर वह कृष्ण सोम-मण्डल मे हमे प्रतीत नही होता, किन्तु प्रकाश उसी के आधार पर है, वह प्रकाश मे अनुस्यूत है और प्रकाश हटते ही (सूर्यास्त होते ही) फिर वह श्याम-तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर विना अन्धकार के प्रकाश और विना प्रकाश के अन्धकार कही नही रहता, दोनो परस्पर अनुस्यूत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहा एक दीपक का प्रकाश हो, वहा दूसरा दीपक और लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है, तीसरा दीपक आवे तो और भी अधिक। दीपक जितने अधिक होंगे, प्रकाश मे उतनी ही स्वच्छता आती जायगी। भला यह क्यो? जब एक दीपक के प्रकाश ने अपनी व्याप्ति के प्रदेश मे से अन्धकार हटा दिया, तब फिर उसी प्रदेश मे दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि हमे अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है। मानना पडेगा कि एक दीपक का प्रकाश रहने पर भी उसमे अनुस्यूत अन्धकार था, जिसे दूसरे दीपक ने हटाया, फिर भी जो शेष था, उसे तीसरे और चौथे ने। स्मरण रहे कि श्याम-तेज ही अन्धकार-रूप से प्रतीत हुआ करता है। यो, प्रकाश मे अनुस्यूत श्याम तेज जब सिद्ध हो गया, तब मानना होगा कि हजारो दीपो का वा सूर्य का प्रकाश रहने पर भी आशिक श्यामतेज की व्याप्ति हट नही सकती। वह आकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान मे अनेक दीपक हो, वहा भी एक दीपक के सम्मुख भाग मे कोई लकडी आदि आवश्यक पदार्थ रखें, तो उसकी धीमी-सी छाया, उसके सम्मुख भाग मे, प्रतीत होगी। जितने अश मे प्रकाश का आवरण होकर स्वतः सिद्ध तम दीख पडता है, उसे ही छाया कहते हैं। जब एक दीप के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपो का प्रकाश उसी स्थान मे मौजूद है, तब यह छाया की प्रतीति क्यो? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अन्धकार के अश को हटाता था, उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अश छायारूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निविड अन्धकार मे भी प्रकाश का कुछ भी अश न रहे, तो अन्धकार प्रत्यक्ष ही न हो सके। विना प्रकाश की सहायता के नेत्र-रश्मि कोई कार्य नही कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौर-तेज और श्याम-तेज राधा और कृष्ण, अन्योन्य आलिंगित रूप मे ही सदा रहते हैं, कभी कृष्ण के अक मे राधा छिपी हुई है, कभी राधा के अचल मे कृष्ण दुबक गये हैं। इसीसे दोनो एकरूप माने जाते हैं।

एक ही ज्योति के दो विकास हैं, और एक के बिना दूसरे की उपासना निन्दित मानी गई है—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥
तस्माज्योतिरभूद् द्वैधा राधामाधवरूपकम् ।
(सम्मोहन तंत्र, गोपालसहस्रनाम)

इस विष्णु-रूप परमेष्ठिमण्डल का अवतार होने के कारण भगवान श्रीकृष्ण का श्याम रूप था, और गौर वर्णा भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य तादात्म्य सबध था, निरतिशय प्रेम था। वहा राधा (प्रकाश-भाग) परमेष्ठिमण्डल की अपनी नही, परकीया है, इसलिए यहा भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह सबध नही है। परमेष्ठिमण्डल को वेद मे 'गोसव' और पुराण मे 'गोलोक' कहा गया है; इसका कारण है कि गो, जिन्हे किरण कह सकते है, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमण्डल मे ही होती है। आगे के मण्डलो मे उन गौओ का विकास है, अतएव सूर्य और पृथ्वी के प्राणो मे 'गौ' नाम आया है। इन गौओ का विवरण ब्राह्मण-ग्रथो मे बहुत है। ये प्राणि-विशेष है। हमारे 'गौ' नाम से प्रसिद्ध पशु मे इस प्राणि की प्रधानता रहती है, अतएव यह 'गौ' भी हमारी आराध्य है। अस्तु, 'गौ' का उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी 'गोपाल' है। प्रथमत 'गौ' उसे प्राप्त हुई—इसलिए 'गोविंद' है। अतएव हमारे चरित-नायक भगवान कृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गौओ के सहचारी बने, और गोपाल वा गोविन्द कहलाये। इसी प्रकार परमेष्ठी का इन्द्र से सख्य (साहचर्य) है। (देखे—पूर्व आधिदैविक क्षर कलाओ का विवरण) परमेष्ठि के आगे इन्द्र-मण्डल उत्पन्न होता है, और इन्द्र परमेष्ठी से ही बद्ध है, इसलिए भगवान श्रीकृष्ण का भी इद्राश अर्जुन से साहचर्य-पूर्ण सौहार्द रहा।

"आगे चन्द्र-मण्डल भी अवतारो मे (क्षर की आधिदैविक कलाओ) मे आया है। उसके प्राणो का प्रतिफल भी कृष्णचरितो मे बहुत-कुछ दीख पडता है। चन्द्रमा समुद्र (आपोमय मण्डल) मे रहता है।

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
(ऋग्वेद)

इसलिए भगवान श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच मे द्वारका बसाकर रहे। चन्द्र-

मण्डल श्रद्धामय है, इस कारण भगवान श्रीकृष्ण मे भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणो के भी अपने हाथो से चरण धोना, स्वय उनके चरण दवाना, देवयजन, शिवाराधन आदि श्रद्धा के बहुत-से निदर्शन हैं। रासलीला का भी चन्द्रमा से वहुत सबध है। चन्द्रमा राशिचक्र मे रासलीला करता रहता है। प्राचीन काल मे नक्षत्रो की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रो की मध्यवर्तिनी होने से रासेश्वरी है, उसका दूसरा नाम 'राधा' भी है। अतएव उसके आगे के नक्षत्र को अनुराधा कहते हैं। विशाखा पर जिस पूर्णिमा का चन्द्रमा रहता है—उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। सम्मुख-स्थित सूर्य की सुषुम्ना-रश्मि से विशाखायुत चन्द्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका का सूर्य वृष राशि का है, अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्ण चन्द्रमा (पूर्णिमा का चन्द्रमा) राधा के ठीक सम्मुख भाग मे कृत्तिका पर आता है, तब कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन होता है इत्यादि। ये सब घटनाए भगवान श्रीकृष्ण की 'रासलीला' मे भी समन्वित होती हैं।"

: ६

श्रीकृष्ण-निर्वाण

मूसलपर्व मे कृष्ण की मृत्यु का वर्णन महाभारत के सर्वाधिक प्रभावशाली और नाटकीय प्रसगो मे से एक है। कृष्ण के सबधियो अर्थात द्वारका के वृष्णियो के विलास और स्वार्थ ने उनका अपना विनाश तो किया ही, लज्जित और दुखी कृष्ण और बलराम को भी इस ससार का त्याग करने पर विवश कर दिया। महाभारत युद्ध के पश्चात मूर्ख और विजय-गर्वोन्मत्त वृष्णि नशे और आमोद-प्रमाद मे डूब गए और उनमे आपसी कलह का सूत्रपात हुआ। अपने अज्ञानी आवेश मे उन्होने अपना ही सर्वनाश कर लिया। यहातक कि समुद्र के किनारे उगी हुई लम्बी पतली घास से भी मृत्यु का व्यापार करने वाले भालो का काम किया और विचारहीन विनाश किया। एक बार धृष्ट और श्रद्धाहीन वृष्णियो ने अपने मद मे चूर होकर कुछ ऋषियो का घोर अपमान किया था। इसपर ऋषियो ने श्राप दिया था कि उनका विनाश हो जायगा। यह शाप सत्य हुआ। नगर मे मृत्यु का

साम्राज्य था। शेष सम्पूर्ण जनता का पूर्ण चारित्रिक पतन हो गया था। यह देखकर बलराम धरती पर बैठ गए और उन्होने समाधिस्थ होकर अपने प्राण त्याग दिये। कृष्ण भी वनो से भरे-पूरे सागर-तट पर चले गए और जमीन पर लेटकर ध्यानस्थ हो गये। एक शिकारी को लगा कि पेड़ो के बीच कोई जगली पशु लेट रहा है और उसने अपना तीर चला दिया। तीर उनके पैर के तलवे मे बिंध गया। इस प्रकार कृष्ण-वासुदेव ने अपने मानव-शरीर का त्याग किया और पृथ्वी पर अवतार रूप मे उनके कृत्यो का अन्त हुआ।

कृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर अर्जुन द्वारका आये। वहा की विनाश-लीला देखकर उनका हृदय अपार दु ख से भर गया। वह कृष्ण की सोलह हजार पत्नियो तथा वृद्धो और बच्चो को अपने साथ लेकर द्वारका से कुरुक्षेत्र की ओर चल पडे। रास्ते मे डाकुओ ने दल पर हमला कर दिया और अनेक स्त्रियो का अपहरण कर लिया। अर्जुन को यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि उनका पहले का शौर्य एकदम गायब हो चुका है और वह इतने कमजोर हो गए हैं कि अपना प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष तक नही उठा सकते। अर्जुन की आत्मा कृष्ण और कृष्ण की आत्मा अर्जुन (सभापर्व ३१-५३)। इसके अतिरिक्त, अर्जुन कृष्ण के अर्द्धांग हैं (द्रोण-पर्व ३२-७७)। फिर क्या आश्चर्य कि अपनी परम आत्मा, ईश्वरावतार कृष्ण के प्रस्थान के पश्चात अर्जु न शक्तिहीन हो गए और अपने सबधियो तक की रक्षा करने मे असमर्थ रहे।

लगभग १००० ईसापूर्व भरत-राजवश के सदस्यो के बीच हुए इस क्रूर युद्ध का भारतीय जनता के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडा। युद्ध के बाद वीर प्रशस्तिया, जातियो के इतिहास, कहानिया और उपदेश आपस मे गुथकर 'महाभारत' का रूप धारण कर सके और इस प्रक्रिया मे लगभग १००० वर्ष लग गये। यह प्रक्रिया ईसवी सन् की प्रारभिक शताब्दियो मे ही पूरी हो सकी। पाणिनि और आश्वलायन दोनो ने 'भारत' और 'महाभारत' का जिक्र किया है। व्यास का मूलग्रथ 'भारत' था जिसमे २४००० छन्द थे। पीढी-दर-पीढी इसका प्रचलन चारणो द्वारा होता रहा और बाद मे भृगुवशियो ने इसमे अनेक आख्यायिकाए और जनश्रुतिया तथा नैतिक एवं धार्मिक बातें जोडकर इसे 'महाभारत' का विस्तृत रूप दिया। परम्परा के अनुसार आश्वलायन को शौनक का शिष्य कहा जाता है। महाभारत को अतिम रूप प्रदान करने मे शौनक का भी योग था। इस महान काव्य की प्रेरणा

और रूपरेखा निस्सन्देह व्यासदेव से, जो अपने समय के अत्यन्त प्रतिष्ठित कवि और ऋषि थे, मिली थी।

राजमद कृष्ण के समय मे क्षत्रियो का प्रधान दूषण था। कहा जा सकता है कि इस मद का मर्दन करना ही कृष्ण के जीवन का ध्येय था। इसी उद्देश्य से उन्होंने राज्यलोभी और उन्मत्त कस, जरासध, शिशुपाल आदि का नाश किया था। इसी उद्देश्य से कौरव-कुल का सर्वनाश कराने मे भी वह हिचकिचाये नही। किन्तु अब वही राजमद वहा से उतरकर उनकी अपनी जाति पर सवार हो गया।

यादवो का राजमद

श्रीकृष्ण के प्रभाव से यादव समृद्धि के शिखर पर पहुच गये थे। कोई उनसे 'तू' कहने की हिमाकत नही करता था। अत वे भी अब उन्मत्त बन गये थे। सिर पर किसी शत्रु के न रहने से वे अब विलासी भी बन गये। जुए और शराब का सेवन खुले आम करने लगे। देवो और पितरो की निन्दा और आपस का द्वेष दिन-पर-दिन उनमे बढने लगा। वे स्त्रियो पर भी निर्लज्जतापूर्ण अत्याचार करने लगे। यादवो की यह अवनति देखकर कृष्ण बहुत दुखी हुए। इस स्थिति को सुधारने के लिए वृद्ध राजा वसुदेव ने बहुत प्रयत्न किया। शराब पीने की मनाही करवा दी पर यादवो ने छिपे-छिपे पीना जारी ही रखा। फलत उनका उन्माद कम नही हुआ। कृष्ण समझ गये कि यह सारी विपरीत बुद्धि विनाश की निशानी है। अतएव सब प्रकार के कार्यो से उनका मन उदास रहने लगा।

विक्रम सवत् से पहले ३०१०वे (अथवा ३०२८वे) वर्ष मे कार्तिक वदी अमावस्या के दिन सूर्यग्रहण पडा था। उस पर्व के निमित्त से कृष्ण ने सब यादवो को प्रभास तीर्थ जाने की सलाह दी। स्त्री-पुत्र-सहित सब यादव वहा गये। वहा एक महोत्सव हुआ। उसमे यादवो ने बेहिसाब मदिरापान किया। और यादव आपस मे लड मरे। कृष्ण के समस्त पुत्र-पौत्र भी इस युद्ध मे काम आ गये।

महाभारत-युद्ध के आरम्भ मे अर्जुन को कुल-सहार के कारण होनेवाले अनिष्ट परिणामो की जो आशका हुई थी, वह सब सच सिद्ध हो गई। असुरो का नाश करके धरती का भार उतारने की कृष्ण की अभिलाषा उन-उन व्यक्तियो के सहार के कारण पूरी तो हुई, पर आसुरी सम्पत्ति का नाश नही हो सका। वह तो रबड की थैली मे हवा की तरह बाया कोना दबाने पर दायें कोने मे और दाया कोना दबाने पर बायें कोने मे उठी हुई दिखाई दी।

कृष्ण के देहान्त के बाद वृद्ध वसुदेव, देवकी और कृष्ण की पत्नियो ने काष्ठ भक्षण किया। बाकी के लोगो को अर्जुन हस्तिनापूर ले गया। कौरवो का सर्व-नाश करने वाला धनुर्धर अर्जुन बुढापे और कृष्ण के वियोग के कारण इतना निर्बल हो गया था कि मार्ग मे कुछ लुटेरो से वह अपने सघ की रक्षा नही कर सका और उसका द्रव्य लुट गया। इस छोटी-सी घटना से प्रकट होता है कि राजा के नाते पाण्डवो की प्रतिष्ठा मे और उनके शासन मे कितनी ढिलाई आ चुकी थी। युधिष्ठिर ने याददो के अलग-अलग वशजो को अलग-अलग स्थानो मे राजा बना दिया और इस प्रकार यादवो के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। बाद मे परीक्षित को सिहासन पर बैठाकर पाचो भाई द्रौपदी के साथ हिमालय की ओर चल दिये। वही उनका अन्त हुआ।

और कृष्ण के अन्त के बाद ही भारतवर्ष की अवनति का आरभ हुआ।

स्व० चिंतामणि विनायक वैद्य ने अपने विचार के अनुसार श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के चरित्र की मुख्य घटनाओ की वर्ष-पत्री तैयार की है। वह इस प्रकार है—

समय		घटना	वय	
भाद्रपद	ईसा पूर्व			
कृष्ण ८	३१८५	श्रीकृष्ण जन्म	श्री कृष्ण	अर्जुन
	३१६७	कस-वध	१८	जन्म
	३१६३	अक्रूर का हस्तिनापुर गमन	२२	४
	३१६०	रुक्मिणी-विवाह	२५	७
	३१५८	प्रद्युम्न का जन्म	२७	९
	३१४२	द्रौपदी स्वयवर	४३	२५
	३१४०	इन्द्रप्रस्थ की स्थापना	४५	२७
	३१३४	प्रद्युम्न का विवाह रुक्मि की पुत्री से	५१	३३
	३१३२	अर्जुन का तीर्थयात्रा को प्रयाण	५३	३५
	३१२०	सुभद्रा-हरण	६५	४७
	३११८	अभिमन्यु-जन्म	६७	४९
	३११७	राजसूय-यज्ञ	६८	५०

समय	ईसा पूर्व	घटना	वय	
	३११५	हस्तिनापुर मे द्यूत	७०	५२
माघ शुक्ल १४	३१०१	भारती-युद्ध	८३	६५
फाल्गुन	३१०१	अनिरुद्ध का विवाह	८३	६५
माघ	३०६५[1]	श्रीकृष्ण-निर्वाण	११९	१०१

: ७ :

जीवन-कार्य

सयुक्त भारत के निर्माता कृष्ण

डा० राधा कमल मुकर्जी के मत मे—वासुदेव कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति थे, काल्पनिक नही। वह लगभग १००० ईसापूर्व मे जीवित थे और भारत के महानतम योद्धाओ और ऋषियो मे से एक थे। हम श्रीकृष्ण का जिक्र योद्धा और कूटनीतिज्ञ के रूप मे नही, बल्कि ऋषि और उपदेशक के रूप मे करेंगे। वह मथुरा और द्वारका के यादवो की सात्वत अथवा वृष्णि जाति के मुखिया और वृष्णि, यादव, अन्धक, कुकुर और भोज नामक गणतान्त्रिक जातियो के सघ के नेता थे। इसी सघ ने मथुरा के राजा कस के निरकुश शासक बनने के प्रयत्न को विफल कर दिया था। महाभारत मे कृष्ण मथुरा और द्वारका के राजा, पाण्डवो के मित्र और परामर्शदाता तथा एक सयुक्त भारत के निर्माता है। यह सयुक्त भारत था—महाभारत के युद्ध मे कौरवो की पराजय के बाद स्थापित पाडव साम्राज्य—जिसपर युधिष्ठिर ने युद्ध के लगभग ३६ वर्ष बाद तक शासन किया था। इस युद्ध का समय विद्वान लोग लगभग ११०० ईसापूर्व बताते हैं, जब कि भारत मे आर्यों की विजय का प्रारभ ही हुआ था। मालवा, राजपूताना, गुजरात और दक्षिण मे आर्य बस्तिया बसाने के कार्य मे यादवो ने महत्वपूर्ण योग दिया था और ऐसा मालूम पडता है

---

१. भागवत के मतानुसर मृत्यु-समय मे श्रीकृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की थी, ज्योतिष के मतानुसर १२० की और स्व० चि० वि० वैद्य के मतानुसर १०१ की होनी चाहिए।—लेखक

कि उनकी जाति पूर्णतया मिश्रित हो चुकी थी। पुराणो के अनुसार यादव-जाति की तुलना असुर जाति से की जा सकती है। यादवो के साथ कृष्ण का सबध इसी वात का सूचक है कि यादवराज, जिन्हे कुछ कुरु-चारणो ने 'व्रात्य' कहा है, ने पश्चिमी भारत और दक्षिण के असुरो के आर्यीकरण मे नेतृत्व ग्रहण किया था।

किन्तु कृष्ण की महत्तम ऐतिहासिक उपलब्धि थी महाभारत-युद्ध के परिणाम-स्वरूप सयुक्त भारत की स्थापना। इस महाकाव्य मे युद्ध-स्थल सतलज और यमुना नदियो के बीच के क्षेत्र मे स्थित दिखाया गया है, यह ध्यान देने योग्य है। क्योकि भारतवश के आदिकालीन योद्धा शासको के समय मे वैदिक सस्कृति का मूल स्थान यही क्षेत्र था। महाकाव्य मे इसे भरतवशियो के नये साम्राज्य का केन्द्र बनाकर इस पवित्र क्षेत्र को एक बार फिर सर्वोच्च राजनीतिक महत्व प्रदान किया गया है। महाभारत-युद्ध के वर्णन मे सम्पूर्ण भारत का जिक्र है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि पूर्वी, उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत पाडवो के विरोध मे और मध्य देश तथा गुजरात पक्ष मे थे। फिर भी महाभारत मे विजय अस्त्र-शस्त्रो, कूटनीति अथवा छल-कपट के कारण नही वरन् धर्म के कारण हुई, जिसके उच्चतम मूर्तिमान, प्रतीक महाकाव्य मे ही स्वय कृष्ण है। मानव-प्रारब्ध के उतार-चढाव से निर्मित महाभारत की रोमाचक कथा के लगभग प्रत्येक खड मे सदैव कहा गया है कि अधर्म से मनुष्य को अस्थायी लाभ तो अवश्य होता है, किन्तु अत मे अवश्यभावी विनाश ही होता है, जिसका कोई समाधान नही है। धर्म शाश्वत है, सुख और दुख क्षणिक है, अत किसी लालसा अथवा लाभ के लिए, भय के कारण अथवा भौतिक अस्तित्व की सुरक्षा या अवधि-विस्तृति के लिए धर्म का त्याग नही करना चाहिए। युगो-युगो से यही भारत की वाणी है। धर्मपथ पर चलने से मानव की सभी आकाक्षाए पूरी हो जाती हैं। मानवीय जीवन और उद्देश्य के आप्लावक धर्म के सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी प्रारब्ध के प्रतीक है कृष्ण। महाभारत मे बार-बार कहा गया है कि 'जिस पक्ष के साथ कृष्ण है उसी पक्ष के साथ धर्म भी है, और धर्मावलम्बित पक्ष की विजय निश्चित है।' भगवद्-गीता के अतिम और शायद सबसे अधिक अर्थयुक्त श्लोक मे कहा गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात जहा योगेश्वर कृष्ण तथा गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वही पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है।

कृष्ण की साधना और चिन्तना

जिन दिनो पाण्डव बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास विता रहे थे, उन दिनो कृष्ण तत्वज्ञान के चिन्तन मे और योगाभ्यास मे लगे रहे। उन्होंने घोर आगिरस से आत्म-ज्ञान का उपदेश लिया। भिन्न-भिन्न मतो और तत्वो का सम्पूर्ण मनन किया। बचपन मे उन्होंने मल्लश्रेष्ठ की और युवावस्था मे धनुर्धरश्रेष्ठ की कीर्ति प्राप्त की थी। अव वह योगी श्रेष्ठ भी बन गये। वनवास के आरम्भ मे उनकी उमर लगभग ७० साल की थी। अव वह ८३ साल के हो चुके थे। कृष्ण मे केवल भावना का उत्कर्ष ही नही था, केवल शारीरिक बल ही नही था, बल्कि उनकी सदसद्विवेक बुद्धि भी जाग्रत थी। जब से वह समझने लगे, तभी से उनके सामने धर्म और अधर्म का विचार बना रहने लगा। बचपन मे ही उनके मन मे शका हुई कि इन्द्र की पूजा क्यो करनी चाहिए? गोपो के जीवन का आधार तो गायें और गोवर्द्धन है। मेघ गोपो के लिए नही बरसता, न गोपो के बलिदान से मेघो का बरसना घट-बढ सकता है, बल्कि गायो की पवित्रता को समझने मे और जिसके सहारे उनका निर्वाह ठीक से होता है उसकी पूजनीयता को जानने मे ही उनकी समृद्धि समाई हुई है। कुछ इसी प्रकार के विचारो से प्रेरित होकर कृष्ण ने इन्द्र-पूजा बन्द करवाई और गायो की तथा गोवर्द्धन की पूजा चलाई।

श्रीकृष्ण ने अपना जीवन नीचे लिखे सिद्धान्तो पर खडा किया—

(१) किसी भी मनुष्य की सहज प्रकृति को जबरदस्ती मोडने मे कोई सार नही। राजसी या तामसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य से एकाध बार सात्विक वेग या भीतर के क्षणिक जोश मे, अत्यन्त धैर्यशील और नि स्पृह मनुष्य द्वारा सहे जाने योग्य परिणामो से युक्त, भारी त्याग करा लेने से उसका कल्याण ही होगा, यह कहना कठिन है।

(२) ज्ञानी पुरुष बडे-बडे सिद्धान्तो को कार्यान्वित न करा सके, तो उसके लिए समाज को छोड देना उचित नही। उसे लोक-सग्रह के लिए अज्ञानी अर्थात सकाम पुरुषो के बीच बुद्धि-भेद पैदा न करते हुए युक्त भाव से यानी नाराजगी से नही, बल्कि प्रयत्नपूर्वक कर्म का आचरण करते हुए लोगो को आगे ले जाना चाहिए।

(३) अतएव स्वय अपने लिए जो काम न करे उस काम को करने की सलाह

दूसरे को उसके हित की दृष्टि से दे और प्रसग पडने पर स्वय भी उसके लिए वह काम कर डाले।

(४) आसुरी वृत्ति को उसे धारण करनेवाले पुरुष से भिन्न करना सदा सम्भव नही होता। इसलिए यह हो सकता है कि आसुरी वृत्ति का नाश करने के लिए असुरो का भी नाश करना पड जाय।

इन सिद्धान्तो को ध्यान मे रखने से कृष्ण के जीवन के अनेक पहलू समझ मे आ सकते है।

श्रीकृष्ण की अहिंसा

यद्यपि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मोह को दूर करके उसे प्राप्त युद्ध मे प्रवृत्त किया। फिर भी यह नही कह सकते कि श्रीकृष्ण हिंसा मत के पृष्ठ-पोषक थे। उन्हे अहिंसा अभीष्ट थी और अहिंसा का भी प्रतिपादन उन्होने जारो से किया है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि अहिंसा के प्रथम उपदेशक बुद्ध और जिन थे। किन्तु उपनिषदो मे अहिंसा-मत पाया जाता है। 'अहिंसन् सर्व भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्य.' यह छान्दोग्य का आदेश है। भगवद्गीता मे भी 'अहिंसा' को ज्ञान का लक्षण वताया गया है। अहिंसा को शारीरिक तप भी माना है। बुद्ध से पहले अहिंसा-तत्व भारत मे विद्यमान थे, इसका प्रमाण विदेशी इतिहास से भी मिलता है। पायथागोरस अहिंसावादी था और ऐसा माना जाता है कि उसने इस मत को भारत से ग्रहण किया था। हेराडोटस के इतिहास मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय मे भारत मे अहिंसामतवादी लोग थे। स्व० चि० वि० वैद्य का कथन है कि अहिंसा-मत बुद्ध से पूर्व था और उसका उदय श्रीकृष्ण के उपदेश से हुआ। श्रीकृष्ण का काल उपनिषत्सम और ऋग्वेदोत्तर है। उस समय यज्ञ-भाग का वहुत प्रावल्य था। भगवद्गीता मे उन्होने स्वर्ग की इच्छा से नानाविध काम्य यज्ञ करने के प्रति अरुचि वतलाई है। हिमा-युक्त यज्ञ के विरुद्ध धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के वाद लोकमत अनुकूल होने लगा।

कृष्ण-चरित्र का तात्पर्य

श्रीकृष्ण के जीवन मे हमे महान पराक्रम, पितृभक्ति, गुरुभक्ति, दाम्पत्य-प्रेम, कुटुम्व-प्रेम, भूत-दया, मित्रत्व, सत्यनिष्ठा, धर्म-प्रियता और जीवन की पवित्रता के विषय मे पूज्य-भाव के दर्शन होते हैं,—फिर भी उनके निकट जीवन-यज्ञ कोई कठोर व्रत नहीं, एक मगलोत्सव अथवा व्रतोत्सव (व्रत होते हुए भी उत्सव) है। उनके लिए सुख मे स्वास्थ्य का आनद है। मथुरा मे गोमान्तक

पर जरासन्ध के छक्के छुडाने का मजा है। द्वारका मे वैभव है, तो गोकुल मे वछडो और गोपो के साथ ही क्रीडाए हैं। कुरुक्षेत्र मे कौरवो के नाश से, असुरो का सहार होता है, तो प्रभास-तीर्थ मे हुआ यादवो का सहार भी उनके मन वैसा ही है। यदि एक का शोक करने की आवश्यकता नही है तो दूसरे से भी शाति डिगने देना जरूरी नही है।

इस कारण कृष्ण के साथ रहने मे हमे कोई सकोच नही होता। बालकृष्ण समझकर हम उसे गोद मे खेला सकते हैं, अथवा मक्खन के लिए नचा सकते हैं, हम वछडे बनकर उसके पाव चाट सकते हैं अथवा यह कल्पना कर सकते हैं कि कृष्ण हमारी पीठ पर अपना माथा टिकाये हुए है अथवा हमारे गले से लगकर हमसे प्रेम कर रहा है। हम चाहे पवित्र हो या अपवित्र, वह हमारा तिरस्कार नही करता। हम खुले दिल से उसकी थाली मे भोजन कर सकते हैं, उसके साथ घूमते-फिरते समय उससे मर्यादापूर्वक दूर रहकर चलना जरूरी नही। हम अपना हाथ उसके कधे पर रख सकते हैं और उसका हाथ हमारे कधे पर रह सकता है। देखिये कृष्ण के अन्तःपुर तक भी फटेहाल सुदामा बेखटके पहुच सकता है और बराबरी से उसके साथ पलग पर भी बैठ सकता है। कृष्ण को आप कहने की जरूरत नही है वह 'तू' का अधिकारी जो ठहरा। कृष्ण की भक्ति का रस हम उसके दास बनकर नही चख सकते। उद्धव जैसा कोई उसका दास बनना भी चाहे, तो वह भी उसके अन्तरतम मे प्रवेश करनेवाला विश्वासपात्र मित्र बन जाता है। समानता के सिवा दूसरा कोई अधिकार उसे मान्य नही है। कृष्ण के दरबार मे एक ही जाजम बिछी मिलेगी। उसके यहा दाये-बायें बैठने का शिष्टाचार होता ही नही, उसके आस-पास तो गोल घेरा बनाकर ही बैठा जाता है। हम नही कह सकते कि उसके पास हमेशा गभीर ज्ञान की बातें ही सुनने को मिलेगी। वह तो गोकुल के बछडो की बातें भी कहता मिलेगा। श्रीकृष्ण अगाध ज्ञानी थे। परन्तु उसका परिचय निकट रहने से ही मालूम हो सकता है। देह-दर्शी (बाह्य दृष्टिवाला) तो उसे अपने समान ससारी ही समझेगा।

जीवन-कार्य

असुरो का उन्मूलन करके जन-समाज को चारित्र्य की शिक्षा देना श्रीकृष्ण चरित का उच्च उद्देश्य दिखाई देता है। उदात्त नीति-मत्ता और अद्भुत पराक्रम यही अवतारी पुरुष का लक्षण है। श्रीरामचन्द्र से लेकर शिवाजी, प्रताप और

गाधी तक के चरित्र मे यही विशेषता दिखाई देती है। श्रीकृष्ण का उदार चरित्र अद्‌भुत पराक्रम और लोकोत्तर नीतिमत्ता के कारण ही इतना मनोहर और स्मरणीय हो गया है। व्यास ने महाभारत के 'वनपर्व' मे कहा है:—

इज्याध्ययन दानानि तपः सत्यं दमः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।।
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुवर्गो नामहात्मस्तु तिष्ठति।।

—इज्या, अध्ययन, दान और तप-धर्म के इन अशो का उपयोग 'दम्भार्थ' भी किया जा सकता है, परन्तु सत्य, शाति, इन्द्रिय-दमन और विशेषत' निर्लोभता ये चार गुण दम्भ के द्वारा नही प्राप्त किये जा सकते। ये गुण महात्माओ मे ही निवास करते हैं। इन्ही गुणो के कारण भी कृष्ण-चरित्र रमणीय और उदाहरणीय हो गया है।

श्रीकृष्ण-चरित्र मानवी कक्षा से वाहर नही हुआ है। वह प्रत्येक मनुष्य के लिए उदाहरण स्वरूप हो गया है। ससारी मनुष्यो को गृह-कार्य, राज-कार्य, समाज-कार्य चलाने मे कई समस्याए तथा विकट प्रसग सामने आते है। उनमे किस प्रकार दृढता, वुद्धिमत्ता, चतुरता और साहस से काम लेना चाहिए, यह कृष्ण चरित्र अच्छी तरह सिखाता है। जीवन का कोई भी ऐसा प्रसग नही है जिसमे कृष्ण-चरित्र और कृष्ण-उपदेश हमे मार्ग नही बता सकता। श्रीकृष्ण ने सब प्रकार से लघुता स्वीकार की थी। उनका जन्म साधारण वश मे हुआ—सगोपन, लालन-पालन एक गो-पालक के घर मे हुआ। न वह् राजपुत्र थे, न वडे पुत्र ही। बचपन ऐश्वर्य मे नही, ग्वाल-वाल की तरह बीता। इसलिए वह मानवीय जीवन के अधिक निकट है। वह अनेक दृष्टियो से मनोहर और उपयुक्त है। व्यवहार-चतुरता, मोक्ष-ज्ञान, विपत्ति मे धैर्य, कठिनाइयो मे उत्साहप्रदता, सशय-छिन्नता, ऐश्वर्य मे मन्दोन्मत्त न होना, दीनो को प्राण-रक्षण, दुष्टो को भयदायी, सुष्टो को नीति-पथ प्रदर्शक आदि अनेक गुणो व शक्तियो से मडित श्रीकृष्ण-चरित्र नित्य पठनीय और मननीय हो गया है।

ऐसा मालूम होता है कि श्रीकृष्ण जीवन को एक उत्सव समझते थे। जीवन को उत्सव समझना एक अच्छी स्थिति है। किन्तु उत्सव के भोग्य वस्तु बन जाने

की भी सभावना रहती है। जबतक हमने जीवन की धूप नही देखी है, तबतक जीवन को उत्सव मानना हमे सुखकर लगेगा, लेकिन जब छाह हट जाती है, तब भी जीवन उत्सव रूप ही लगे, तब तो उसे उत्सव कहना यथार्थ माना जायगा। जिस घडी दु ख हमे अनिष्ट लगने लगता है, उसी घडी हमारा अध पतन होता है। यह विचार कि भुक्ति (भोग) मुक्ति की विरोधिनी नही है—भक्ति और मुक्ति दोनो को साधने की लालसा जीवन को उत्सव मानने का परिणाम है।

कृष्ण की उपासना कृष्ण के समान बनने की आकाक्षा से होनी चाहिए। कृष्ण के समान धर्म-निष्ठ, सत्य-निष्ठ, अधर्म के वैरी, अन्याय के उच्छेदक, शूर, पराक्रमी, साहसिक, उदार, बलवान, विद्वान, बुद्धिमान, ज्ञानी और योगी हो। फिर भी वात्सल्यपूर्ण, निरभिमानी, नि स्वार्थ, हो। हम सबको समानता का अधिकार दें। हम बालक के समान अत्यन्त शरमीले हो, सबको अपने सामने नि सकोच बनावें, गरीबो, दुखियो, शरणागतो के वाली हो पापी को सुधारने की आशा रक्खे, अधम का भी उद्धार करने मे रुचि हो, हरेक की प्रकृति का माप लेकर तदनुसार उसकी उन्नति का क्रम निश्चित करें। इस प्रकार जब कृष्ण की तरह ही हमारा चरित्र भी बने तभी हमारी कृष्णोपासना सच्ची बन सकती है। इस स्थिति की साधना का मार्ग है भूत-मात्र के प्रति नि सीम करुणा, प्रेम, दया, और धर्म-कर्म के प्रति सदैव तत्परता, अपनी सर्वांगीण उन्नति करने की आकाक्षा और इन सबके लिए सम्पूर्ण पुरुषार्थ करने की वृत्ति। ।। श्री कृष्णर्पणमस्तु ।।

●

परिशिष्ट १

पंचमहाभूत और तन्मात्राएं

प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियो का ज्ञान-विज्ञान 'साख्य' और 'वेदान्त' मे समा जाता है। इनमे मुख्यत इस बात पर विचार किया गया है कि सृष्टि रचना कैसे हुई और जीवात्मा परमात्मा को किस प्रकार पा सकता है। सृष्टि-रचना कितने तत्वो से किस प्रकार हुई है—इस विषय मे पुरानी मान्यता कि वह पाच महाभूतो और पाच तन्मात्राओ से बनी है, 'जीवन-शोधन' के कर्ता को मजूर नही है। उनके मतानुसार[1]—चार महाभूत और छ तन्मात्राए है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

१. ब्रह्म—विश्व तथा विश्व मे जो कुछ नाम या रूप है, वह सब तत्वतः ब्रह्म है।

२ पुरुष-प्रकृति—शक्तिमत्ता अथवा अव्यक्त शक्ति अथवा उपादान कारण की दृष्टि से ब्रह्म 'पुरुष' यानी सत्ता, (सत्) चिति (चित्) और प्रसाद (आनद) है और शक्ति के व्यापार की अथवा व्यक्त शक्ति की अथवा कार्य की दृष्टि से वह 'प्रकृति' है। प्रकृति के मानी है, सत्व, रज, तम अथवा परिमिति क्रिया-व्यवस्थिति।

३ महत्-अहकार—प्रकृति मे अथवा कार्य ब्रह्म मे (अर्थात), शक्ति के व्यापार मे दो तत्व अथवा धर्म निरतर प्रकट होते रहते है। तीन गुणो के व्यापार के फलस्वरूप इन धर्मो की अभिव्यक्ति मे—प्रकट होने की क्रिया मे सकोच, विकास और प्रकारान्तर होते दिखाई देते है। तीन गुणो और दो तत्वो का व्यापार इस

---

१. देखिये 'जीवन शोधन' (हिन्दी) खण्ड—२। लेखक, कि. घ. मश्रुवाला प्रकाशक, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद।

नामरूपात्मक भेदो से मुक्त जगत का निमित्त कारण है। ये तत्व है महत् और अहकार। महत् का अर्थ है—नाम या रूप-मात्र मे स्थित धारण, आकर्षण, अपकर्षण, सायुज्य, (मिश्रणता) वैयुज्य (अमिश्रणता), सलग्नता आदि। धर्म-प्रयोजन के अनुसार इनमे से एक या अधिक प्रकट होते हैं।

अहंकार—का अर्थ है नाम या रूपमात्र मे स्थित स्वरूप-धृति और प्रत्याघात धर्म।

४ **महाभूत**—अहकार के परिवर्तनो की मुख्यत परिमिति की दृष्टि से खोज करके जगत के समस्त नाम-रूपो के चार वर्ग किये गये हैं—पृथ्वी, जल, वायु और आकाश प्रत्येक वर्ग का नाम महाभूत रखा गया है।

५. **मात्राएं**—जगत मे जो कुछ नाम-रूपात्मक है उसमे चलती या सचरती क्रियाओ के छ वर्ग बनाये गए हैं शव्द, स्पर्श (उष्णता और दबाव) प्रकाश, रस (स्वाद) गन्ध और सचार (विद्युत्, लोहचुम्बकत्व, चित्त-प्रवेश, आदि) अहकार के परिवर्तन को मुख्यत रजोगुण मे पाकर यह वर्गीकरण किया गया है।

६. **चित्तयुक्तता**—अहकार का सत्वगुणी परिवर्तन पदार्थ की परिमिति मे और गति मे अन्तर्हित है। इस परिवर्तन के दरमियान उसकी एक हद आने पर सृष्टि मे चित्तयुक्तता निर्माण हुई है। साख्य दर्शन ने मुख्यत व्यवस्थिति गुण की दृष्टि से वर्ग नही वनाये हैं। मात्रा शोध के बाद उसने चित्तवान सृष्टि का ही और उसमे भी मनुष्य का ही विचार हाथ मे लिया है।

७ **कर्मेन्द्रियाँ**—चित्तवान सृष्टि मे पाच कर्मेन्द्रियो मे रजोगुण की मुख्यता स्पष्ट और बाह्यत जान पडती है, इसके उपरान्त शरीर के अन्तस्थ हृदय, फेफडे आदि अवयव भी इसी वर्ग के हैं। परन्तु साख्य दर्शन को इसका विचार करने की जरूरत नही दिखाई दी।

८. **चित्त अथवा मन**—चित्तवान सृष्टि के सत्व गुण-प्रधान वर्गीकरण मे पहला स्थान चित्त का है। सब मात्राओ से सचारित होना-उनका वाहन बनना-चित्त का लक्षण है। चित्त, मन और बुद्धि यहा एक ही अर्थ मे आते हैं।

९. **ज्ञानेन्द्रियाँ**—पाच ज्ञानेन्द्रिया चित्त की ही विशिष्ट शक्तिया हैं। स्थूल शरीर मे इनके स्पष्ट गोलक दिखाई देते हैं। अतएव पृथक तत्व के रूप मे उनका निर्देश किया गया है। शेष शक्तिया चित्त शब्द से ही प्रदर्शित की जाती है।

१०. **सख्या**—इस तरह (१) ब्रह्म पुरुष-प्रकृतिरूप सच्चिदानन्द या तम-

रज-सत्वगुणी एकतत्व (२) महत् (३) अहकार (४ से ७), चार महाभूत, (८ से १३) छ: मात्राएँ, (१४ से १८) पाच कर्मेन्द्रिया (१९) चित्त और (२० से २४) छ ज्ञानेन्द्रिया मिलकर इस तरह कुल २४ तत्त्व होते है।

११. **सारांश**—जगत मे जो कुछ नाम या रूप है, उसमे इन तत्वो मे से ब्रह्म शक्ति सबके मूल मे है। परन्तु दूसरे तत्वो (या धर्मों) के दर्शन के अभाव मे वह अव्यक्त रहती है, और दूसरे तत्वो के दर्शन मे ही उसकी सत्ता का दर्शन होता है। दूसरे तत्व ज्ञानेन्द्रियो और चित्त के द्वारा जाने जा सकते हैं। ब्रह्मत्व दूसरे तत्वो का निरास करते हुए स्वयसिद्ध रूप मे शेष रहता है। शेष २३ तत्वो मे महत् धर्मो मे से कम-से-कम एक, अहकार, महाभूतो मे से कोई एक अवस्था और मात्राओ मे से कोई एक मात्रा, इस तरह ब्रह्म के साथ कम-से-कम पाच तत्व और तीन गुण प्रत्येक नाम-रूप मे सदैव रहते हे। इससे अधिक चित्तवान सृष्टि मे चित्त के कुछ धर्म और कर्मन्द्रियो तथा ज्ञानेन्द्रियो की कुछ शक्तिया स्पष्ट स्थूल गोलको सहित या उनके विना भी होती है।

परिशिष्ट २

ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा

आत्मा-परमात्मा-सवधी सब वादो के मूल मे दो वाते है—

(१) पुरुष निर्गुण ज्ञान-मात्र सत्ता है या ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, और किसी प्रकार के गुणवाला ? यह विचार तथा (२) ईश्वर-विचार। ये मूल वाद के विषय है। वाद के वाद अशत पुरुष और प्रकृति का सवध निश्चित करने के लिए है और प्रत्येक पुरुष (जीव) और अशत ईश्वर-पुरुष का सम्बन्ध स्थिर करने के लिए है।

इन वादो मे भिन्न-भिन्न तत्व-चिन्तको के अपने अवलोकन और विचार का जितना हिस्सा है, उतना ही श्रुतियो मे एकवाक्यता लाने के आग्रह का भी है। ऐसा माना गया है कि श्रुति-वाक्यो मे भिन्न-भिन्न समय पर हुए भिन्न-भिन्न विचारो के स्वतत्र या भिन्न-भिन्न मत नही, वल्कि एक ही मत के विचारको की भिन्न-भिन्न परिभाषा और मापण-शैली है। इस मान्यता को समस्त वैदिक वादो मे निश्चित सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है।

इन वादियो के दो मुख्य पक्ष वनाये जा सकते हैं एक मे साख्य, सेश्वर साख्य और [illegible] वेदान्त। इन तीनो मे पुरुष कहो, ईश्वर कहो, या ब्रह्म कहो, साख्य का बताया पुरुष लक्षण—ज्ञप्तिमात्र गुणहीन सत्तास्वीकृत है।

दूसरे पक्ष मे जैन, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, और शुद्धाद्वैत आदि आते हैं। इनमे प्रत्येक पुरुष तथा ईश्वर और ब्रह्म ये ज्ञप्ति-मात्र नही, वल्कि ज्ञाता हैं और ब्रह्मविभूतियो या गुणो से रहित नही, गुणो का बीज भी नही, बल्कि गुणो का भण्डार है।

प्रत्येक पुरुष का अस्तित्व सब मानते है। साख्य और जैनो को छोड-कर दूसरे सब मतो मे ईश्वर किसी-न-किसी रूप मे माना गया है। फिर उनके सबध बैठाने मे या जोडने मे शब्द और कल्पनाएँ बढती चली गई हैं। इस तरह जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म, परब्रह्म तक एक तरफ से और क्षर-पुरुष, अक्षर-पुरुष, पुरुषोत्तम, पूर्ण-पुरुषोत्तम तक दूसरी तरफ से भेद निकलते ही चले गये हैं।

सृष्टि अनन्त प्रकार की है। भेदो को खोजने लगें तो अनन्त भेद किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक का काम भेदो को खोजना और विविधता को जानना है। तत्व-चिन्तक का काम भेदो का समाहार करना है। जिन दो भेदो का समाहार न किया जा सके उन्हीको वह स्वतत्र तत्वो के रूप मे स्वीकार करता है।

इस प्रकार साख्य ने भेदो को दो तत्वो—पुरुष और प्रकृति पर लाकर छोड दिया। फिर इन दो का समाहार करने की ओर वेदान्त की दृष्टि गई। परन्तु इसी बीच वैज्ञानिको ने ईश्वर और पुरुष का भेद खोज निकाला और वेदान्त ने ब्रह्म मे उसका समाहार कर लिया।

परन्तु बीच मे पुरुष (और ईश्वर) की कल्पना ही वदल गई। ज्ञान-शक्ति की जगह वह ज्ञाता के रूप मे माना जाने लगा। यही आरोपण ब्रह्म मे हुआ।

ये दो तत्व-भेद नही, बल्कि मत-भेद है। इनका समाहार करने की जरूरत ही नही। इसमे तो इतना ही विचार करने की जरूरत है कि कौन-सी व्याख्या सही है और कौन-सी गलत। परन्तु तत्व चिन्तको ने उसका भी समाहार करना अपना कर्त्तव्य समझा।

इसका परिणाम यह हुआ कि समाहार के प्रयत्न मे भेद उलटे बढ गये। ब्रह्म-विषयक दो व्याख्याओ पर से ब्रह्म मे ही 'सगुण और 'निर्गुण'—जैसे दो भेद पड गये।

परन्तु इस विचार मे भी ब्रह्म की तत्व-रूप मे ही [illegible] का एक तत्व अथवा पदार्थ के रूप मे विचार करना भक्त को [illegible] हुआ। तत्व मे भक्ति नही पैदा हो सकती। यह शब्द ही तटस्थता का भाव पैदा करता है। अत' रुचि की रक्षा के लिए तत्व के स्वामी परब्रह्म की कल्पना हुई।

परिशिष्ट ३

शब्द-ब्रह्म

शब्द-ब्रह्म के स्थूल व सूक्ष्म दो भेद है। शब्द-ब्रह्म का ही एक रूप, अग, अश है। यह शब्द-ब्रह्म समुद्र की तरह अनत अपार है। वेदो के द्वारा उसे मनुष्य के लिए सुलभ करने का प्रयत्न किया गया है। यह ऋषियो ने किया है। शब्द-ब्रह्म चार प्रकार का है—प्राणमय, मनोमय, इन्द्रियमय, व बाह्य अथवा प्रकट। प्राणमय अत्यन्त सूक्ष्म, मनोमय, उससे भी कम सूक्ष्म, इन्द्रिय-मय और चौथा वाह्य या प्रकट स्थूल है। इन चारो को क्रमश परा, पश्यन्ती, मध्यमा, व वैखरी कहते हैं।

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति"॥

यह श्रुति वाक्य है। अर्थात वाक् या शब्द ब्रह्म के परिमित (परिगणित) चार रूप है—परा आदि। जो मनीषि ब्राह्मण हैं वही इनको जानते हैं, दूसरे नही, क्योकि इनमे से तीन तो अत करण मे छिपे हुए हैं। वे अपने स्वरूप को व्यक्त नही करते तथा वाणी के चौथे स्वरूप (वैखरी) को मनुष्यादि समस्त प्राणी केवल बोलते हैं, उसे तत्वत जानते नही।

शब्द का ही दूसरा नाम नाद, ध्वनि, वाणी है। मनुष्य-शरीर को एक छोटा विश्व ही समझो। ब्रह्म का ब्रह्माण्ड-व्यापी नाद या शब्द इस शरीर के द्वारा किस तरह प्रकट होता है इसे समझ लो। पहले नाद ब्रह्म मे लीन था, ब्रह्म से अलग न हुआ था। सृष्टि के आरम्भ मे जव वह पृथक, स्पष्ट या व्यक्त हुआ तव वह सूक्ष्म प्राण-रूप हुआ। उसका प्रथम लक्षण 'ॐ' नाद है। यही परा-वाणी है। यह नाभि-स्थान मे सवसे पहले स्फुरित होती है, फिर जव यह नादमय प्राण अतः-

करण मे स्फुरित होता है तो उसे पश्यन्ति-वाचा कहते हैं और उसका लक्षण विवेक है, फिर नाभि से लेकर कठ तक मे जो प्रतीति होती है उसे मध्यमा कहा है। यहा वह स्वर व वर्ण-मय हो जाती है। फिर कण्ठ व मुँह से निकलती है तो मनुष्य की बोली के रूप मे निकलती है, इसे वैखरी कहते हैं। इस तरह यह ॐ ध्वनि ही शरीर के भिन्न-भिन्न भीतरी अवयवो के ससर्ग या स्पर्श से भिन्न-भिन्न स्वर, वर्ण, व्यजन के रूप मे परिणत होती हुई हमारी बोली बन जाती है। जैसे सृष्टि एक ही ब्रह्म तत्व का विकास है वैसे ही हमारी भाषा भी एक ही मूल नाद शब्द तत्व ॐकार का विकास है।

ॐ

सूक्ष्म			स्थूल
प्राणमय	मनोमय	इन्द्रियमय	प्रकट
परा	पश्यन्ति	मध्यमा	वैखरी
सूक्ष्म मूल	सनाद	स्वर-वर्णयुक्त	शब्द-वाक्य-युक्त

मूल ध्वनि को ॐ के रूप मे ग्रहण किया गया है, जिसमे अकार, उकार व मकार का समावेश है। अत वेद का मूल ॐ और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ शरीर है। इस शब्द का विस्तार एक महान समुद्र की तरह हो गया है। वेद के इस गहन ज्ञान को समझने के लिए विद्वानो और आचार्यों ने बडे-बडे भाष्य लिखें है, जो बुद्धि के द्वारा वेदो का अध्ययन करना चाहते है। उनके लिए वे बहुत सहायक होंगे, परन्तु जो केवल तात्पर्य समझना चाहते हैं, उनके लिए सारे भेद ज्ञान का इतना ही साराश काफी है। यह जगत ब्रह्म मे से उत्पन्न हुआ है और जीव व शिव या आत्मा परमात्मा मे कोई भेद नही है।

परिशिष्ट ४

तत्व

समर्थ रामदास ने दास-वोध मे तत्व सख्या इस प्रकार बताई है—

"देह, अवस्था, अभिमान, स्थान, भोग, माया, गुण, शक्ति, ये आठ प्रत्येक देह के तत्व हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण व महाकारण ये चार देह-पिंड मे व चार ब्रह्माण्ड मे मिलकर आठ देह होते हैं। प्रकृति व पुरुष मिलाकर दस हुए। चार देह के ८×४=३२ तत्व हुए। इनमे स्थूल देह के २५ और सूक्ष्म देह के २५ मिल कर ५० जोडने से कुल ८२ तत्व हो जाते हैं। या यो कहें कि स्थूल देह के २५+८=३३ व सूक्ष्म देह के भी २५+८=३३, फिर कारण देह के ८ व महाकारण देह के ८ इस तरह कुल ८२ हुए, ये मायिक तत्व है। हम उनके साक्षिमात्र रहे तो वे लय हो जाते हैं। साक्षित्व ही ज्ञान है। इस ज्ञान से हम अज्ञान को पहचाने। इन ८२ तत्वो के ज्ञान के साथ ही तत्सवधी अज्ञान भी प्राप्त कर ले। इस ज्ञान और अज्ञान दोनो का निरास करके हमे अपने निसगत्व का अनुभव करना चाहिए।

"इन चार देहो का सशोधन क्रमश आत्म-तत्व, विद्यातत्व, शिवतत्व, और सकल-तत्व से किया जाता है।"

कुछ विचारको के मतानुसार ३६ तत्व हैं। ये प्रलय होने तक विद्यमान रहकर जगत को भोग-सामग्री देते रहते हैं। प्रलय-काल मे यह जगत सूक्ष्म रूप मे परम शिव के कुक्षिगत रहता है। सव जीव अपने अदृष्ट पचभूत तथा जीवो के सस्कार सूक्ष्म-रूप से परमशिव मे रहते है। जैसे वट वीज मे वृक्ष। ये सस्कार परम शिव के पुन सृष्टि उत्पन्न करने मे सहकारी होते हैं।

केवल वीज-रूप मे अवस्थित परम शिव की जव प्रजोत्पादन की इच्छा होती है तो—'वहुम्या प्रजायें'—इच्छा, ज्ञान व क्रिया-शक्ति, इन तीनो के योग से वे जगत को उत्पन्न करते हैं। यह जगत ३६ तत्वो से वना है, जिनके तीन विभाग है—१ आत्म-तत्व २ विद्या-तत्व, ३ शिव-तत्व अर्थात सत्, चित् आनद, आत्म-तत्व मे ३१ तत्वो का, विद्या-तत्व मे तीन का व शिव-तत्व मे दो का समावेश होना है।

ये ३६ तत्व इन प्रकार है—१ परमशिव, २. शक्ति, ३ मदाशिव, ४. ईश्वर,

५ विद्या, ६ माया, ७ अविद्या, ८ कला, ९ राग, १० ताल, ११ नियति, १२ जीव, १३ प्रकृति, १४. मन, १५ वुद्धि, १६ अहकार, इनके अलावा पाच कर्मेन्द्रिया, पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच तत्व और पाच उनके विषय इस तरह बीस मिलाकर कुल ३६ तत्व हुए।

पूर्वोक्त वीस और वुद्धि से लेकर माया तक ग्यारह ऐसे कुल ३१ तत्वो की समष्टि आत्म-तत्व सत्‌रूप विद्या से सदाशिव-तत्व तक विद्या-तत्व चित् रूप है। शक्ति, व शिव मिलकर शिव-तत्व आनद-रूप है। इन तत्वो की समष्टि 'तत्वातीत' नामक सच्चिदानद 'तुरीय तत्व' हैं।

सोलह तत्वो की व्याख्या इस प्रकार है—

१. परमशिव—जगत के उत्पादन की इच्छा से युक्त, अनन्यापेक्ष शक्ति विशिष्ट, पूर्णाभिमानी।

२ शक्ति—परमशिव की सिसृक्षा—जगत उत्पन्न करने की इच्छा शिव से अभिन्न, किन्तु पृथक दीख पडनेवाली।

३ सदाशिव—मैं जगत रूप हू, इस प्रकार परमशिव का जगत को अहन्तारूप से देखना—इस वृत्ति से युक्त।

४ ईश्वर—यह केवल जगत है, इस भेद विपयिनी वृत्ति से युक्त।

५ विद्या—यह जगत मेरा ही स्वरूप है, ऐसी सदाशिव की वृत्ति।

६ माया—यह जगत है, ऐसी ईश्वर की भेद-विषयिनी वृत्ति।

७ अविद्या—पूर्वोक्त विद्या को तिरोहित करनेवाली तथा विद्या की विरोधिनी।

८ कला—जीवनिष्ठ सर्व कर्त्तृत्व शक्ति का सकोच होकर केवल यत्‌किंचित करने का सामर्थ्य होना।

९. राग—जीवनिष्ठ नित्य-तृप्ति जो सकुचित होकर कुछ विषयो की प्राप्ति के लिए अतृप्त रहती है।

१० काल—जीवनिष्ठ नित्यता का सकोच होकर जीव इन षट् भावो से युक्त होता है—

१ अस्तित्व, २ जनन, ३ वृद्धि, ४ परिणमन, ५ क्षय, ६ नाश। इनके सहित जीव की नित्यता का सकोच।

११. नियति—परशिव और जीव का अभेद होने से जिस प्रकार परशिव

स्वतन्त्र है उसी प्रकार जीव भी स्वतंत्र है, परन्तु अविद्या के कारण जीव की आनद-शक्ति की स्वतन्त्रता का सकोच होकर यह जीव दूसरे कारण की अपेक्षा रखता है, यह नियति है। अर्थात सर्व-व्यापकता को आच्छन्न कर एक देश स्थिति की नियामिका शक्ति।

१२. जीव—उपर्युक्त नियति, काल, राग, कला और अविद्या—इन उपाधियो से युक्त।

१३. प्रकृति—सत्व, रज, और तम, इन तीनो गुणो का साम्य, प्रकृति है, यह तेरहवा तत्व है।

१४. मन—सत्वगुण और तमोगुण दबे हुए हो और रजोगुण की प्रधानता हो, इसको 'मन' कहते हैं।

१५. वुद्धि—रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए हो और सत्वगुण की प्रधानता हो।

१६. अहंकार—सत्वगुण और रजोगुण दबकर तमोगुण की श्रेष्ठता हो, वह विकल्प का कारण 'अहकार' होता है।

परिशिष्ट ५

आत्मा-विषयक विभिन्न मत

१ सेश्वर साख्य—साख्य-दर्शन ने पुरुष अगणित माने है, ईश्वर-विपयक विचार नही किया। प्रत्येक पुरुष को स्वतत्र माना है। परन्तु विश्व मे एक-समान नियमन व परस्पराश्रय देखा जाता है। अत सव पुरुषो-सहित विश्व मे सूत्र-रूपी कोई एक तत्व होना चाहिए, वही ईश्वर है। पुरुषो का भी सूत्रधार, सव ज्ञान-शक्ति का वीज-रूप, परन्तु पुरुष की तरह ही अकर्ता और अलिप्त।

२. शाकरमत—ब्रह्म का लक्षण तत्वत. साख्यकृत पुरुष की व्याख्या जैसा है, किन्तु साख्य मे अनेक पुरुष है, जवकि शाकर वेदान्त मे एक ब्रह्म है और सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय तथा वन्ध और मोक्ष यह भ्रम-जन्य आभास है। साख्य की तरह ब्रह्म निरतर शुद्ध, वुद्ध और मुक्त है, भ्रम का कारण है प्रत्यक्-चैतन्य मे अज्ञान और ईश्वर-पुरुष मे ज्ञान-पूर्वक उपाधि। अज्ञान अथवा उपाधि, माया अथवा

प्रकृति, प्रत्यक् चैतन्य तथा ईश्वर के भेद की प्रतीति भी माया-कृत आभास ही है। इस माया का स्वरूप अगम्य है। इसे 'है' ऐसा भी नही कह सकते,'नही' कहें तो प्रतीति होती है, अतएव 'अनिर्वचनीया' कहा। इसका भास अनादिकाल से होता आया है। साराश ब्रह्म-तत्व के सबध मे निश्चयात्मक सिद्धान्त, परन्तु प्रकृति अथवा माया के सबध मे सन्दिग्धता, अर्थात एक तत्व तो है ही, पर दूसरा सिद्ध होता है या नही।

३. विशिष्टाद्वैत---(१) ब्रह्म के लक्षण के विषय मे ऊपर के दोनो से तात्विक भेद, वह केवल अकर्ता और ज्ञान-मात्र सत्ता नही, बल्कि ज्ञाता और कर्ता है, फिर वह समग्र गुणो का भण्डार है। गुणहीन नही है, न गुणो का केवल बीज रूप ही है, यह सशय।

(२) इसके अलावा चित्तहीन और चित्तयुक्त दो प्रकार की सृष्टि को क्रमश जड और चित् प्रकृति कहा गया है। ऐसी जड-चिदात्मक प्रकृति और प्रत्यक् पुरुषो का आश्रयदाता, उनका आत्मा अथवा शरीरी-रूप जो तत्व वही ब्रह्म। पुरुष भी ज्ञान शक्ति नही, बल्कि ज्ञाता और कर्ता। जिस तरह प्रकृति प्रत्यक् पुरुष और ब्रह्म इन तीन तत्वो को तीन स्वतत्र अनादि और अविनाशी पदार्थों के रूप मे मान्यता। पहले दो का और ब्रह्म का सबध शरीर-शरीरी जैसा।

४. शुद्धाद्वैत---ब्रह्म-विषयक विशिष्टाद्वैत मत की व्याख्या का पहला भाग मान्य, दूसरे भाग मे भेद। प्रकृति तथा प्रत्यक् चैतन्य अनादि भी नही और अविनाशी भी नही। स्वतत्र तत्व (पदार्थ) भी नही। ब्रह्म अपनी इच्छा से अपने विनोद के लिए प्रकृति तथा जीवरूप होता है और अपनी इच्छासे उसीको या सबको फिर अपने मे समेट लेता है। अपनी स्वतत्र अस्मिता का और उसके फल-स्वरूप कर्ता-भोक्तापन का विचार ही अज्ञान और दुःख का कारण है। वस्तुत ब्रह्म ही कर्ता और भोक्ता है।

५. द्वैत---विशिष्टाद्वैत का पहला भाग मान्य, जीवात्मा का स्वतत्र, अनादि, अविनाशी अस्तित्व भी मान्य, परन्तु जीव ब्रह्म नही, 'ब्रह्म के शरीर का घटक भी नही, किन्तु क्रमश विकास पाकर ब्रह्म के साधर्म्य को पानेवाला साधर्म्य ही ब्रह्म के साथ निकटता है। ब्रह्म जीव का ध्येय और उपास्य, आदर्श।

६. जैन---आत्मा की व्याख्या विशिष्टाद्वैतादि मतो के जीव जैसी। और बातो मे साख्य मत की तरह।

परिशिष्ट ६

आकाश और तेज

'आकाश' को शून्य (void, vacuum) माना गया है, किन्तु 'जीवन-शोधन' के लेखक स्व० श्री किशोरलाल मश्रुवाला उसे भावरूप महाभूत मानते है। वह लिखते हैं—

"(आकाश माने) पदार्थ की वायु से भी सूक्ष्म अवस्था, वायु-शोधक साधनो से भी जिसके अस्तित्व को न पकड सके ऐसी स्थिति—जिसकी व्याप्ति अत्यन्त अथवा लगभग परिणामहीन हो, ऐसी किसी पदार्थ की अवस्था। यावत् पदार्थ परिमिति, गति और व्यवस्थिति (अर्थात तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण) तीनो विशेषणो सहित होते हैं। तद्‌युक्त होते हैं। इसलिए उनके आकाश-दशा मे होते हुए भी यह बात समझ मे आने जैसी है कि उनमे व्यवस्थिति और गति के भेदो की बदौलत प्रकार-भेद हो सकते है। यदि गति और व्यवस्थिति के भेदो के कारण आकाश मे प्रकार-भेद बिल्कुल न हो और आकाश एक-रूप ही हो, सृष्टि की उत्पत्ति कदापि नही हो सकती। जैसे—तेज की जुदा-जुदा रग की किरणे, तेज का स्तभन (Polarization) बिजली, एक्स-रे, तथा दूसरे प्रकार की बिजली की किरणें आदि की परिमिति यदि शून्यवत हो, तो भी उनमे गति और व्यवस्थिति के भेद स्पष्टरूप से जाने जा सकते है। जिन ध्वनियो, किरणो, विद्युत् शक्तियो तथा गन्ध, स्वाद आदि के अस्तित्व को जानने की शक्ति आमतौर पर हमारी इन्द्रियो मे नही है, उसे योगाभ्यास से या सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रो से जानने की शक्ति प्राप्त होती है। फिर यह भी स्पष्ट है कि यन्त्रो की सहायता से इन शक्तियो का परस्पर रूपान्तर भी होता है। ऐटम विस्फोट के प्रयोगो ने यह अब सिद्ध-सा कर दिया है।

इन सब पर से यह नतीजा निकलता है कि आकाश शून्य नही, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमिति युक्त भावरूप महाभूत है। वह एक ही प्रकार का नही बल्कि अनेक प्रकार का है और आकाश दशा मे स्थित ऐसे अनेक पदार्थो मे होनेवाले आकर्षणादिक धर्मों के कारण उसी दशा मे अनेक प्रकारान्तर होते है। इतना ही नही, बल्कि धीरे-धीरे उस परिमिति मे परिवर्तन होकर वायु आदि दूसरे प्रकार के महाभूतो मे उसकी सक्रान्ति होती है।

आधुनिक विज्ञान शास्त्र मे मान्य ईथर तत्त्व (Ether) दर्शन शास्त्र मे स्वीकृत आकाश-तत्व और उसकी मेरे (जीवन शोधन के लेखक) द्वारा की गई व्याख्या—इनमे जो अन्तर है वह नीचे लिखी तालिका मे स्पष्ट हो जायगा—

ईथर	आकाश एकमत	प्राचीन व्याख्या दूसरा मत	आकाश—जी० शो० के लेखक की व्याख्या
१ भावरूप पदार्थ	शून्यता	भावरूप पदार्थ	भावरूप पदार्थ (अनेक)
२ केवल एक प्रकार का वाहन, (शक्तियो को एक स्थान मे दूसरे स्थान को ले जानेवाला तत्व)	विश्वमे तथा पदार्थो के अणुओ की बीच की खाली जगह-शब्द का आश्रय-स्थान।	शब्द का कार्य, वाहन की कल्पना पैदा ही नही हुई।	केवल वाहन नही, शक्तियो का वाहन होना या उनसे सचारित होना पदार्थमात्र का एक धर्म है।
३ प्रकार भेद-रहित	प्रकार भेद-रहित	?	भेद-युक्त
४ न किसीका कारण, न कार्य—इस रूप मे निर्विकार परन्तु गति धर्मी	निर्विकार और निश्चल	स्पर्श तन्मात्रा का उपादान-कारण।	वायु की भी आद्यावस्था, इस अर्थ मे वायु का कारण, गति और व्यवस्थिति युक्त परिणाम धर्मी।
५ परिमित	परिमितता की कल्पना ही असम्भाव्य।		परिमिति अत्यन्त अल्प, लगभग शून्यवत एक दृष्टि से, गति और व्यवस्थिति मे परिमिति समाविष्ट।

तेज

शास्त्रकारो ने तेज को वायु और जल के बीच की स्थिति कल्पित किया है और उसको वायु का विकार माना है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं—१. परिमिति की दृष्टि से यह कि तेज की परिमिति वायु से अधिक है (और इसलिए उसकी व्याप्ति कम है), और २ शक्ति-धारण की दृष्टि से यह कि स्पर्श या वायु

से तेज का उद्भव होता है। . प्राचीन विचारको ने तेज का कहीं तो उष्णता के अर्थ मे और कही प्रकाश (रूप या दृग्गोचरता) के अर्थ मे प्रयोग किया है।

ग्रीक लोगो की भी यह धारणा थी कि उष्णता एक स्वतत्र महाभूत है। यह गुरुत्व के विपरीत लघुत्व, धर्मयुक्त एक तत्व माना जाता था, अर्थात उष्णता जिस पदार्थ मे पैठती है वह गरम और वजन मे हलका हो जाता है (सत्वगुण लघु और प्रकाशयुक्त है, यह साख्य विचार भी इसी प्रकार का है), परन्तु आज हमको जितनी जानकारी प्राप्त है उससे उष्णता महाभूत का भेद मालूम नही होती। बल्कि पदार्थ की अभ्यन्तर गति मे परिवर्तन होने से पैदा होनेवाला धर्म है। यह गति-भेद परिमिति-भेद भी उत्पन्न कर सकता है और बहुत अश मे परिमिति-भेद एक भूत का दूसरे भूत मे परिवर्तन---उष्णता को घटा-बढाकर ही किया जा सकता है।

पदार्थ किसी भी भूत स्थिति मे हो उसकी आन्तरिक गति मे फर्क पडने से उसकी उष्णता मे फर्क पडता है और उष्णता के एक हद तक बढने के बाद वह पदार्थ स्वय प्रकाश बन जाता है। या दूसरी भूत-स्थिति मे चला जाता है। अथवा दोनो बाते होती है, या किसी नये ही पदार्थ मे परिणत हो जाता है। .. इस प्रकार उष्णता पदार्थों का आगन्तुक (सापेक्ष्य दृष्टि से) धर्म है। साराश यह कि तेज को हम किसी भी अर्थ मे लें---

१. वह परिमित का अर्थात महाभूतो का भेद नही मालूम होता, बल्कि गति का अर्थात तन्मात्रा का भेद प्रतीत होता है। किन्तु।

(२) अनुकूल परिस्थितियो मे, महाभूतो का रूपान्तर करने मे इसका महत्वपूर्ण भाग है।

(३) आकाश, वायु, जल और पृथ्वी से बिल्कुल स्वतत्र रूप मे उसका अस्तित्व जाना नही जाता।

(४) चार महाभूतो मे यह आगन्तुक धर्म जैसा देखा जाता है।

(५) उष्णता के रूप मे यह नेत्र का विषय नही, बल्कि स्पर्श का विषय है।

(६) प्रकाश के अर्थ मे यह आकाश के वाहन द्वारा प्रतीत होती है, और

(७) किसी भी अर्थ मे तेज को वायु का विकार अथवा उससे नीचे की पक्ति का महाभूत मानना युक्तिसगत नही लगता।

परिशिष्ट ७

मन और चित्त

मन और चित्त के सबध मे नीचे लिखे वचन यहा मनन करने योग्य हैं —

"जिस मन-रूप लिंग-देह के द्वारा मनुष्य इस लोक मे कर्म करता है उसीके द्वारा वह परलोक मे स्वय ही अव्यवहित (अपरोक्ष) रूप से उनका फल भोगता है।"

"जिस प्रकार सोता हुआ पुरुष स्वप्नावस्था मे इस जीवित शरीर का अभिमान त्यागकर इसीके समान दूसरे (सूक्ष्म) शरीर से अथवा पशु आदि अन्य शरीर से मन मे सस्कार रूप से स्थित कर्मों को भोगता है, उसी प्रकार वह परलोक मे भी अपने कर्मों का फल भोगता है।"

"उस मन के द्वारा यह जीव जिन स्त्री-पुत्रादि को 'ये मेरे है' और देहादि को 'यह मैं हू' ऐसा कहकर मानता है, उनके किये हुए पाप-पुण्य-रूप कर्मों को भी यह ग्रहण कर लेता है और उनके कारण फिर जन्म लेता है।"

"जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो की चेष्टा से (उनके प्रेरक) चित्त का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियो से पूर्व-जन्म के कर्मों का अनुमान होता है।"

"कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तु का इस शरीर से कभी अनुभव नही किया—जिसे कभी नही देखा या सुना उसका स्वप्न मे, वह जैसी होती है वैसा ही अनुभव हो जाता है। इससे तुम यह निश्चय मानो कि लिंग-देह के अभिमानी जीव को उसका अनुभव पूर्व शरीर मे हुआ है, क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव पहले कभी नही हुआ हो उसकी वासना भी मन मे नही हो सकती।"

"मनुष्य के पूर्व रूपो को तथा आगे होनेवाले और न होनेवाले रूपो को उसका मन ही बतला देता है।"

"कभी-कभी स्वप्न मे ऐसी बातें भी देखी जाती हैं जो पहले कभी देखी-सुनी नही होती। देश, काल व क्रिया के आश्रय मे रहनेवाली उन बातो का भी, निद्रा-दोष से, मन की पूर्व वासनाओ के कारण ही अनुभव होता है।"

"इन्द्रियो से अनुभव होनेवाले सभी पदार्थ (पूर्वकृत कर्मों का फल देने के लिए) क्रमश अन्त करण के सामने आते-जाते रहते हैं, क्योकि सभी मनुष्य ऐसे मन से युक्त होते हैं जो अनेक जन्मो के नाना सस्कारो से अनुभवित हैं।"

"जिस प्रकार कभी नही दीखनेवाला भी राहु (ग्रहण के समय) चन्द्रमा मे दिखाई देता है, उसी प्रकार भगवान की सन्निधि मे रहनेवाले भक्तजनो के एक मात्र सत्वमय अन्त करण मे भी इस जगत का तादात्म्य से भान होता है।"

"जबतक अनादिकाल से बना हुआ यह बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषय-रूप गुणो का सघात लिंग-देह वर्तमान है, तबतक मनुष्य मे 'मैं और मेरा' इस भाव का अभाव नही होता।"

"सुषुप्ति, मूर्च्छा, शोक, भयकर कष्ट, मृत्यु और ज्वर आदि के समय भी अहकार की केवल अभिव्यक्ति नही होती, वह सूक्ष्मरूप से वर्तमान तो रहता ही है।"

"जिस प्रकार अमावस्या के दिन चन्द्रमा रहते हुए भी दिखाई नही देता उसी प्रकार युवावस्था मे स्पष्ट प्रतीत होनेवाला एकादश इन्द्रिय-विशिष्ट लिंग-देह गर्भावस्था और बाल्यकाल मे (वर्तमान रहते हुए भी) इन्द्रियो के पूर्ण तथा समर्थ न होने के कारण प्रतीत नही होता।"

"जिस प्रकार स्वप्न मे किसी वस्तु का अस्तित्व न होने पर भी जागे बिना अनर्थ की निवृत्ति नही होती, उसी प्रकार विषयो का चिन्तन करनेवाले पुरुष का जन्म-मरण-रूप ससार-चक्र (वस्तुत न होने पर भी) आत्म-ज्ञान के बिना निवृत्त नही होता।"

"इस प्रकार सोलह तत्वो के रूप मे विस्तृत हुआ, यह पच भौतिक त्रिगुणमय लिंग-शरीर ही चेतना-शक्ति से युक्त होकर 'जीव' कहा जाता है। इसीके साथ पुरुष भिन्न-भिन्न शरीरो को धारण करता और त्याग देता है तथा इसीसे वह हर्ष, शोक, भय, दुख और सुख आदि का अनुभव करता है।"

"जिस प्रकार जोक जबतक दूसरे तृण पर पैर नही जमा लेती तबतक अपने आश्रय-भूत तृण को नही छोडती तथा दूसरे तृण पर पैर जमा लेने पर उसे छोडकर चली जाती है, उसी प्रकार मरण-काल उपस्थित होने पर भी जबतक मनुष्य को प्रारब्ध कर्म का क्षय होकर दूसरा शरीर नही प्राप्त होता तबतक वह अपने पूर्व देह का अभिमान नही छोडता। वास्तव मे मन ही मनुष्य को जन्मादि प्राप्ति करानेवाला है।"

"जब जीव इन्द्रियो से भोगे जानेवाले भोगो का चिन्तन करते हुए बार-बार कर्म करता है तब उन कर्मों के होते रहने से अनात्म वस्तु मे आत्माभिमान करनेवाले उस पुरुष को अविद्या-रूप कर्मो मे भी बधना पडता है।

अतः उस कर्म-बंधन से छुटकारा पाने के लिए, संपूर्ण विश्व को भगवद्रूप समझते हुए तन-मन से हरि का भजन करो, जिससे जगत की उत्पत्ति, स्थिति, व लय होंगे।" (भागवत, स्कंध० ४ अध्याय २९ श्लोक ६० से ७९)।

मन की महत्ता

"जबतक मनुष्य का चित्त सत्वगुण, रजोगुण, अथवा तमोगुण से व्याप्त रहता है, तबतक वह स्वेच्छापूर्वक उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियो से शुभाशुभ कर्म कराता रहता है।"

"यह मन वासना विशिष्ट, विषयो मे आसक्त, गुणो से प्रेरित, विकारी और भूत-इन्द्रिय आदि सोलह कलाओ से युक्त है। यही भिन्न-भिन्न नामो से देवता व मनुष्य आदि रूप धारण कर शरीर-रूप उपाधियो के भेद से जीव की उत्तमता और अधमता का विस्तार करता है।

"तदनन्तर कपट-पूर्वक ससार-चक्र मे डालनेवाला यह मायामय अन्तरात्मा अपने देह के अभिमानी जीव से युक्त हो काल-क्रम-प्राप्त सुख-दु ख और इनसे पृथक तीव्र मोह-रूप फल प्रकट करता है।

"जबतक यह मन रहता है तभी तक जीव को स्पष्ट रूप से प्रतीत होनेवाला यह स्थूल (जाग्रत अवस्था का) एव सूक्ष्म (स्वप्न अवस्था का) व्यवहार करता है। इसलिए इस मन को ही त्रिगुणमय अधम ससार का और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्ष-पद का कारण बताया है।

"विषयासक्त मन जीव को ससार-सकट मे डालनेवाला है और विषय-हीन होने पर वही उसे शान्ति-मय मोक्ष पद प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार घृत से भीगी हुई बत्ती को भक्षण करनेवाला दीपक धुएवाली शिखा को धारण करता है और घृत समाप्त होते ही वह अपने कारण अग्नि-तत्व मे लीन हो जाता है उसी प्रकार गुण व कर्मो मे आसक्त मन नाना प्रकार की वृत्तियो से युक्त होता है और निर्गुण होते ही अपने कारण महत्तत्व मे लीन हो जाता है।

"पाच कर्मेन्द्रिया व पाच ज्ञानेन्द्रिया और एक अहकार ये मन की ११ वृत्तियाँ है। ये द्रव्य, स्वभाव, आशय, कर्म और काल के द्वारा परिणाम को प्राप्त होकर सैकडो, हजारो, और करोडो प्रकार की हो जाती है। इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्मा की ही सत्ता से है। स्वत या परस्पर मिल कर नही है।

"ससार-बन्धन हेतु कर्मो को करनेवाले जीव के माया-रचित मन की प्रवाह-रूप से सदा रहनेवाली वृत्तिया, जो कि जाग्रत और स्वप्नावस्था मे प्रकट हो जाती है और सुषुप्ति मे तिरोहित हो जाती हैं, उनको यह शुद्ध और साक्षी आत्मा सदा देखता रहता है।

"यह क्षेत्रज्ञ आत्मा ही सबके अत करणो मे रहनेवाला, जगत का आदिकारण, स्वय प्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादि का भी नियन्ता, और अपने अधीन रहने वाली माया से सब जीवो के भीतर स्थित रहनेवाला भगवान, वासुदेव श्रीनारायण है।

"जिस प्रकार वायु सपूर्ण स्थावर जगम प्राणियो मे प्राण रूप से प्रविष्ट होकर उन्हे प्रेरित करता है उसी प्रकार सबका अतर्यामी और आत्मा, प्रकृति आदि से अतीत भगवान वासुदेव भी इस सम्पूर्ण प्रपच मे ओत-प्रोत हैं।

"जबतक मनुष्य ज्ञानोदय के द्वारा इस माया का तिरस्कार कर, सबका सग त्यागकर तथा काम-क्रोधादि, छ शत्रुओ को जीतकर, आत्मतत्व को नही जानता और जवतक वह आत्मा की उपाधि रूप मन को ससार-दु.ख का क्षेत्र नही जानता तबतक वह ससार मे यो ही भटकता रहता है। क्योकि यह चित्त उमे शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदि से बाँधता तथा ममता बढाता रहता है।

"अत जो उपेक्षा करने से अति बलवान हो गया है, अपने आत्मा को आच्छादित करनेवाला उस मन रूप प्रबल कपटी शत्रु को तुम श्रीगुरु और हरि के चरणो की सेवा-रूप शस्त्र से सावधानतापूर्वक मार डालो।"

(भागवत स्क० ५, अ० ११, श्लो० ४ से १७)

"मन सफेद कपडा है इसे जिस रग मे डुबोओगे वही चढ जायगा।"

'हाथी स्वतत्र होने पर चारो ओर के वृक्षो को तोडता फिरता है, किन्तु उसके सिर मे अकुश मारने से वह स्थिर हो जाता है इसी प्रकार मन को भी खुला छोड देने से वह नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प करने लगता है, विचार-रूपी अकुश के मारने से वह स्थिर हो जाता है।"

"जहाज को समुद्र की तरगो के अनुसार ही चलना पडता है, परन्तु कपास से दिशा भूल नही होती। जिसका मन रूपी कपास भगवान के चरणो की ओर रहता है, उसके डूब जाने या राह भूल जाने का डर नही रहता।"

"जिस सरसो से भूत भगाना चाहते हो उसीमे यदि भूत लगा हुआ रहे तो तुम

[illegible] भगा सकते हो ? उसी प्रकार जिस मन को साधना करनी है वही यदि विषयासक्त हो जाय तो फिर साधना असभव ही समझो।"

"जल मे यदि नाव रहे तो हानि नही, पर नाव मे जल नही रहना चाहिए। साधक ससार मे रहे तो कोई हानि नही, परन्तु साधक के भीतर ससार नही होना चाहिए।"

"मन और मुख को एक करना ही असली साधना है। नही तो जो मुख से तो कहते हैं, 'तुम्ही मेरी सर्वस्व हो', और मन मे विषय को ही सर्वस्व माने बैठे है, ऐसे मनुष्यो की सारी साधना विफल समझो।"

"जैसे निशाना मारने का अभ्यास करते समय पहले मोटी वस्तु पर निशाना लगाना होता है, पीछे सूक्ष्म पर भी मारना सुगम हो जाता है, वैसे ही साकार मूर्ति मे मन स्थिर हो जाने पर निराकार मे भी मन का स्थिर करना सुगम हो जाता है।"

"कर से कर्म करे विधि नाना। मन राखै जह कृपा-निधाना॥"

"जो सोचता है मैं जीव हू वह जीव है, जो सोचता है मैं शिव हू वह शिव है।"

"चालीस सेर का मन होता है। चालीस और बिखरी हुई चिन्ता राशि को एकत्र करने से एक मन होता है।"

"मार्ग मे घोडे की आखो पर जब तक दोनो ओर से दो टोप नही दिये जाते तब तक घोडा ठीक-ठीक नही चल सकता। उसी प्रकार पहले यदि मन की वृत्तिया नही रोकी जायगी तो मन-रूपी अश्व ईश्वर की ओर अग्रसर नही हो सकता।"

—परमहसदेव